भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन

डॉ० तारा डागा



परिचय

'भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन' नामक इस कृति की लेखिका डॉ० तारा डागा गत कई वर्षों से प्राकृत, अपभ्रंश जैसी प्राच्य भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन से जुड़ी हुई हैं। भगवतीसूत्र जैसे गहन आगम ग्रन्थ पर आपने अपना शोध प्रबन्ध लिखकर 2003 में जैन विश्व भारती, लाडनूँ से पीएच०डी० की उपाधि प्राप्त की। प्राकृत भाषा पर आयोजित अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भी उनकी सहभागिता रही है। प्राकृत भाषा के अध्ययन को सरलीकृत बनाने में उनकी प्राकृत साहित्य की रूपरेखा, प्राकृत सुबोध पाठमाला, प्राकृत लर्निंग मैन्यूअल (अंग्रेजी अनुवाद) आदि कृतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। रचनात्मक लेखन के साथ-साथ प्राकृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में भी उनका कर्मठ योगदान रहा है।

प्राकृत भारती पुष्प - 314

भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन

डॉ० तारा डागा

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

प्रकाशकः

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक,
प्राकृत भारती अकादमी
13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर,
जयपुर-302017
दूरभाष : 0141- 2524827/520230

प्रथम संस्करण 2012

मूल्य : 450/- रुपये

© डॉ० तारा डागा

ISBN NO. 978-93-81571-15-6

लेजर टाइप सेटिंग
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

मुद्रकः
राज प्रिन्टर्स, जयपुर
फोन नं. 99820-66620

भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन

डॉ० तारा डागा/2012

This book is printed on Eco-friendly paper.

प्रकाशकीय

जैन आगम एवं प्राकृत भाषा से सम्बन्धित ग्रन्थों पर आधुनिक दृष्टि से हुए शोध कार्यों का प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी का मुख्य लक्ष्य रहा है। इसी कड़ी में **डॉ० तारा डागा** द्वारा लिखित **भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन** नामक कृति को प्राकृत भारती अकादमी की पुष्प संख्या 314 के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं।

भगवतीसूत्र जैन आगम साहित्य का पाँचवाँ अङ्ग ग्रन्थ है। इसका मूल नाम **व्याख्याप्रज्ञप्ति** है। भगवान् महावीर तथा गौतम आदि शिष्यों के प्रश्नोत्तरों के रूप में संकलित इस ग्रन्थ का कलेवर अत्यन्त विशाल है। विश्व विद्या की ऐसी कोई विधा नहीं जिसका इसमें उल्लेख न हो। जैनाचार्यों ने इसे शास्त्रराज एवं तत्त्वविद्या की खान कहा है।

विषय-वस्तु की विशालता एवं अक्रमबद्धता के कारण इस आगम पर अधिक शोध कार्य नहीं हुआ। ऐसे में डॉ० तारा डागा द्वारा भगवतीसूत्र के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाली यह कृति आगमों पर शोध कार्य करने वाले तथा उनका पठन-पाठन करने वाले स्वाध्यायी बन्धुओं तथा शोधार्थियों के लिए सामयिक प्रकाशन होगी।

प्रस्तुत कृति की लेखिका पिछले कई वर्षों से प्राकृत भारती अकादमी के अन्तर्गत संचालित जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग में अध्ययन-अध्यापन के कार्यों से जुड़ी हुई हैं। वे कई राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में अपने शोध-पत्र भी प्रस्तुत कर चुकी हैं। प्राकृत एवं जैन विद्या से सम्बन्धित उनकी कुछ पुस्तकों का प्रकाशन पहले भी किया जा चुका है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को प्रकाशन योग्य बनाने हेतु संस्थान की ओर से उनका हार्दिक आभार। उदारमना धर्मबन्धु **श्री तेजराजजी बांठिया** ने पुस्तक-प्रकाशन के लिये अर्थ सहयोग प्रदान किया, उनके प्रति प्राकृत भारती अकादमी हृदय से आभारी है।

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

अनुमोदना एवं अनुशंसा

भगवतीसूत्र जैन आगम साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, पूर्व में इसके अनुशीलन का कार्य डॉ० जे.सी. सिकदर ने अंग्रेजी में किया था। उसके पश्चात् इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनुशीलन का शोधकार्य श्रीमती डॉ० तारा डागा ने किया। मुझे उनके इस शोध ग्रन्थ के परीक्षक होने का अवसर भी मिला था, और मैंने पाया कि यह अनुशीलन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु दुर्भाग्य से उनका यह शोधप्रबन्ध पर्याप्त समय से अप्रकाशित ही था, जबकि आगमप्रिय हिन्दी भाषी जैन जनता को उनके इस ग्रन्थ की अति आवश्यकता थी। हमारे समाज का यह दुर्भाग्य है कि साहित्यिक एवं अनुशीलन की दृष्टि से अनेक अस्तरीय ग्रन्थ भी प्रकाशित हो जाते हैं और स्तरीय ग्रन्थ प्रकाशन की राह देखते रहते हैं। इस अवसर पर निश्चय ही प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, धन्यवाद की पात्र है, जिसने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी बनने का दायित्व लिया है।

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हो रही है कि डॉ० तारा डागा का '**भगवतीसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन**' नामक यह शोधप्रबन्ध प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के सहयोग से प्रकाशित हो रहा है। भगवतीसूत्र निश्चय ही जैन आगम साहित्य में विविध विषयों की आकर के समान है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर डॉ० तारा डागा ने जो अनुशीलनात्मक कार्य किया है वह भी अपने विषय की दृष्टि से न केवल महत्त्वपूर्ण कार्य है, अपितु एक स्तरीय कार्य भी है। मैं डॉ० तारा डागा के इस कार्य का प्रशंसक हूँ और ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर अपनी ओर से उन्हें बधाई प्रस्तुत करता हूँ। मेरी दृष्टि में इस महत्त्वपूर्ण कार्य के प्रकाशन से न केवल विद्वत् जगत, अपितु जनसामान्य भी लाभान्वित होगा, क्योकि उन्हें हिन्दी भाषा में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की विषय सामग्री सहज ही उपलब्ध हो जावेगी।

अन्त में पुनः मैं अपनी एवं प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर की ओर से डॉ० तारा डागा को एवं प्रकाशन संस्था प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर को धन्यवाद देता हूँ

कि उन्होंने अपने सद्प्रयासों के द्वारा आगम साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की विषय-वस्तु को जन-जन के अध्ययन योग्य बनाया है। साथ ही मैं यह अपेक्षा भी रखता हूँ कि न केवल जैन समाज में अपितु विद्वत् जगत में इस ग्रन्थ के प्रकाशन का स्वागत होगा। लोग इस ग्रन्थ का अध्ययन कर अपनी ज्ञान चेतना को विकसित करेंगे और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पायेंगे।

डॉ० सागरमल जैन
संस्थापक निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्राक्कथन

भगवतीसूत्र जैनअर्धमागधी आगम परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका मूल नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम वाला यह पंचम अंग ग्रन्थ जनसाधारण में अपनी पूज्यता व महत्ता के कारण ही **भगवती** के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है जिसमें गौतम गणधर तथा अन्य जिज्ञासु शिष्यों द्वारा पूछे गये सहस्रों प्रश्नों के उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने स्वयं प्रदान कर उनकी जिज्ञासाओं को शांत करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः यह ज्ञान का ऐसा विश्व कोश है, जो अपने में समस्त विषयों को समाहित किये हुए है। आचार्यों ने इसे शास्त्रराज एवं ज्ञान का महासागर कहकर संबोधित किया है।

विभिन्न विषयों से संबंधित ज्ञान-विज्ञान की धारा को प्रवाहित करने वाला यह ग्रंथ शोध की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ की विशालता एवं विषय-वस्तु की अक्रमबद्धता के कारण इस ग्रन्थ पर ऐसा कोई शोध कार्य नहीं हुआ जो इसके दार्शनिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता हो। अंग्रेजी में डॉ० जे. सी. सिकदर ने इस पर अपना विस्तृत शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है, किन्तु वह इसके सांस्कृतिक पक्ष का ही अधिक प्रतिनिधित्व करता है। डॉ० साध्वी चैतन्य प्रज्ञा जी ने इसके वैज्ञानिक पक्ष पर शोध अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत कृति **भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन** इस विशालकाय ग्रन्थ के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने का एक छोटा सा प्रयास है। इस कृति की विषयवस्तु 17 अध्यायों में विभक्त है।

प्रस्तुत कृति के **प्रथम अध्याय** में इस अवसर्पिणी काल में हुए ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक के 24 तीर्थंकरों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। सभी तीर्थंकरों द्वारा मानव कल्याण के लिए उपदेश दिये जाते रहे हैं। किन्तु, जैन परम्परा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के उपदेशों को ही

आगम के रूप में स्वीकार करती है। अर्थात् वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध है वह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है, जिसे गणधरों ने सूत्र रूप में ग्रन्थबद्ध किया है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् जैन वाङ्मय की यह ज्ञानराशि मौखिक रूप में गुरु-परम्परा से शिष्यों को प्राप्त होती रही, किन्तु काल व परिस्थितियों के कारण आगमों का क्रमशः विच्छेद होना प्रारंभ हो गया। उन्हें सुरक्षित रखने के लिए श्रमणों द्वारा विभिन्न सम्मेलन बुलाये गये तथा उन्हें लिखित रूप प्रदान किया गया। ये सम्मेलन आगम वाचनाओं के नाम से जाने जाते हैं। पंचम वाचना वीर-निर्वाण के लगभग 980 वर्ष बाद वल्लभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में हुई। इसमें सभी आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया। यही ज्ञान राशि विभिन्न आगम ग्रंथों के रूप में आज हमें उपलब्ध है। इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि जैन आचार्यों के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप ही तीर्थंकरों की वाणी जैन आगम साहित्य के रूप में सुरक्षित है, और यही जैन धर्म व संस्कृति को जानने का मूल आधार है। प्रस्तुत कृति के इसी अध्याय में भिन्न-भिन्न आधारों पर आगमों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है। आगमों का संक्षिप्त परिचय यहाँ अपेक्षित था। किन्तु, अन्य ग्रन्थों में यह सामग्री विद्यमान होने के कारण उसे यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भगवतीसूत्र तथा अन्य आगमों में प्रतिपादित विषयवस्तु की साम्यता को स्पष्ट करते हुए अन्य आगमों के परिप्रेक्ष्य में भगवतीसूत्र के स्थान को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। आचारांग, सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन, प्रज्ञापनासूत्र आदि आगमों में वर्णित तत्त्व विवेचन, आचार विवेचन, प्रमाण, नय, कर्म, क्रिया आदि विषयों का विवेचन भगवतीसूत्र में किसी ना किसी रूप में अवश्य हुआ है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का लेखा-जोखा भी यह ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। अतः इस अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि भगवतीसूत्र में वर्णित विषयों का अन्य आगमों से गहरा सम्बन्ध है। इसे पूर्ण समझने के लिए अन्य आगमों का अध्ययन उतना ही आवश्यक हो जाता है जितना कि अन्य आगम ग्रन्थों को जानने के लिए भगवतीसूत्र का अध्ययन जरूरी है।

भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन के **तृतीय अध्याय** में भगवतीसूत्र का परिचय विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में भगवतीवृत्ति के आधार पर भगवतीसूत्र के मूल नाम **व्याख्याप्रज्ञप्ति** के भिन्न-भिन्न नामकरणों

की विस्तृत व्याख्या की गई है। गौतम गणधर आदि शिष्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों की भगवान् महावीर द्वारा श्रेष्ठतम विधि से प्रज्ञापना या विशद विवेचन जिस ग्रन्थ में किया गया वह व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाया। व्याख्याप्रज्ञप्ति एक विशिष्ट आगम था, लोगों में इसके प्रति विशेष श्रद्धा व भक्ति थी, जिससे इस ग्रंथ के नाम के आगे **भगवती** विशेषण जुड़ गया जो बाद में इसका स्वतंत्र नाम बन गया। इस अध्याय में भगवतीसूत्र के आकार, रचनाकाल, शैली आदि पर भी चर्चा की गई है। ग्रन्थ के प्राचीन आकार के अनुसार इसमें 36000 प्रश्नों का व्याकरण (विवेचन) था। किन्तु, वर्तमान में इसमें मुख्य रूप से 41 शतक प्राप्त होते हैं। अवान्तर शतक मिलाने से शतकों की संख्या 138 होती है तथा 1925 उद्देशक हैं। भगवतीसूत्र के सूत्ररूप में रचनाकार गणधर सुधर्मा ही हैं। किन्तु, भगवतीसूत्र ग्रंथ का वर्तमान स्वरूप अनेक शताब्दियों की रचनाओं का परिणाम है। अत: इस ग्रन्थ के रचनाकाल की अवधि ईसा पू. 500 से ईसा की छठी शती अर्थात् लगभग 1000 वर्ष की मानी गई है। रचनाशैली की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है। इसकी रचनाशैली की एक अन्य विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ में किसी भी विषय का विवेचन अन्य ग्रन्थों की तरह क्रमबद्ध या व्यवस्थित नहीं है। प्रश्नकर्त्ता के मन में जब भी कोई प्रश्न उठता वे भगवान् महावीर के पास उसका समाधान प्राप्त करने पहुँच जाते और गणधर सुधर्मा द्वारा उन प्रश्नोत्तरों को उसी क्रम में ग्रथित कर लिया गया। प्रस्तुत कृति के इस अध्याय में भगवतीसूत्र के व्याख्या-साहित्य का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। भगवतीसूत्र मूल में ही इतना विस्तृत ग्रन्थ था कि इस पर व्याख्या-साहित्य कम ही लिखा गया। इस पर एक अति लघु चूर्णि तथा अभयदेवसूरिकृत संक्षिप्त वृत्ति प्राप्त होती है।

चतुर्थ अध्याय में भगवतीसूत्र में समाविष्ट विशालकाय विषयवस्तु का संक्षिप्तिकरण करने का प्रयास किया गया है। विषयवस्तु की दृष्टि से भगवतीसूत्र में प्राय: सभी विषयों से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त होती है। नन्दीसूत्र में व्याख्याप्रज्ञप्ति का विषय-विवेचन करते हुए कहा गया है कि इसमें जीवों की, अजीवों की, स्वसमय, परसमय, स्वपरउभयसमय सिद्धान्तों की व्याख्या तथा लोकालोक का स्वरूप वर्णित है। वस्तुत: ये सभी विषय भगवतीसूत्र के विभिन्न शतकों में अक्रमबद्ध रूप से विवेचित हैं। प्रस्तुत कृति के इस अध्याय में भगवतीसूत्र के विभिन्न शतकों में प्रतिपादित अक्रमबद्ध विषयवस्तु को क्रमवार

कर संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। द्रव्य विवेचन में छः द्रव्यों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। आचार विवेचन में श्रमणों के आचार के साथ-साथ श्रावकाचार का भी विवेचन किया गया है। कर्मबंध व क्रिया विवेचन में कर्मबंध के कारण, प्रक्रिया, कांक्षामोहनीयकर्म, लेश्यादि तथा क्रिया के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। लोक-परलोक विवेचन में लोक के स्वरूप का जैन दृष्टिकोण से विवेचन है। कथानक प्रकरण में ग्रन्थ में वर्णित विभिन्न कथानकों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इसी अध्याय में शतकों के अनुसार भी विषयवस्तु का प्रस्तुतिकरण किया गया है। विस्तार भय से इस अध्याय में सभी शतकों की विषयवस्तु नहीं देते हुए प्रमुख-प्रमुख शतकों की विषयवस्तु दी गई है जिसके अध्ययन से शतकों के अनुसार ग्रन्थ की विषयवस्तु की शैली से भी अवगत हुआ जा सकेगा।

भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन के **पाँचवें अध्याय** में भगवतीसूत्र के महत्त्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि धर्म-दर्शन प्रधान यह ग्रन्थ अनेक सांस्कृतिक मूल्यों व परम्पराओं को अपने में समाहित किये हुए है। इनके अध्ययन से महावीर-कालीन समाज व संस्कृति का सम्पूर्ण चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। इसमें प्रतिपादित मनोविज्ञान, विज्ञान, कला आदि से सम्बन्धित सामग्री इसे आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञान के समकक्ष ला खड़ा करती है।

छठे अध्याय में लोक-स्वरूप पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में विभिन्न जैन ग्रन्थों में वर्णित लोक के स्वरूप की विवेचना करते हुए भगवतीसूत्र में प्रतिपादित लोक-स्वरूप का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लोक का स्वरूप बताते हुए उसे पांच अस्तिकायों-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय का समूह माना है। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से लोक के स्वरूप का विवेचन करते हुए द्रव्य व क्षेत्र की दृष्टि से लोक को सान्त तथा भाव व काल की दृष्टि से अनन्त बताया है। क्षेत्रलोक के तीन भेद- ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व मध्यलोक किये हैं। तीनों के संस्थान का निरूपण करते हुए अधोलोक को तिपाई के आकार का, मध्यलोक को झालर के आकार का, तथा ऊर्ध्वलोक को ऊर्ध्वमृदंग के आकार का बताया है। सम्पूर्ण लोक का आकार 'त्रिशरावसंपुटाकार' बताया है। लोक-स्वरूप की विवेचना में अष्टविध लोक

स्थिति, लोक का परिमाण, लोक की विशालता, लोक की लम्बाई का मध्य भाग, लोक-अलोक का क्रम, अवकाशान्तर, लोकान्त व अलोकान्त का स्पर्श आदि का भी विवेचन किया गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन से यह ज्ञात होता है कि लोक के स्वरूप की विवेचना में लोक को पाँच अस्तिकायों का समूह ही माना है। अस्तिकाय रूप न होने के कारण काल द्रव्य को लोक की संरचना में स्थान नहीं दिया गया है। दूसरी बात लोक व अलोक के क्रम में सातवीं पृथ्वी को ही लोक का अन्त न मानते हुए उसके नीचे घनोदधि, घनवात, तनुवात व अवकाशान्तर माने हैं।

भगवतीसूत्र में जहाँ एक ओर लोक का स्वरूप बताते हुए उसे पंचास्तिकाय रूप माना है वहीं दूसरी ओर सर्व द्रव्यों की संख्या छः मानी है- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं अद्धासमय (काल)। **सातवें अध्याय** में विभिन्न जैन ग्रन्थों के आधार पर द्रव्य की परिभाषा व उसके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप पर प्रकाश डाला है। द्रव्य व पर्याय के सम्बन्ध को विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि द्रव्य स्थिर है उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं परन्तु बदलती रहने वाली पर्यायों के साथ द्रव्य नहीं बदलता है, वह सदा शाश्वत रहता है। यद्यपि जैन ग्रन्थों में द्रव्यों की संख्या छः मानी गई है तथापि भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उन छः द्रव्यों का विभाजन किया गया है। प्रवचनसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में उल्लेखित विभाजन का उल्लेख करते हुए भगवतीसूत्र में प्रतिपादित द्रव्य के विभाजन को इस अध्याय में विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है। भगवतीसूत्र में द्रव्य के दो प्रमुख भेद जीव तथा अजीव किये हैं। अजीव द्रव्य के रूपी-अजीवद्रव्य तथा अरूपी-अजीवद्रव्य ये दो भेद किये हैं। पुनः अरूपी-अजीवद्रव्य के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से 5, 7, 10 भेद किये गये हैं। किन्तु, इनमें मुख्य भेद धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय व अद्धासमय ही हैं, शेष भेद देश व प्रदेश की दृष्टि से किये गये हैं। अन्य जैन ग्रन्थों में भी मुख्य रूप से द्रव्य छः ही माने गये हैं अतः आगे के अध्यायों में इसी क्रम में छः द्रव्यों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

आठवें अध्याय में जीव-द्रव्य का प्रतिपादन है। इस अध्याय में अन्य जैनागमों में वर्णित जीव का स्वरूप बताते हुए भगवतीसूत्र के अनुसार जीव

के स्वरूप को प्रतिपादित किया गया है। उसे वर्ण, गंध, रस व स्पर्श से रहित होने के कारण अरूपी तथा लोक में अवस्थित होने से लोक प्रमाण कहा है। जीव द्रव्य का प्रमुख लक्षण ग्रन्थ में चैतन्य माना है। चैतन्य व जीव में तादात्म्य स्थापित करते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है कि **जीवे ताव नियमा जीव, जीवे वि नियमा जीवे** - (6.10.2) अर्थात् जो जीव है वह निश्चित रूप से चैतन्य स्वरूप है तथा जो चैतन्य है वह भी निश्चित रूप से जीव है। स्थानांग, प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थों में भी चेतना को जीव का प्रमुख लक्षण माना है। जीव में कर्तृत्व व भोक्तृत्व भाव को विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव अपने किये हुए कर्मों का कर्त्ता है तथा उसका फल भोगे बिना इस संसार से मुक्त नहीं हो सकता है। जीव के परिमाण को लेकर प्रायः अन्य सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन अमूर्त होने के कारण आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, वहीं कुछ वेदान्तवादी उसे अणु रूप मानते हैं। अन्य जैन ग्रन्थों की तरह भगवतीसूत्र में आत्मा को न सर्वव्यापक माना है न अणु परिमाण अपितु उसे स्वदेह परिमाण कहा है। शरीर के आकार के अनुसार ही जीव का संकोचन व विस्तार होता रहता है तथा जीव के प्रदेश शरीर के हर अंश में व्याप्त रहते हैं। जीव के स्वरूप को द्रव्य व पर्याय दोनों ही दृष्टियों से प्रतिपादित किया गया है। द्रव्य की दृष्टि से जीव शाश्वत व पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है। द्रव्य व क्षेत्र की दृष्टि से जीव अन्त सहित तथा काल व भाव की दृष्टि से अन्त रहित है। जीव अभेद्य, अछेद्य व अदाह्य है। जीव के प्रदेशों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि लोकाकाश की तरह एक जीव के भी असंख्यात प्रदेश होते हैं तथा सम्पूर्ण जीवास्तिकाय के अनन्त प्रदेश हैं। जीव द्रव्य को अनन्त मानते हुए कहा गया है कि नैरयिक, वायुकायिक आदि असंख्यात हैं, वनस्पतिकायिक सिद्ध आदि अनन्त हैं अतः जीव द्रव्य अनन्त हैं।

चैतन्य सभी प्राणियों में सर्वदा एक सा नहीं रहता है उसका रूपान्तरण होता रहता है। इस दृष्टि से भगवतीसूत्र में आत्मा के आठ भेद किये गये हैं- द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा, वीर्य-आत्मा। जीव व पुद्गल के सम्बन्ध को प्रतिपादित करते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है कि जीव व पुद्गल परस्पर स्पृष्ट हैं, परस्पर गाढ़रूप से मिले हुए हैं, परस्पर स्निग्धता में प्रतिबद्ध हैं, परस्पर गाढ़

होकर रहे हैं। जीव व पुद्गल के इस सम्बन्ध को इस अध्याय में जीव व शरीर, जीव व मन तथा जीव व इन्द्रिय आदि पहलुओं के रूप में विवेचित करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि भगवतीसूत्र जीव व पुद्गल के सम्बन्धों को लेकर न सर्वथा भेदवाद का समर्थन करता है, न सर्वथा अभेदवाद का, अपितु भेदाभेदवाद को स्वीकार करता है।

इस अध्याय में जीवों के भेद-प्रभेद पर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला गया है। भगवतीसूत्र में चैतन्य की दृष्टि से जहाँ सभी जीवों में एकत्व की प्ररूपणा करते हुए जीव का एक भेद किया है वहीं अन्य दृष्टियों से जीव के दो, छः, चौदह आदि भेद भी किये हैं। पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों के स्वरूप पर इस अध्याय में विशेष प्रकाश डाला गया है। पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों में श्वास, आहार, कर्म, क्रिया, वेदना आदि की प्ररूपणा वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आचारांग के प्रथम अध्ययन में भी स्थावर जीवों पर सूक्ष्म चिन्तन हुआ है। इस दृष्टि से भगवतीसूत्र आचारांग का पूरक ग्रन्थ है। त्रस जीवों में द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों तथा उनके भेदों का विवेचन किया गया है।

अजीव-द्रव्य के दो भेद किये गये हैं- रूपी-अजीव-द्रव्य अर्थात् पुद्गल एवं अरूपी-अजीव-द्रव्य अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं अद्धासमय। **नवें अध्याय** में रूपी-अजीव-द्रव्य के विवेचन में पुद्गल द्रव्य एवं परमाणु के स्वरूप पर विस्तार से चर्चा प्रस्तुत की गई है। पुद्गल द्रव्य को पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्शों से युक्त होने के कारण रूपी द्रव्य कहा है। पुद्गल द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से अनन्त द्रव्य, क्षेत्र की दृष्टि से लोक प्रमाण, काल की दृष्टि से त्रिकालवर्ती होने के कारण नित्य, भाव की दृष्टि से रूप, रस, गंध व स्पर्श से युक्त तथा गुण की दृष्टि से ग्रहण गुण वाला बताया है। पुद्गल की चर्चा में उसके आकार-प्रकार, स्थिति, पुद्गल परिणामों के प्रकार, पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पुद्गल के चार प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं- स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश व परमाणु-पुद्गल। आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार में पुद्गल द्रव्य के इन चारों भेदों की चर्चा की है किन्तु, नियमसार में उन्होंने स्कन्ध के छः भेदों की चर्चा भी की है- 1. अतिस्थूल, 2. स्थूल, 3. स्थूलसूक्ष्म, 4. सूक्ष्मस्थूल, 5. सूक्ष्म, 6. अतिसूक्ष्म। यह चर्चा भगवतीसूत्र में नहीं मिलती है।

परमाणु के स्वरूप की जितनी विस्तार से चर्चा भगवतीसूत्र में की गई है वह अन्य आगम ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती है। परमाणु को एक वर्ण, एक गंध, एक रस व दो स्पर्शों से युक्त माना है। बाद में आचार्य कुंदकुंद ने भी पंचास्तिकाय में परमाणु के इसी स्वरूप को स्पष्ट किया है। भगवतीसूत्र में परमाणु को अभेद्य, अछेद्य, अनार्द्र, अदाह्य व अविभाज्य कहा है। परमाणु को आकार रहित बताते हुए उसे अनर्द्ध, अमध्य व अप्रदेशी कहा है। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से परमाणु के चार प्रकार बताये हैं- द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु व भाव परमाणु। परमाणु में गति की तीव्रता की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि एक परमाणु एक समय में लोक के एक चरमान्त से दूसरे चरमान्त तक चला जाता है। परमाणु निर्माण की प्रक्रिया, परमाणु बंध, पुद्गल-परमाणु का संयोग-वियोग आदि को भी इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

दसवें अध्याय का प्रतिपाद्य अरूपी-अजीवद्रव्य है। अरूपी-अजीवद्रव्य में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय व अद्धासमय (काल) को सम्मिलित किया गया है। भगवतीसूत्र में धर्मास्तिकाय को अरूपी, अजीव, शाश्वत तथा लोक अवस्थित एवं गति में सहायक द्रव्य माना है। पुद्गल द्रव्य की तरह धर्मास्तिकाय के प्रदेश, देश या परमाणु आदि भाग नहीं होते हैं, अखण्ड रूप से पूरे धर्मास्तिकाय को ही धर्मास्तिकाय माना है। धर्मास्तिकाय से जीवों के आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, काययोग, वचनयोग आदि भाव प्रवृत्त होते हैं। धर्मास्तिकाय की तरह ही अधर्मास्तिकाय का स्वरूप भी वर्णित है। *अधर्मास्तिकाय को स्थिति में सहायक बताया गया है। आचार्य* सिद्धसेन आदि कुछ दार्शनिक धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर उन्हें द्रव्य की पर्याय मात्र मानते हैं। किन्तु, भगवतीसूत्र में विवेचित धर्म-अधर्म द्रव्य के स्वरूप से यह प्रमाणित हो जाता है कि धर्म-अधर्म द्रव्य जीव व पुद्गल की गति व स्थिति में सहायक हैं। उनके अभाव में जीव व पुद्गल अनन्त आकाश में गति करने लगेंगे तथा सम्पूर्ण लोक व्यवस्था ही ध्वस्त हो जायेगी।

भगवतीसूत्र में आकाशास्तिकाय को लोक-अलोक प्रमाण अनन्त द्रव्य रूप माना है। व्यवस्था की दृष्टि से आकाश के दो भेद किये हैं लोकाकाश व अलोकाकाश। जहाँ जीवादि द्रव्य रहते हैं वह लोकाकाश तथा उससे परे

अनन्त अलोकाकाश है जहाँ न जीव है न जीव के देश, न अजीव के प्रदेश। वह एक अजीव द्रव्य देश है। अवगाहना को आकाश का प्रमुख गुण माना है। आकाशास्तिकाय की विवेचना में ऐन्द्रि (पूर्व), आग्नेयी (अग्निकोण) आदि दस दिशाओं के स्वरूप का भी विवेचन किया गया है।

इस अध्याय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष काल द्रव्य को स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मान्यता प्रदान करना है। काल द्रव्य का अस्तित्व है यह तो सभी जैन परंपराएँ स्वीकार करती हैं, किन्तु काल द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को लेकर जैन परंपरा में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक परंपरा काल द्रव्य को स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करती है जबकि दूसरी परंपरा उसे जीव-अजीव की पर्याय के रूप में मान्यता प्रदान करती है। भगवतीसूत्र में सर्वद्रव्यों की विवेचना में काल द्रव्य को छः द्रव्यों में स्वतंत्र स्थान प्रदान किया गया है। विभिन्न आगम ग्रन्थों, परवर्ती आगम साहित्य तथा आधुनिक विद्वानों के दृष्टिकोणों का समीक्षात्मक अध्ययन करने के पश्चात् इस अध्याय में यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि काल द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता है। काल द्रव्य के कारण ही जीव-अजीव की पर्याय में परिवर्तन होता है अतः उसे जीव-अजीव की पर्याय भी कहा गया है।

ग्यारहवें अध्याय में भगवतीसूत्र में विवेचित ज्ञान-मीमांसा तथा प्रमाण का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भगवतीसूत्र में ज्ञान को निश्चय रूप से आत्मरूप ही माना है– **णाणे पुण नियमं आया** – (12.10.10) प्रवचनसार में भी आचार्य कुंदकुंद ने निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान व आत्मा में अभेद स्वीकार किया है। भगवतीसूत्र में ज्ञान को साकारोपयोग व दर्शन को निराकारोपयोग माना है। ज्ञानवाद के विकास की परंपरा की चर्चा में आगमों में तीन भूमिकाओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम भूमिका भगवतीसूत्र में प्राप्त होती है जहाँ ज्ञान के पाँच भेद किये गये हैं– 1. आभिनिबोधिक, 2. श्रुत, 3. अवधि, 4. मनःपर्यव, 5. केवलज्ञान। द्वितीय भूमिका स्थानांग में प्राप्त होती है जहाँ ज्ञान को प्रत्यक्ष व परोक्ष दो भेदों में विभक्त कर पांचों ज्ञानों में से मति व श्रुत को परोक्ष के अन्तर्गत रखा गया तथा अवधि, मनःपर्यव व केवलज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा है। ज्ञान विभाजन की तृतीय भूमिका नन्दीसूत्र में प्राप्त होती है जहाँ इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों में स्थान दिया गया है। भगवतीसूत्र में ज्ञान विभाजन में ज्ञान के आभिनिबोधिक आदि पाँच भेद करते

हुए पुनः आभिनिबोधिक के अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा ये चार भेद किये गये हैं। नन्दीसूत्र में ज्ञान-विभाजन की परंपरा देखने से यह स्पष्ट होता है कि वहाँ प्रारंभ में ही ज्ञान के पाँचों भेदों को प्रत्यक्ष व परोक्ष इन दो भेदों में समाहित किया गया है तथा आभिनिबोधिक ज्ञान के श्रुतनिःसृत तथा अश्रुतनिःसृत ये दो भेद भी किये गये हैं। भगवतीसूत्र में वर्णित विभाजन में ये दो भेद नहीं मिलते हैं। इससे यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि भगवतीसूत्र में वर्णित ज्ञान का विभाजन सर्वाधिक प्राचीन है, आगे इसी परंपरा का विकास हुआ है। इस अध्याय में नन्दीसूत्र के अनुसार ज्ञान-विभाजन का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया गया है।

भगवतीसूत्र में प्रमाण की चर्चा करते हुए कहा गया है- 'छद्मस्थ मनुष्य केवली की तरह अन्तकर या अन्तिम शरीर को न जानता है न देखता है वह सुनकर या प्रमाण से जानता व देखता है।' यहाँ पाँचों ज्ञान की दृष्टि से उत्तर ना देकर प्रमाण की दृष्टि से उत्तर दिया गया जो कि यह सिद्ध करता है कि अन्य दार्शनिकों की तरह जैन आगमकार प्रमाण व्यवस्था से अनभिज्ञ नहीं थे। वे स्वसम्मत ज्ञानों की तरह प्रमाणों को भी ज्ञाप्ति में स्वतंत्र साधन मानते थे। प्रमाण के चार भेद किये गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, आगम। इनका विवेचन अनुयोगद्वारसूत्र से पूर्ण करने का निर्देश दिया गया है। अतः प्रस्तुत कृति के इस अध्याय में अनुयोगद्वार के आधार पर प्रमाण पर संक्षिप्त विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

जैन ज्ञान-मीमांसा व प्रमाण की चर्चा अनेकान्तवाद, स्याद्वाद व नयवाद के बिना अधूरी है। **बारहवें अध्याय** में भगवतीसूत्र के आधार पर अनेकान्तवाद, स्याद्वाद व नयवाद का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भगवतीसूत्र में *भगवान् महावीर* के उन दस स्वप्नों का वर्णन है जो उन्होंने छद्मस्थ अवस्था की अन्तिम रात्रि में देखे थे। उसमें से तीसरा स्वप्न उन्हें अनेकान्तवाद का उपदेशक स्वीकार करता है। यह बात भगवतीसूत्र के अध्ययन से प्रमाणित भी होती है। प्रायः इस ग्रन्थ में तत्त्वविद्या सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देते समय भगवान् महावीर द्वारा अनेकान्तदृष्टि का ही प्रयोग किया गया है। उनके द्वारा लोक की नित्यता-अनित्यता, जीवादि द्रव्यों की शाश्वतता-अशाश्वतता, द्रव्य की एकता-अनेकता, द्रव्य पर्याय के सम्बन्ध आदि का उद्घाटन इसी अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

अनेकान्तवाद को भाषा में प्रतिपादित करने वाली शैली स्याद्वाद् कहलाती है। भगवतीसूत्र में आये अनेक उदाहरण स्याद्वाद के द्योतक हैं। यथा- **जीवा सिय सासता, सिय असासता** - (7.2.35)। ऐसे कई और भी उदाहरण इस ग्रन्थ में मिलते हैं जहाँ वस्तु के नाना धर्मों को प्रकट करने के लिए स्याद्वादशैली का प्रयोग किया गया है। भगवतीसूत्र के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि परवर्ती आचार्यों ने सप्तभंगी की जो कल्पना की, उसका मूल रूप भगवतीसूत्र में मौजूद है। प्रारंभ में तो विधि, निषेध, उभय व अवक्तव्य इन चार भंगों की ही प्रस्तुति हुई थी। इसके अनेक उदाहरण ग्रन्थ में आये हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद के मौलिक भंग प्रारंभ में चार ही थे। इन चार भंगों के अतिरिक्त विभिन्न उदाहरणों द्वारा 6, 7, 13, 19, 22 व 23 भंगों की योजना भी प्रस्तुत की गई है, लेकिन इन सभी के मूल में भंग सात ही हैं शेष भंग एक वचन या बहुवचन के भेद से हैं।

अनेकान्तवाद का मूल आधार नयवाद है। परवर्ती दार्शनिक साहित्य में उल्लेखित नैगमादि सात नयों की चर्चा भगवतीसूत्र में नहीं मिलती है, लेकिन उनका प्रारंभिक स्वरूप द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय के रूप में यहाँ सुरक्षित है। पर्यायार्थिक नय के लिए भावार्थिक शब्द का प्रयोग भी हुआ है। बाद के दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतिप्रकरण में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकारा है कि मूल में तो नय के दो ही भेद हैं- द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक। नयों पर भगवतीसूत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव; द्रव्यार्थिक व प्रदेशार्थिक, अव्युच्छित्तिनय व व्युच्छित्तिनय, ओघादेश-विधानादेश आदि दृष्टियों से विवेचन हुआ है।

तेरहवें अध्याय में भगवतीसूत्र में उल्लेखित महावीरकालीन जैन एवं प्रमुख जैनेतर दार्शनिक परंपराओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भगवतीसूत्र के अध्ययन से पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय में अनेक दार्शनिक परंपराएँ प्रचलित थीं। आजीविक, परिव्राजक, तापस, कान्दर्पिक, चरक, आभियोगिक आदि का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है। विभिन्न शतकों में पार्श्वापत्यीय स्थवीरों तथा भगवान् महावीर के शिष्यों के बीच हुए वार्तालाप में पार्श्वापत्यीयों द्वारा चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार करने का विवेचन भी मिलता है। इस अध्याय में जमालि द्वारा भगवान् महावीर के पास दीक्षा धारण करने, तथा भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के साथ उसके

मतभेद का भी विवेचन किया गया है। आजीविक सम्प्रदाय के इतिहास, अनुयायी, सिद्धान्त, आचार आदि का इस अध्याय में विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आजीविक मत के विषय में प्राप्त सामग्री से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्प्रदाय भगवान् महावीर के पूर्व में भी विद्यमान था तथा श्रमण भगवान् महावीर के काल में गोशालक के अनेक अनुयायी थे।

अन्य दार्शनिक परंपराओं में क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी तथा अज्ञानवादी का भी विवेचन किया गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन से न केवल भगवान् महावीर के समय में विद्यमान जैन एवं जैनेतर दार्शनिक परंपराओं के आचार-व्यवहार, सिद्धान्तों आदि का ज्ञान होता है अपितु यह तथ्य भी सामने आता है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक परम्पराओं के समर्थकों में धार्मिक कट्टरता का अभाव था। प्रायः अनेक समस्याओं व जिज्ञासाओं पर वे आपस में चर्चा करते और संशयों को दूर करते थे। भगवतीसूत्र में अनेक उदाहरण आये हैं जहाँ अन्य धर्म व सम्प्रदाय के लोगों द्वारा भगवान् महावीर के पास अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त कर श्रमण दीक्षा अंगीकार की गई।

भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन पुस्तक में आगे के अध्यायों में भगवतीसूत्र का धार्मिक मूल्यांकन करते हुए जैन आचारचर्या का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जैन परंपरा में आचार को ही धर्म माना है। जैन आचार की यह परंपरा दो रूपों में विकसित हुई है, श्रमणाचार व श्रावकाचार। **चौदहवें अध्याय** में जैन श्रमण परंपरा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए श्रमण के स्वरूप, श्रमण-जीवन की महत्ता, श्रमण दीक्षा के विभिन्न आयाम यथा- वय, वैराग्य के कारण, अनुमति, दीक्षाअभिनिष्क्रमण महोत्सव आदि की विवेचना की गई है। स्कन्दक मुनि के जीवन चरित द्वारा श्रमणचर्या का व्यवस्थित क्रम भी प्रस्तुत किया गया है। **पन्द्रहवें अध्याय** में भगवतीसूत्र के परिप्रेक्ष्य में श्रमणों के आचार एवं तपचर्या का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सामान्य साध्वाचारों में आराधना, पंचविध व्यवहार, त्रिविध जागरिका, समिति, गुप्ति, पाँच महाव्रतों आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विशेष साध्वाचारों में तप, परीषह, भिक्षु प्रतिमाएँ, गुणरत्नसंवत्सरतप, संलेखना आदि को सम्मिलित किया गया है। तप की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए तप का फल मुक्ति बताया है। प्रारंभ में तप के दो भेद किये हैं, बाह्य तप व आभ्यान्तर तप। पुनः बाह्यतप के अनशन, अवमौदर्य, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश व प्रतिसंलीनता ये

छः भेद तथा आभ्यान्तर तप के प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग ये छः भेद किये हैं। परीषह विवेचन में 22 परीषहों का उल्लेख करते हुए उनका ज्ञानावरणीय, वेदनीय, अन्तराय व मोहनीय इन चार कर्म प्रकृतियों में समावेश किया गया है। इसके पश्चात् 12 भिक्षु प्रतिमाएँ, गुणरत्नसंवत्सर तप तथा संलेखनापूर्वक समाधिमरण का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

श्रमणाचार की तरह भगवतीसूत्र में श्रावकाचार पर विस्तार से वर्णन नहीं हुआ है। विभिन्न श्रमणोपासकों के प्रकरणों तथा उनकी जीवनचर्या से श्रावक के विभिन्न आचार-व्रतों पर प्रकाश पड़ता है। सोमिल ब्राह्मण के प्रसंग में श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख हुआ है। शंख श्रावक के प्रकरण में पौषधव्रत की विधि व महत्ता वर्णित हुई है। तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों की जीवनचर्या श्रावक के आचार पर विशेष प्रकाश डालती है। अतः **सोलहवें अध्याय** में अन्य श्रावकाचार के ग्रन्थों के आधार पर श्रावकाचार पर एक क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन से यह ज्ञात होता है कि भगवतीसूत्र में ज्ञान के साथ-साथ आचार को भी महत्त्व दिया गया है। उसी व्यक्ति को सच्चा आराधक माना है जो श्रुत सम्पन्न होने के साथ-साथ शील सम्पन्न भी है। स्कन्दक मुनि की जीवन चर्या के विवरण द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि एक साधारण व्यक्ति किस प्रकार श्रमण दीक्षा को अंगीकार कर पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि सामान्य साध्वाचारों का पालन करते हुए तप आदि विशेष साध्वाचारों से कर्मों का क्षय कर मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है। इस अध्याय में श्रावकाचार के वर्णन में यह बात स्पष्ट होती है कि आचारवान श्रावक का जीवन गृहस्थ होते हुए भी मुनि जीवन का लघु संस्करण होता है। श्रावक के बारह व्रत जहाँ एक ओर व्यक्ति के धार्मिक जीवन की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं वहीं दूसरी ओर वे व्यक्ति के उच्च नैतिक व सामाजिक जीवन के संचालन में भी सहायक होते हैं।

प्रस्तुत कृति के अन्तिम **सत्तरहवें अध्याय** में कर्म सिद्धान्त पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि ग्रन्थों के आधार पर कर्म के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् भगवतीसूत्र में वर्णित कर्म के स्वरूप को विवेचित किया गया है। प्रमाद व योग को कर्मबंध का प्रमुख कारण माना है। कर्म सिद्धान्त के विवेचन में ईश्वर व कर्मफल, पापकर्म व पुण्यकर्म का

फल, बंध, बंध के दो प्रकार- ऐर्यापथिक बंध व साम्परायिक बंध, योग, कषाय, कर्म-प्रकृतियाँ, लेश्या आदि का भी विवेचन किया गया है। अन्त में कांक्षामोहनीय कर्म के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भगवतीसूत्र में जीव को कर्म का कर्ता माना गया है। जीव के कर्म आत्मकृत हैं, कर्मों का उपचय जीव स्वप्रयत्न से करता है स्वयं ही उसकी गर्हा, संवर व निर्जरा करता है। जीव को कर्मों का कर्ता के साथ-साथ कर्मफल का भोक्ता भी स्वीकार किया है। कृत कर्म भोगे बिना मोक्ष संभव नहीं, इस मान्यता का प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो ही जाता है कि भगवतीसूत्र आगम विज्ञान का ऐसा कोश है जिसमें जिन-वचन की सम्पूर्ण ज्ञान राशि का समावेश है। लोकस्वरूप व षड्द्रव्य विवेचन में सम्पूर्ण द्रव्यविज्ञान समाहित है। ज्ञान, प्रमाण, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, नयवाद आदि विषयों से संबंधित प्रश्नोत्तर ग्रन्थ के ज्ञान मीमांसीय पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। भगवतीसूत्र के विभिन्न प्रश्नोत्तर आचार-विचार की मूल भावना से भी जुड़े हुए हैं जो श्रमण व श्रावक दोनों की चर्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। आगे चलकर यह चिन्तन श्रावकाचार व श्रमणाचार के रूप में पल्लवित हुआ। धर्म-दर्शन की प्रधानता रखने वाला यह ग्रन्थ सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपयोगी व समृद्ध है। इसमें वर्णित धर्म, नीति, भूगोल, इतिहास, विज्ञान, कला आदि विषय यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय संस्कृति का यह चरमोत्कर्ष काल था। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भगवतीसूत्र जैन आगम साहित्य के इतिहास का ऐसा चमकता नक्षत्र है जिसकी आभा द्रव्य-विज्ञान से आरम्भ होकर आचार आदि को आलोकित करती हुई विज्ञान की ओर अग्रसर हो जाती है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

जब मैंने 1981 में सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर से प्राकृत में एम. ए. किया था तब सोचा नहीं था कि मैं इस क्षेत्र में आगे अनुसंधान कार्य में भी प्रवृत्त होऊँगी। जयपुर आने के लगभग 10 वर्ष पश्चात् अचानक प्रो. कमल चन्द जी सोगाणी से मेरा सम्पर्क हुआ। उनकी प्रेरणा से प्राकृत अध्ययन की ओर मेरी रुचि पुनः जागृत हुई। सोगाणी साहब मुझे निरन्तर आगे अध्ययन के लिए उत्साहित करते रहे। उनकी सतत् प्रेरणा से ही प्राकृत व्याकरण में मेरी गहन रुचि बनी रही। बाद में उन्हीं के सद्प्रयत्नों से प्राकृत भारती के

संस्थापक श्री डी. आर. मेहता के मार्गदर्शन में मुझे प्राकृत भारती अकादमी में 'प्राकृत-शिक्षण' करवाने का उत्तरदायित्व प्राप्त हुआ, जहाँ मैं प्राकृत के ग्रंथों को भाषिक एवं साहित्यिक दृष्टि से देखने-परखने के कार्य में संलग्न हुई। प्राकृत शिक्षण का कार्य करते-करते जैन धर्म व दर्शन के प्रति मेरी विशेष रुचि जागृत हुई। इसी बीच उदयपुर यात्रा के दौरान प्राकृत के मनीषी विद्वान प्रो. प्रेम सुमन जी जैन ने मुझे यह प्रेरणा प्रदान की कि पीएच. डी. करने से शिक्षण कार्य को एक नई गति प्राप्त होगी। तब मैंने शोध कार्य करने को प्राथमिकता दी। शीघ्र ही परमपूज्य गणाधिपति आचार्य तुलसी एवं मनीषी आचार्य महाप्रज्ञ जी के आशीर्वाद से संस्थापित जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं में ***भगवतीसूत्र में प्रतिपादित धर्म-दर्शन*** *जैसे गहन विषय पर मेरा पीएच.* डी. हेतु पंजीयन हो गया। मैं इसे अपना सौभाग्य ही कहूँगी कि निर्देशक के रूप में मुझे जैन दर्शन एवं प्राकृत के विद्वान प्रो. सोगाणी साहब का एवं सह निर्देशक के रूप में प्राकृत विद्वान डॉ. हरिशंकर जी पाण्डेय का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

भगवतीसूत्र की विशालता व गहनता को देखते हुए मुझ अज्ञानी के लिए यह कार्य बहुत ही कठिन था, लेकिन प्रो. सोगाणी जी एवं प्रो. प्रेमसुमन जी की निरन्तर प्रेरणा व उनके मार्गदर्शन ने मुझमें ज्ञान की ज्योति को आलोकित किया। जब कभी कार्य की बोझिलता से मैं आक्रान्त हुई उन्होंने निराशा की धुंध में प्रकाश का मार्ग दिखाया। इन दोनों गुरुवरों ने मुझे न केवल ज्ञान ही दिया अपितु अच्छे आचार से भी संस्कारित किया। अपने इन दोनों ही गुरुवरों की कृपा के आगे मेरा हृदय सदैव नतमस्तक रहेगा। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि उनकी प्रेरणा तथा मार्गदर्शन मेरे साथ जीवनपर्यन्त बना रहे।

प्रस्तुत कृति '**भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन**' मेरे इसी शोध-प्रबन्ध (पीएच.डी.) के आधार पर तैयार की गई है। मेरे शोध-प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में प्राकृत भारती अकादमी के संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक श्रीमान् डी.आर.मेहता सा., सचिव श्रीमान् बी.आर.मेहता जी, सम्मान्य निदेशक महोपाध्याय विनयसागर जी, प्रबन्ध सम्पादक श्री सुरेन्द्र बोथरा जी का जो आत्मीयतापूर्ण प्रोत्साहन मुझे मिला उसके लिए मेरा आभार व्यक्त करना मात्र शाब्दिक औपचारिकता ही होगी। उनकी मैं सदा ही उपकृत रहूँगी। जैन विश्व भारती, लाडनूँ के पूर्व कुलपति डॉ० महावीरराज जी गेलड़ा की मैं हृदय से

उपकृत हूँ, जिन्होंने अपने अमूल्य सुझावों द्वारा मेरे मार्ग को सरलीकृत किया तथा वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन की प्रेरणा दी। प्रोफेसर सागरमलजी जैन के प्रति भी विशेष कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जिन्होंने न केवल इस कृति के प्रकाशन की प्रेरणा दी अपितु इसकी अनुमादेना एवं अनुशंसा लिखकर इसकी गरिमा को बढ़ाया है।

इस अवसर पर मैं बैंगलोर निवासी श्री तेजराजजी बांठिया के प्रति विशेष रूप से धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने मेरे अग्रज भगवान सिंह सामर की प्रेरणा से इस कृति के प्रकाशन हेतु अनुदान राशि प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया।

भगवतीसूत्र जैसे गुरुत्तर आगम ग्रंथ का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में परिशीलन प्रस्तुत करने में जहाँ एक ओर गुरुजन की असीम कृपा रही वहीं परिवारजन एवं मित्रजनों का भी पूर्ण सहयोग रहा। यह कार्य निर्बाध रूप से पूरा हो सका इसके लिए मैं हृदय से अपनी सास माँ ज्ञान कंवर डागा तथा ससुरजी नवरतनमल जी डागा के प्रति उपकृत हूँ, जिन्होंने घर के अन्य उत्तरदायित्वों से मुझे मुक्त रखकर सदैव अध्ययन के क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। मेरे जीवनसाथी डॉ० सी. एस. डागा ने मेरे इस कार्य के संवर्द्धन में सार्थक योगदान दिया अतः उनके प्रति मैं श्रद्धा से नतमस्तक हूँ। अपने पिता बिजय सिंह जी सामर तथा माता केवल कुंवर सामर के उपकार की मैं सदा ऋणी रहूंगी। उन्होंने बचपन से ही जैन धर्म के जो संस्कार मुझे प्रदान किये उन्हीं के परिणामस्वरूप मैं इस दिशा में आगे बढ़ सकी हूँ।

इस कृति को प्रस्तुत करने में जिन प्राचीन व नवीन कृतियों का उपयोग किया गया उन सभी के लेखकों व सम्पादकों को मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ। इस कार्य में प्राकृत भारती अकादमी के पुस्तकालय का सर्वाधिक प्रयोग किया गया। पुस्तकालय प्रभारी रीना जैन, विजय जी एवं शबनम के सहयोग को मैं विस्मृत नहीं कर सकती हूँ। इसके अतिरिक्त राजस्थान विश्वविद्यालय, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं तथा सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग के पुस्तकालयों के प्रबंधकों की भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने यथा समय आवश्यक पुस्तकों के उपयोग में मुझे सहयोग प्रदान किया। इस कृति के टंकणकर्ता विमल जी एवं सागर जी को मैं धन्यवाद देती हूँ जिनके सहयोग से मेरा शोध प्रबंध इस रूप में प्रस्तुत हो सका है।

इस कार्य को प्रस्तुत करने में मूलग्रंथ के रूप में युवाचार्य मुनि मधुकर द्वारा सम्पादित व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (द्वितीय संस्करण) के भाग 1, 2, 3, 4 का प्रयोग किया गया है। संक्षिप्तिकरण के उद्देश्य से संदर्भ में व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के स्थान पर **व्या. सू.** का प्रयोग किया गया है। टंकण की सुविधा की दृष्टि से संदर्भ प्रत्येक अध्याय के अन्त में क्रमवार दिये हैं।

अन्त में मैं यही विनम्र निवेदन करती हूँ कि भगवतीसूत्र ज्ञान का ऐसा रत्नाकर है जिसकी थाह पाना मुझ अज्ञानी के लिए असंभव सा कार्य है। अथक परिश्रम एवं अपने शोध-प्रबन्ध में आवश्यक संशोधन के पश्चात् '**भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन**' प्रस्तुत कर रही हूँ। यद्यपि मैंने सावधानीपूर्वक अशुद्धियों के निराकरण का प्रयत्न किया है, फिर भी कतिपय अशुद्धियाँ रह गई हों तो इसमें मेरा प्रमाद ही दोषी है।

जयपुर
26-08-2012

डॉ० तारा डागा
संयोजक
जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग,
प्राकृत भारती अकादमी

विषयानुक्रमणिका

विवरण	पृ. सं.
जैन आगम एवं भगवतीसूत्र	**1-25**
तीर्थंकर व आगम-परम्परा	3
भगवतीसूत्र व अन्य आगम ग्रंथ	19
भगवतीसूत्र : स्वरूप एवं प्रतिपाद्य	**26-64**
ग्रन्थ-परिचय एवं व्याख्यासाहित्य	2
विषयवस्तु	3६
भगवतीसूत्र का महत्त्व	5[illegible]
लोक-स्वरूप एवं द्रव्य-मीमांसा	**65-15**
लोक-स्वरूप	66
द्रव्य	76
जीव द्रव्य	84
रूपी-अजीवद्रव्य (पुद्गल)	116
अरूपी-अजीवद्रव्य	133
ज्ञान-मीमांसा	**157-198**
ज्ञान एवं प्रमाण विवेचन	158
अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं नयवाद	173
महावीरेतर दार्शनिक परम्पराएँ	**199-215**
आचार-मीमांसा	**216-296**
श्रमणदीक्षा एवं चर्या	217
श्रमणाचार	228
श्रावकाचार	262
कर्म सिद्धान्त	277
सन्दर्भ ग्रन्थ	**297-307**
शब्दानुक्रमणिका	**308-312**

जैन आगम
एवं
भगवतीसूत्र

तीर्थंकर व आगम-परम्परा

धर्म व दर्शन मानव जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए अनिवार्य हैं। जब व्यक्ति इन समस्याओं का गहराई से चिन्तन करता है तो दर्शन का जन्म होता है और जब उसी चिन्तन का प्रयोग जीवन में करता है तो धर्म का जन्म होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से धर्म व दर्शन की उत्पत्ति का पता लगाना कठिन कार्य है। यह बात तो अनंत ज्ञानी ही जान सकते हैं। किन्तु, प्रत्येक धर्म के सिद्धान्तों व उपदेशों का प्रचार कुछ धार्मिक पुरुषों द्वारा किया जाता है, वे ही उनके प्रवर्तक कहलाते हैं। वहीं से किसी भी धर्म का इतिहास व परम्परा का जन्म होता है।

तीर्थंकर-परम्परा

जैन परम्परा के अनुसार कालचक्र उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी दो भागों में विभक्त है। पहले उत्सर्पिणी काल था अब अवसर्पिणी काल चल रहा है। अवसर्पिणी के समाप्त होने पर पुनः उत्सर्पिणी कालचक्र शुरु होगा। इस प्रकार अनादिकाल से यह चक्र चल रहा है और अनंतकाल तक चलेगा। उत्सर्पिणी में सभी भाव उन्नति को प्राप्त होते हैं और अवसर्पिणी में ह्रास को। इस अवसर्पिणी काल में अब तक 24 तीर्थंकर हो चुके हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए हैं।[1] भगवतीसूत्र[2] में इस अवसर्पिणी काल के 24 तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-

1. ऋषभ	2. अजित	3. सम्भव	4. अभिनंदन
5. सुमति	6. सुप्रभ	7. सुपार्श्व	8. शशि
9. पुष्पदंत	10. शीतल	11. श्रेयांस	12. वासुपूज्य
13. विमल	14. अनन्त	15. धर्म	16. शान्ति
17. कुन्थु	18. अर	19. मल्लि	20. मुनिसुव्रत
21. नमि	22. नेमि	23. पार्श्व	24. वर्धमान

जैन अनुश्रुति के अनुसार पहले कल्पकाल में भोगभूमि थी, यहाँ के निवासी अपनी जीवन-यात्रा कल्प-वृक्षों से चलाते थे। धीरे-धीरे जनसंख्या बढ़ी, साथ ही

व्यक्ति की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। तब कर्मभूमि का जन्म हुआ। भगवतीसूत्र[3] में इन 15 कर्मभूमियों का उल्लेख हुआ है– पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह। कर्मभूमि के जन्म के साथ ही 'कुलकर' व्यवस्था प्रारम्भ हुई। इस व्यवस्था में क्रमशः 14 कुलकर या मनु उत्पन्न हुए, उन्होंने ही भोजन बनाना, खेती करना, जंगली पशुओं से रक्षा के उपाय, मकान बनाना तथा समाज के मूलभूत अनुशासन के लिए नियम आदि सिखाए। इस अवसर्पिणी काल में होने वाले सात कुलकरों के उल्लेख भगवतीसूत्र[4] में इस प्रकार मिलते हैं– (1) विमलवाहन (2) चक्षुषमान (3) यशस्वान् (4) अभिचन्द्र (5) प्रसेनजित (6) मरुदेव (7) नाभि। इस कुलकर परम्परा के अन्तिम कुलकर 'नाभिराय' थे। उनकी पत्नी का नाम मरुदेवी था। इन्हीं के पुत्र ऋषभदेव थे, जो वास्तविक कर्मभूमि के प्रारंभक माने जाते हैं। डॉ. जेकोबी[5] ने भी जैन धर्म का प्रारंभ ऋषभदेव से हुआ, इसमें सत्य की संभावना मानी है। डॉ. राधाकृष्णन्[6] ने 'यजुर्वेद' में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि के उल्लेख को स्वीकार किया है। भागवतपुराण के पाँचवें स्कंध के प्रथम छः अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन, तपश्चरण का वृत्तांत मिलता है तथा उनका अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ यह माना गया है।[7]

22वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का उल्लेख जैन ग्रंथों[8] के साथ-साथ ऋग्वेद[9], महाभारत[10] आदि में पाया जाता है। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। विवाह के समय भोज में दी जाने वाली पशु बलि की घटना से विरक्त होकर वे संन्यासी बन गये और निर्ग्रन्थ साधना में लीन हो गये।

पार्श्वनाथ जैन परम्परा के 23वें तीर्थंकर थे। जैन पुराणों के अनुसार पार्श्वनाथ का निर्वाण तीर्थंकर महावीर के निर्वाण से 250 वर्ष पूर्व हुआ था। आचारांग[11] में उल्लेख है कि महावीर के माता-पिता पार्श्व-परम्परा का पालन करते थे। पार्श्वनाथ को चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र[12] व भगवतीसूत्र[13] में पार्श्वनाथ के शिष्यों व महावीर के शिष्य गौतम के परिसंवाद का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। डॉ. हर्मन जेकोबी[14] ने पार्श्व को ऐतिहासिक माना है। डॉ० विमलचरण लॉ के अनुसार भगवान् पार्श्व के धर्म का प्रचार भारत के उत्तरवर्ती क्षत्रियों में था। वैशाली उनका मुख्य केन्द्र था। डॉ. हीरालाल जैन[15] ने पार्श्व-परम्परा के स्थविर तथा निर्ग्रन्थ श्रावकों के अनेक उल्लेखों को स्वीकार किया

है, जिससे निर्ग्रन्थ धर्म की सत्ता बुद्ध से पूर्व भली-भाँति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार पार्श्व की ऐतिहासिकता सर्वसम्मत है।

जैन परम्परा के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का काल ईसा पूर्व 600 वर्ष के लगभग माना जाता है। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ व माता का नाम त्रिशला था। 30 वर्ष की अवस्था में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की- **तीसवासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता..... (व्या.सू. 15.1.21)**। लगभग साढ़े बारह वर्ष की कठोर तप साधना के पश्चात् 42 वर्ष की अवस्था में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् 30 वर्ष भगवान् महावीर जन-कल्याण के लिए धर्मोपदेश देते रहे। इस तरह जैन कर्मभूमि में ऋषभदेव से प्रारंभ होकर भगवान् महावीर तक 24 तीर्थंकर हुए, जिन्होंने अहिंसा के प्रकाश में मानवता के विकास का मार्ग उन्मुख किया।

महावीर के उपदेश व आगम

जैन परम्परा में तीर्थंकरों के द्वारा समय-समय पर आत्मकल्याण के लिए उपदेश दिये जाते रहे हैं। सभी तीर्थंकरों के उपदेशों में प्रायः साम्यता होती है, एकरूपता होती है, इसलिए आप्तवाणी को अनादि व अनंत कहा गया है किन्तु अन्तिम तीर्थंकर के उपदेशों को ही आगम के रूप में स्वीकार कर जैन संघ की शासन व्यवस्था चलती है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर की उपदेशवाणी को ही आगमों के रूप में स्वीकार किया गया है।[16] स्पष्ट है कि वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध हैं,वह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट हैं। उन्होंने जो कुछ भी अपने श्री मुख से कहा वह गणधरों द्वारा ग्रंथ के रूप में गूंथा गया। अर्थागम तीर्थंकरों का होता है और ग्रंथ के रूप में शब्द शरीर की रचना गणधर करते हैं।

जैन परम्परा के अनुसार केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही तीर्थंकर धर्म-देशना देते हैं। यह देशना दिन में तीन या चार बार होती है। प्रत्येक देशना में तत्त्वज्ञान, कथानुयोग, द्रव्यविषयक चर्चा, आचार-व्यवहार आदि सभी विषयों का विवेचन होता है। कुशल गणधरों द्वारा ही उन्हें द्वादशांग में विभाजित किया गया है; यथा- चरित्र विषयक-वार्ताएं आचारांग में, कथांश ज्ञाताधर्मकथा व उपासकदशांग आदि में, प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रश्नव्याकरण आदि में।[17]

आगम की परिभाषा व स्वरूप

आगम शब्द की व्युत्पति 'आ' उपसर्ग और 'गम्' धातु से हुई है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ समन्तात् अर्थात् पूर्ण है और 'गम' धातु का अर्थ गति प्राप्ति है।[18] पाइअसद्द-महण्णवो[19] में आगम का अर्थ शास्त्र या सिद्धांत किया गया है। यह

का शाब्दिक अर्थ हुआ। शास्त्रीय दृष्टिकोण से आगम शब्द का प्रयोग र से मिलता है। आचारांग[20] में आगम शब्द का प्रयोग जानने या ज्ञान के अर्थ में हुआ है। भगवतीसूत्र[21] में प्रमाण के चार भेदों में चौथा भेद 'आगम' स्वीकार किया गया है। यहाँ आगम शब्द का प्रयोग प्रमाण-ज्ञान के अर्थ में हुआ है।

समय-समय पर आचार्यों ने आगम की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। आगम की सर्वाधिक लोकप्रिय परिभाषा अनेक ग्रंथों में प्राप्त होती है, वह है, 'आप्त वचन से उत्पन्न अर्थज्ञान आगम है। उपचार से आप्त वचन भी आगम माना जाता है।' न्यायसूत्र में कहा गया है- **आप्तोपदेश : शब्द** - (1.1.7) आप्त का कथन आगम है। जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, वे तीर्थंकर, सर्वज्ञ, जिन वीतराग भगवान् ही आप्त हैं तथा उनके उपदेश या उनकी वाणी आगम कहलाती है।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से आगम की निम्न परिभाषाएँ भी दृष्टव्य हैं[22]-

(क) जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है।
(ख) जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो, वह आगम है।
(ग) जिससे वस्तुतत्त्व का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है।
(घ) जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है।
(ङ) जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आगम का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जैन परम्परा में आगम ग्रंथ साक्षात तीर्थंकर के कथन के समान माने गये हैं, चाहे वे गणधर कृत हों या श्रुतकेवली स्थविर कृत हों। दोनों में ही पदार्थ के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु[23] कहते हैं कि 'तप, नियम तथा ज्ञान रूपी वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनंतज्ञानी 'केवली' भगवान् भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचन माला गूंथते हैं। अर्थात् तीर्थंकर केवल अर्थरूप में उपदेश देते हैं, गणधर उसे ग्रंथबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं। नंदीसूत्र[24] में जैनागमों को तीर्थंकर प्रणीत कहा गया है।

इस प्रकार तीर्थंकर, जिन अथवा वीतराग भगवान् के उपदेश गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध होकर आगम रूप धारण करते हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार गणधर के समान ही अन्य प्रत्येक बुद्ध निरूपित आगम भी प्रमाण हैं।[25] बृहत्कल्पभाष्य[26] में

कहा है कि जिस बात को तीर्थंकर ने कहा है उस बात को श्रुतकेवली
सकता है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं। अंग बाह्य आ
रचना स्थविर करते हैं। यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि जैन परम्परा में
की प्रामाणिकता केवल गणधर अथवा स्थविरकृत होने से ही नहीं है अपितु उनके अर्थरूप में प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता एवं सर्वज्ञता से है।

आगम के पर्याय

जैन परम्परा में प्राचीनकाल में गुरु के श्री मुख से ही शिष्य ज्ञान प्राप्त करते थे। फिर यह परम्परा उनके शिष्य-प्रशिष्यों तक चलती थी। अतः प्राचीन काल में आगम शब्द के लिए 'श्रुत' शब्द का प्रयोग ही हुआ है, जिसका अर्थ है सुना हुआ। नंदीसूत्र[27] में आगम के लिए 'श्रुत' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थानांग[28] में आगमज्ञाताओं के लिए 'श्रुतकेवली' व 'श्रुतस्थविर' संज्ञा मिलती है। अनुयोगद्वार[29] व विशेषावश्यकभाष्य[30] में आगम के लिए सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, शासन, प्रवचन, आज्ञा, उपदेश, प्रज्ञापना आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने अपने ग्रंथ तत्त्वार्थभाष्य[31] में श्रुत, आप्तकथन आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन, जिनवचन आदि शब्दों को आगम कहा है। भगवतीसूत्र[32] में आगम के लिए 'प्रवचन' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि अरिहंत प्रवचनी है और द्वादशांग प्रवचन है। आवश्यकनिर्युक्ति[33] में भी प्रवचन शब्द का प्रयोग आगम के लिए हुआ है।

पूर्व साहित्य

जैनागमों का प्राचीनतम वर्गीकरण 'समवायांग'[34] में प्राप्त होता है। वहाँ साहित्य को दो भागों में विभाजित किया गया है- पूर्व व अंग। पूर्व की संख्या चौदह तथा अंग की संख्या बारह बताई गई है। 'पूर्व श्रुत' जैन आगम साहित्य की अनुपम ज्ञान निधि है। कोई भी ऐसा विषय नहीं जिसकी चर्चा इनमें न की गई हो। पूर्व-साहित्य के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद है। आचार्य अभयदेवसूरि आदि के मतानुसार द्वादशांगी से पहले पूर्व श्रुत निर्मित किया गया था। अतः उसका नाम पूर्व पड़ा।[35] कुछ चिंतकों की यह धारणा है कि पूर्व ग्रंथ भगवान् पार्श्वनाथ की श्रुत परम्परा से सम्बन्धित हैं, अतः श्रमण भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण इन ग्रंथों का नाम पूर्व पड़ा।[36]

उक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पूर्वों की रचना द्वादशांगवाणी से पहले की गई है। लेकिन वर्तमान समय में पूर्व द्वादशांगी से पृथक् नहीं माने

जाते हैं। द्वादशांग में दृष्टिवाद बारहवां अंग था। उसका एक विभाग पूर्वगत है। चौदह पूर्व इसी पूर्वगत के अन्तर्गत हैं। इन चौदह पूर्वों में भगवान् महावीर से पूर्व की अनेक विचारधाराओं, मत-मतान्तसें तथा ज्ञान-विज्ञान का संकलन उनके शिष्य गणधरों द्वारा किया गया था।

नंदीसूत्र[37] में चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं-

1. उत्पादपूर्व	2. अग्रायणीयपूर्व	3. वीर्यप्रवादपूर्व
4. अस्ति-नास्ति-प्रवादपूर्व	5. ज्ञानप्रवादपूर्व	6. सत्यप्रवादपूर्व
7. आत्मप्रवादपूर्व	8. कर्मप्रवादपूर्व	9. प्रत्याख्यानपूर्व
10. विद्यानुप्रवादपूर्व	11. अबन्ध्यपूर्व	12. प्राणायुप्रवादपूर्व
13. क्रियाविशालपूर्व	14. लोकबिन्दुसारपूर्व	

जैन परम्परा के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर ने सर्वप्रथम पूर्वगत अर्थ का निरूपण किया था और उसे ही गौतम प्रभृति गणधरों ने पूर्वश्रुत के रूप में निर्मित किया था। किन्तु, पूर्वगत श्रुत अत्यंत क्लिष्ट और गहन था, उसे साधारण अध्येता समझ नहीं सकता था, इसलिए अल्पमेधावी व्यक्तियों के लिए आचारांग आदि अन्य अंगों की रचना की। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण[38] ने लिखा है- 'दृष्टिवाद में समस्त शब्दज्ञान का अवतार हो जाता है, तथापि ग्यारह अंगों की रचना अल्प मेधावी पुरुषों और महिलाओं के लिए की गई है।' जो श्रमण प्रबल प्रतिभा के धनी होते थे, वे पूर्वों का अध्ययन करते थे और जिनमें प्रतिभा की तेजस्विता नहीं होती थी, वे ग्यारह अंगों का अध्ययन करते थे। आगम साहित्य में पूर्वों का अध्ययन करने वाले तथा ग्यारह अंगों का अध्ययन करने वाले दोनों ही प्रकार के साधकों का वर्णन मिलता है।[39] कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक आचारांग आदि ग्रंथों की रचना नहीं हुई उससे पहले रचे गये चतुर्दशशास्त्र चौदह पूर्व के नाम से विख्यात हुए। फिर पूर्व ज्ञान के आधार पर द्वादशांगी की रचना हुई। लेकिन फिर भी पूर्वज्ञान को छोड़ देना संभवत: आचार्यों को ठीक प्रतीत नहीं हुआ अत: बारहवें अंग दृष्टिवाद में उस ज्ञान को सन्निविष्ट कर दिया गया। दृष्टिवाद पाँच भागों में विभक्त है-

1. परिकर्म, 2. सूत्र, 3. पूर्वानुयोग, 4. पूर्व, 5. चूलिका

चौथे विभाग 'पूर्व' में 'चौदह पूर्व' के ज्ञान का समावेश है। इस दृष्टि से जो चतुर्दशपूर्वी होते हैं वे द्वादशांगी के ज्ञाता भी होते हैं। इस प्रकार अंग साहित्य की रचना के बाद चौदह पूर्वों को बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' का नाम दे दिया गया।

किन्तु, दुर्भाग्यवश यह पूर्व साहित्य सुरक्षित नहीं रहा। समस्त पूर्व के अन्तिमज्ञाता श्रुत केवली भद्रबाहु थे। इनके बाद इस साहित्य का विच्छेद प्रारंभ हो गया।

आगम विच्छेद क्रम

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद आगमों का क्रमशः विच्छेद होना प्रारंभ हो गया। इस सम्बन्ध में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। नंदीचूर्णि[40] के अनुसार श्रुतधारक ही लुप्त होने लगे। धवला व जयधवला[41] के अनुसार श्रुतधारक के लुप्त हो जाने से श्रुत विलुप्त हो गया।

वस्तुतः महावीर के निर्वाण के बाद आगमों की मौखिक परम्परा ही चलती रही, किन्तु धीरे-धीरे योग्य शिष्यों के अभाव में तथा अनेक प्राकृतिक आपदाओं के कारण धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करना कठिन कार्य हो गया। श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ इस बात को एक मत से स्वीकार करती हैं कि अंतिम श्रुतकेवली 'भद्रबाहु स्वामी' थे, जो चतुर्दशपूर्व के ज्ञाता थे। इनके समय में भयंकर अकाल पड़ा तथा जैन मत भी श्वेताम्बर व दिगम्बर दो भागों में विभाजित हो गया। इसके साथ ही आगमों का विच्छेद क्रम प्रारंभ हो गया। श्वेताम्बर परम्परा वीरनिर्वाण के 170 वर्ष बाद तथा दिगम्बर परम्परा वीरनिर्वाण के 162 वर्ष बाद भद्रबाहु का स्वर्गवास काल मानती है। इन्हीं के स्वर्गवास के बाद चतुर्दशपूर्वधर का लोप हो गया। केवल दशपूर्वधर रह गये। दशपूर्वधर की परम्परा स्थूलभद्र से आचार्य व्रजस्वामी तक चली। वे वीरनिर्वाण संवत् 551 में स्वर्ग सिधारे।[42] इसके साथ ही दशपूर्वधर भी नष्ट हो गये। मालवणियाजी[43] ने अपनी पुस्तक में यह माना है कि आचार्य व्रजसेन का स्वर्गवास वीर निर्वाण के 584 वर्ष बाद हुआ और तभी से दसपूर्वों का विच्छेद हो गया। दिगम्बर परम्परा यह स्वीकार करती है कि अन्तिम दसपूर्वों के ज्ञाता धरसेन हुए हैं तथा वीर निर्वाण के 245 वर्ष बाद उनका विच्छेद हो गया।[44] स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में चतुर्दशपूर्वधर व दशपूर्वधर दोनों का ही विच्छेदक्रम श्वेताम्बर परम्परा से पहले ही स्वीकार किया गया है।

आगम वाचनाएँ

भगवान् महावीर ने अर्थरूप में जो उपदेश दिये, गणधरों ने उन्हें सूत्ररूप में गूंथा और इस तरह जैन वाङ्मय की परम्परा का प्रारंभ हुआ। यह ज्ञानराशि मौखिक रूप से गुरु परम्परा से शिष्यों को प्राप्त होती रही लेकिन धीरे-धीरे समय, काल व परिस्थितियों के अनुसार इन्हें याद करना कठिन हो गया और आगमों का विच्छेदक्रम प्रारंभ हो गया। उन्हें सुरक्षित रखने के लिए समय-समय पर श्रमणों

द्वारा विभिन्न सम्मेलन बुलाये गये तथा उन्हें लिखित रूप प्रदान किया गया। आज जो आगम ग्रंथ हमें उपलब्ध हैं, वे इन्हीं वाचनाओं का परिणाम हैं।

प्रथम वाचना– वीर निर्वाण के 160 वर्षों बाद पाटलिपुत्र में द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा जिसके कारण श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। बहुश्रुतधर अनेक श्रमण काल को प्राप्त हो गये। ऐसी स्थिति में जैन संघ को अपने साहित्य की चिन्ता हुई और अकाल की समाप्ति के पश्चात् श्रमणसंघ स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में एकत्रित हुआ। वहां पर स्मृति द्वारा एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। बारहवां अंग दृष्टिवाद किसी को भी स्मरण नहीं था अतः उसका संग्रह नहीं किया जा सका। बाद में भद्रबाहु द्वारा स्थूलभद्र को दसपूर्वों की अर्थ सहित तथा शेष चार पूर्वों की शब्दरूप वाचना दी गई।

द्वितीय वाचना– आगम संकलन का दूसरा प्रयास ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी अर्थात् वीर निर्वाण के 300-330 वर्ष के मध्य राजा खारवेल के समय में हुआ। सम्राट खारवेल जैन-धर्म के परम् उपासक थे। उनके 'हाथीगुम्फा' अभिलेख से स्पष्ट है कि उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियों का एक संघ बुलाया और मौर्यकाल में जो अंग विस्मृत हो गये थे, उनका पुनः उद्धार करवाया। 'हिमवंत थेरावली' नामक प्राकृत-संस्कृत मिश्रित पट्टावली में भी स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है कि महाराज खारवेल ने प्रवचन का उद्धार करवाया था।[45]

तृतीय वाचना– आगमों को संकलित करने की तीसरी वाचना वीर-निर्वाण के 827-840 वर्ष बाद अर्थात् तीसरी शताब्दी में स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुई। यह सम्मेलन मथुरा में होने के कारण माथुरीवाचना के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इस समय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण श्रुत तथा श्रुतवेत्ता दोनों ही नष्ट हो गये। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर युग-प्रधान आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम वेत्ता मुनि इकट्ठे हुए, जिन्हें जैसा स्मरण था उस आधार पर श्रुत संकलन किया गया। उस समय आचार्य स्कन्दिल ही एक मात्र अनुयोगधर थे। उन्होंने उपस्थित श्रमणों को अनुयोग की वाचना दी। इस दृष्टि से सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल सम्बन्धी माना गया, और यह वाचना स्कन्दिल वाचना के नाम से जानी गई।

चतुर्थ वाचना– माथुरीवाचना के समय के आस-पास ही वल्लभी में *नागार्जुन की अध्यक्षता में दक्षिण-पश्चिम में विचरण करने वाले श्रमणों की एक* वाचना हुई, *जिसका उद्देश्य विस्मृत श्रुत को व्यवस्थित करना था। उपस्थित*

मुनियों की स्मृति के आधार पर जितना उपलब्ध हो सका सारा वाङ्मय सुव्यवस्थित किया गया। नागार्जुन सूरि ने समागत साधुओं को वाचना दी अत: यह नागार्जुनीय वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुई। चूर्णियों में नागार्जुन नाम से पाठान्तर मिलते हैं। 'पण्णवणा' जैसे अंगबाह्य सूत्रों में भी इनका निर्देश है।[46]

पंचम वाचना– वीर निर्वाण के 980 वर्षों बाद जब विशाल ज्ञान राशि को स्मृत रखना मुश्किल हो गया तथा श्रुत साहित्य का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था तब वीर निर्वाण के 980 से 993 के बीच देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ पुन: वल्लभी में एकत्रित हुआ। स्मृति में शेष सभी आगमों को संकलित कर पुस्तकारूढ़ किया गया। पुस्तकारूढ़ करने का यह प्रथम प्रयास था। इसमें मथुरा व वल्लभी में हुई वाचना का समन्वयकर उसमें एकरूपता लाने का प्रयास किया गया। जहाँ मतभेद था वहाँ माथुरी वाचना को मूल में स्थान देकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दे दिया गया। यह आगमों की अन्तिम वाचना थी। इसके बाद आगमों की सर्वमान्य कोई वाचना नहीं हुई। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के बाद कोई भी पूर्वधर आचार्य नहीं हुए।

आगम लेखन

जैन परम्परा का विराट साहित्य चौदह पूर्वों व बारह अंगों में संचित था। *किन्तु, यह साहित्य लिपिबद्ध नहीं था। इसका कारण यह तो कदापि नहीं हो* सकता कि जैनाचार्यों को लेखन-परम्परा का ज्ञान नहीं था, क्योंकि लिपि का प्रारंभ जैन परम्परा में प्रागैतिहासिक काल में ही माना गया है। आगम ग्रंथों में भी इसका उल्लेख है। भगवतीसूत्र में मंगलाचरण में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है– **नमो बंभीए लिवीए - (1.1.1)**। प्रज्ञापनासूत्र में अठारह लिपियों का उल्लेख आया है। जैनाचार्यों ने आगम ग्रंथों को लिखा नहीं परन्तु उन्हें लेखन-परम्परा का ज्ञान अवश्य था। आगम-युग में लेखन की जगह स्मरण पर ही जोर देने के कुछ प्रमुख कारण रहे होंगे। यथा–

(क) लिखने में स्याही, कागज, कलम की आवश्यकता से अपरिग्रह व्रत भंग होने की संभावना थी।
(ख) लिखने में अधिक समय लगता था।
(ग) लिखे हुए ग्रंथों की सार संभाल मुश्किल कार्य था।
(घ) इससे साधकों के स्वाध्याय में भी बाधा पड़ती थी।
(ङ) पुस्तकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से वजन बढ़ता था।

संभवत: इन्हीं कारणों से लेखन का ज्ञान होते हुए भी आगम-युग में लेखन कार्य नहीं किया गया। वीर निर्वाण संवत् 827-840 में मथुरा तथा वल्लभी में जो सम्मेलन हुए, उनमें एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। उस समय आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार-सूत्र की रचना की। उसमें द्रव्यश्रुत के लिए **'पत्तय पोत्थयलिहिय'** शब्द का प्रयोग हुआ है।[47] इससे पूर्व आगम लिखने का प्रमाण नहीं मिलता है। इससे यह पता चलता है कि श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण की 9वीं शताब्दी के अन्त में आगमों के लेखन की परम्परा चली, परन्तु आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट संकेत देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय से मिलता है। इस प्रकार आगम लेखन युग का प्रारंभ हम ईसा की 5वीं शती मान सकते हैं।

आगमों की भाषा

जैनागमों की मूल भाषा अर्धमागधी है। यह देववाणी मानी गई है। भगवतीसूत्र[48] में गौतम द्वारा यह प्रश्न करने पर कि देव किस भाषा में बोलते हैं? महावीर द्वारा उत्तर दिया गया, 'देव अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं तथा सभी भाषाओं में अर्धमागधी भाषा श्रेष्ठ व विशिष्ट है।' समवायांग[49] व औपपातिकसूत्र[50] के अनुसार भी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए दशवैकालिकवृत्ति में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि चारित्र की साधना-आराधना करने के इच्छुक मंद बुद्धि स्त्री-पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए सर्वज्ञ भगवान् आगमों का उपदेश प्राकृत में देते हैं। प्रज्ञापनासूत्र[51] में इस भाषा को बोलने वाले को भाषार्य कहा है। मगध के अर्धभाग में बोली जाने के कारण तथा मागधी व देशज शब्दों के सम्मिश्रण के कारण यह अर्धमागधी कहलाती है।

आगमों का वर्गीकरण

विभिन्न जैन परम्पराओं में आगमों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्राप्त होता है।

(क) समवायांगसूत्र में पूर्वों की संख्या चौदह व अंगों की संख्या बारह बताई गई है।

(ख) आगमों का दूसरा वर्गीकरण देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय का है। उन्होंने आगमों को अंग प्रविष्ट व अंग बाह्य इन दो भागों में विभक्त किया है।[52]

अंग प्रविष्ट– अंग प्रविष्ट वह है जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित, गणधरों द्वारा सूत्र रूप से बनाया हुआ हो तथा ध्रुव व अचल हो। यही कारण है कि समवायांग[53] व नंदीसूत्र[54] में द्वादशांग को ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित व नित्य कहा है।

अंग बाह्य– अंग बाह्य बिना प्रश्न किये तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित होता है व स्थविरकृत होता है।

समवायांगसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र में तो केवल द्वादशांगी का ही निरूपण है, किन्तु नंदीसूत्र[55] में अंगप्रविष्ट के साथ अंगबाह्य के भेदों का विस्तार किया गया है।

(ग) अनुयोग[56] – अनुयोगों की दृष्टि से आर्यरक्षित ने सभी आगम ग्रंथों को चार भागों में विभक्त किया है–

1. चरणकरणानुयोग – कालिकश्रुत, महाकल्प, छेदश्रुत आदि
2. धर्मकथानुयोग – ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।
3. गणितानुयोग – सूर्यप्रज्ञप्ति आदि
4. द्रव्यानुयोग – दृष्टिवाद आदि

दिगम्बर परम्परा आगमों का लोप मानती है। अतः दिगम्बर साहित्य में इन चार अनुयोगों का वर्णन कुछ रूपान्तर से मिलता है।

1. प्रथमानुयोग – महापुराण व अन्य पुराण
2. करणानुयोग – त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार आदि
3. चरणानुयोग – मूलाचार आदि
4. द्रव्यानुयोग – प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि

(घ) आगमों का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल व छेद के रूप में प्रभावकचरित[57] में मिलता है। यह वि. संवत् 1334 की रचना है। इसी वर्गीकरण के आधार पर आगम साहित्य का मूल्यांकन विद्वानों ने किया है।

त्रेभिन्न जैन-सम्प्रदायों में मान्य आगम

वर्तमान में जैन धर्म के प्रमुख चार सम्प्रदाय हैं– श्वेताम्बरमूर्तिपूजक, ्थानकवासी, तेरापन्थ एवं दिगम्बर। श्वेताम्बरमूर्तिपूजक सम्प्रदाय में 45 आगम ान्य हैं। स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय 32 आगमों को मान्यता देते हैं। .देगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचित षट्खण्डागम, कषायपाहुड़ आदि ग्रंथ ही आगम हैं। इन सभी सम्प्रदायों में मान्य आगम ग्रंथों का उल्लेख विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानों ने अपने ग्रंथों में किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में मान्य 45 आगम

इस सम्प्रदाय में सम्मिलित खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि सभी उपसम्प्रदायों में 45 आगम मान्य हैं। इन 45 आगमों में 11 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्णक, 6

छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र एवं 2 चूलिका सूत्रों की गणना की जाती है। इनके हिन्दी एवं प्राकृत भाषा के नाम नीचे दिए जा रहे हैं। कोष्ठकवर्ती नाम प्राकृतभाषा में हैं।

11 अंग

1. आचारांग (आयारो)
2. सूत्रकृतांग (सूयगडो)
3. स्थानांग (ठाणं)
4. समवायांग (समवाओ)
5. भगवती/व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवई/वियाहपण्णत्ती)
6. ज्ञाताधर्मकथा (णायाधम्मकहाओ)
7. उपासकदशा (उवासगदसाओ)
8. अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ)
9. अनुत्तरौपपातिकदशा (अनुत्तरोववाइयदसाओ)
10. प्रश्नव्याकरण (पण्हावागरणाइं)
11. विपाकसूत्र (विवागसुयं)

नोट—दृष्टिवाद नामक 12वाँ अंग उपलब्ध नहीं है। इसका उल्लेख नन्दीसूत्र, समवायांग एवं स्थानांगसूत्र में मिलता है।

12 उपांग

1. औपपातिक (उववाइयं)
2. राजप्रश्नीय (रायपसेणइयं)
3. जीवाजीवाभिगम (जीवाजीवाभिगमो)
4. प्रज्ञापना (पण्णवणा)
5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बुद्दीवपण्णत्ती)
6. चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ती)
7. सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ती)
8. निरयावलिका (निरयावलिया)
9. कल्पावतंसिका (कप्पवडंसिया)
10. पुष्पिका (पुप्फिया)
11. पुष्पचूलिका (पुप्फचूला)
12. वृष्णिदशा (वण्हिदसा)

10 प्रकीर्णक

1. चतुःशरण (चउसरणं)
2. आतुरप्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाणं)
3. भक्तपरिज्ञा (भत्तपरिण्णा)
4. संस्तारक (संथारओ)
5. तंदुलवैचारिक (तंडुलवेयालियं)
6. चन्द्रवेध्यक (चंदावेज्झयं)
7. देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थओ)
8. गणिविद्या (गणिविज्जा)
9. महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाणं)
10. वीरस्तव (वीरत्थओ)

नोट—कहीं कहीं पर वीरस्तव के स्थान पर इस गणना में मरणसमाहि का नाम लिया जाता है।

6 छेदसूत्र

1. दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसाओ)
2. बृहत्कल्प (कप्पो)
3. व्यवहार (ववहारो)
4. निशीथसूत्र (निसीहं)
5. महानिशीथ (महानिसीहं)
6. जीतकल्प (जीयकप्पो)

नोट–'कल्पसूत्र' 'बृहत्कल्पसूत्र' से भिन्न ग्रन्थ है। कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का ही एक भाग है, जो दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन से विकसित हुआ है।

4 मूलसूत्र

मूलसूत्रों की संख्या एवं नामों के संबंध में श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में एकरूपता नहीं है। प्राय: निम्नांकित 4 मूलसूत्र माने जाते हैं-

1. उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयणाइं)
2. दशवैकालिक (दसवेयालियं)
3. आवश्यक (आवस्सयं)
4. पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति (पिंडणिज्जुत्ती-ओहणिज्जुत्ती)

नोट–कुछ आचार्य 'पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति' इन दोनों सूत्रों को अलग-अलग भी मानते हैं।

2 चूलिका

1. नन्दीसूत्र (नंदिसुत्तं)
2. अनुयोगद्वार (अणुओगद्दाराइं)

स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों द्वारा मान्य 32 आगम

इन दोनों सम्प्रदायों में 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूलसूत्र, 4 छेदसूत्र एवं 1 आवश्यकसूत्र मिलाकर 32 आगम स्वीकृत हैं।

11 अंग

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक द्वारा मान्य सभी अंग सूत्र।

12 उपांग

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक द्वारा मान्य सभी उपांग सूत्र।

4 मूलसूत्र

1. उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयणाइं)
2. दशवैकालिक (दसवेयालियं)
3. नन्दीसूत्र (नंदिसुत्तं)
4. अनुयोगद्वार (अणुओगद्दाराइं)

4 छेदसूत्र

1. दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसाओ)
2. बृहत्कल्प (कप्पो)
3. व्यवहार (ववहारो)
4. निशीथसूत्र (निसीहं)

बत्तीसवाँ सूत्र आवश्यकसूत्र (आवस्सयं)

दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य आगम

दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का उल्लेख है। अंगबाह्यों में सर्वप्रथम सामायिक आदि छ: आवश्यकों का उल्लेख है, तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार,

कल्पिकाकल्पिक; महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक एवं निशीथ का उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार उपर्युक्त 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का लोप हो गया है। इसलिए दिगम्बर जैन सम्प्रदाय पूर्वधर आचार्यों एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा रचित जिन ग्रन्थों को आगम की श्रेणी में रखते हैं, उनमें से प्रमुख नाम निम्न हैं-

1. षट्खण्डागम (छक्खंडागमो)
2. कषायप्राभृत (कसायपाहुडं)
3. आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ - समयसार (समयसारो), प्रवचनसार (पवयणसारो), पंचास्तिकाय (पंचत्थिकायो), नियमसार (नियमसारो), अष्टपाहुड (अट्ठपाहुडं) आदि
4. त्रिलोकप्रज्ञप्ति (तिलोयपण्णत्ती)
5. भगवती आराधना (भगवदी आराधणा)
6. मूलाचार (मूलायारो)
7. अन्य ग्रन्थ - गोम्मटसार, क्षपणसार, लोकविभाग आदि।

ये सभी आगम श्रेणी के दिगम्बर ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हैं, जिनकी रचना विभिन्न आचार्यों के द्वारा हुई है।

संदर्भ

1. दोशी, बेचरदास-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-1), पृष्ठ 10
2. व्या. सू., शतक 20 उद्देशक 8, सूत्र 7 (20.8.7)
   नोट- व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र द्वितीय संस्करण (भाग 1, 2, 3, 4) सम्पा. मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सर्वत्र **व्या.सू.** रूप में संदर्भ किया गया है तथा शतक, उद्देशक एवं सूत्र को संक्षेप में संख्या द्वारा व्यक्त किया गया है।
3. व्या. सू. 20.8.1
4. वही, 5.5.5-6
5. शास्त्री, कैलाश चन्द्र-जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका), पृष्ठ-5
6. भारतीय दर्शन (भाग-1) पृ. 233
7. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 11-12
8. उत्तराध्ययन, अध्ययन 22
9. ऋग्वेद, 1.89.6
10. महाभारत, हरिवंश (पर्व-1)- अध्याय 34, पद्य 15-16, गीता प्रेस, गोरखपुर
11. आचारांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 2.15.745, पृ. 376
12. उत्तराध्ययन, अध्ययन 23
13. व्या. सू., 1.9.21-23, 32.9
14. शास्त्री, कैलाश चन्द्र-जैन धर्म, पृ. 2

15. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 21
16. दोशी, बेचरदास-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-1), प्रस्तावना, पृ. 19
17. जैन, महेन्द्र कुमार-जैन दर्शन, पृ. 8
18. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि-जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 5
19. पाइअ सद्दमहण्णवो (सं.) दास, पं. हरगोविन्द, पृ. 106
20. आचारांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.5.4.164, पृ. 172
21. व्या. सू., 5.4.26
22. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि-जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 5
23. आवश्यक निर्युक्ति, सम्पा. आ. विजयप्रेम सुरीश्वर, गा. 89, 90, 92, पृ. 17
24. नंदीसूत्र सम्पा. मुनि मधुकर, 76, पृ. 152
25. मूलाचार, सम्पा. शास्त्री कैलाश चन्द्र, पंचाचाराधिकार, 277, पृ. 234
26. बृहतकल्पभाष्य, गा. 132
27. नंदीसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, 76 पृ. 152
28. स्थानांगसूत्र, 150
29. अनुयोगद्वारसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, श्रुत निरूपण, 4
30. विशेषावश्यकभाष्य, 894
31. 'सूत्र, श्रुत-मतिपूर्वद्वयनेक-द्वादशभेदम्'-तत्त्वार्थभाष्य, 1.22
32. 'पवयणं पुण दुवालसंगे गणिपिडगे'- व्या. सू. 20.8.15
33. आवश्यकनिर्युक्ति, गा., 90, पृ. 117
34. (क) 'चउदस पुव्वा पण्णत्ता तं जहा'-समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 93, पृ. 40
    (ख) 'दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ता तं जहा'-वही, 511, पृ. 171
35. (क) समवायांगवृत्ति-पत्र, 101
    (ख) स्थानांगवृत्ति, 10.1
36. (क) नन्दी-मलयगिरि, पृ. 240
    (ख) षट्खण्डागम (धवलाटीका), वीरसेन, पु. 1, पृ. 114
37. नन्दीसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, 106, पृ. 197
38. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 551
39. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 10
40. नन्दीचूर्णि, पृ. 8
41. (क) धवला, पृ. 65 (ख) जयधवला, पृ. 83
42. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 39
43. आगम युग का जैन दर्शन, पृ. 16
44. उपासकदशांगसूत्र, सम्पा. मुनि, आत्माराम, प्रस्तावना पृ. 9
45. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि-जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 36

46. मालवणिया, दलसुख-जैन दर्शन का आदिकाल, पृ. 7
47. अनुयोगद्वार, सम्पा. मुनि मधुकर, श्रुतनिरूपण, 39, पृ. 33
48. 'गोयमा ! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति'- व्या. सू., 5.4.24
49. 'भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ'-समवायांग, मुनि मधुकर, 219 पृ. 100
50. औपपातिकसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, 56 पृ. 109
51. 'भासारिया जेण अहमागहीए भासाए भासंति'-प्रज्ञापना, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.107, पृ. 98
52. 'अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च'- नंदीसूत्र, मुनि, मधुकर, पृ. 160
53. समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 573, पृ. 197
54. नन्दीसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, 114 पृ. 204
55. वही, 82 पृ. 165
56. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 17-18
57. प्रभावकचरित, सम्पा. मुनि, जिनविजय, दूसरा आर्यरक्षित प्रबंध, 241, पृ. 17

भगवतीसूत्र व अन्य आगम ग्रंथ

भगवतीसूत्र व आचारांग

अर्धमागधी आगम साहित्य के प्रथम ग्रंथ आचारांग को अंगों का सार कहा है।[1] इसमें श्रमणों के आचार व जीवनचर्या पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय[2] में भोगों के प्रति आसक्ति, उसके निमित्त होने वाले आरंभ-सारंभ के परित्याग, ममत्वभाव तथा विषय-कषाय को छोड़कर अनासक्त जीवन जीने का उपदेश दिया गया है। अनगार का लक्षण कपट रहित बताया गया है।[3] कामभोगों में गिद्ध व आसक्त व्यक्ति के लिए कहा गया है कि वह बारबार इस संसार में चक्कर काटता है। आचारांग मे श्रमणों की भिक्षावृत्ति आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। भिक्षुओं के शुद्ध आहार की एषणा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अनगार आधाकर्मादि दोष-युक्त आहार का परिवर्जन कर निर्दोष आहार के लिए भिक्षाचरी करें।[4] आचारांग चूला का प्रथम 'पिण्डैषणा' नामक अध्ययन भिक्षु व भिक्षुणियों को आहार-शुद्धि का ज्ञान कराता है। शुद्ध-आहार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वहाँ कहा गया है कि प्रासुक व एषणीय-आहार का सेवन करने वाला श्रमण संसार को पार कर जाता है।

भगवतीसूत्र आचारांग की तरह पूर्णरूप से श्रमणों के आचार-व्यवहार को प्रतिपादित करने वाला ग्रंथ तो नहीं है, किन्तु इसमें श्रमणों के आचार-विचार पर यत्र-तत्र चर्चा अवश्य मिलती है। अल्प-इच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति, अप्रतिबद्धता, अक्रोध, अमान, अमाया व अलोभ को श्रमणों के लिए प्रशस्त बताया है। संवृत व असंवृत अनगार के प्रसंग में कहा गया है कि रागद्वेष से ग्रसित अनगार तीव्र कर्मबन्धन करता है और बार-बार इस संसार मे परिभ्रमण करता है।[5] भगवतीसूत्र[6] में अंगार दोष, धूम दोष व संयोजना दोष से युक्त तथा इन दोषों से विमुक्त आहार का विवेचन है। साधु को उसी तरह आहार करना चाहिये जिस तरह सर्प बिल में (सीधा) प्रवेश करता है। आचारांग की तरह भगवतीसूत्र में भी यह प्रतिपादित है कि प्रासुक व एषणीय आहार का सेवन करने वाला श्रमण संसार को पार कर जाता है।

आचारांग के प्रथम अध्ययन में पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों में चेतना शक्ति का निरूपण करते हुए कहा गया है कि उन्हें सुख-दुःख आदि वेदना की अनुभूति होती है। भगवतीसूत्र में भी स्थावर जीवों के आहार, श्वास, वेदना आदि की विस्तार से चर्चा की गई है। मुक्तात्मा का स्वरूप बताते हुए आचारांग[7] में उसे परिज्ञ, संज्ञ, अनुपमेय, शरीर-रहित व अपदस्त कहा है। भगवतीसूत्र में सिद्ध-स्वरूप को द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से स्पष्ट किया गया है।

भगवतीसूत्र व सूत्रकृतांग

सूत्रकृतांग एक दार्शनिक ग्रंथ है, जिसमें भगवान् महावीर के समय प्रचलित विभिन्न दार्शनिक मतों का विश्लेषण है। सूत्रकृतांग के 12वें 'समवसरण' नामक अध्ययन में क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी व अज्ञानवादी इन चार समवसरणों का वर्णन हुआ है। इसमें एकांत क्रियावाद व एकांत ज्ञानवाद से मुक्ति नहीं मानी गई है, किन्तु ज्ञान व क्रिया के समन्वय से मुक्ति मानी गई है। भगवतीसूत्र[8] में 'समवसरण' नामक उद्देशक में इन चारों दार्शनिक मतों का उल्लेख हुआ है। ज्ञान व क्रिया के संबंध को स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र[9] में कहा गया है कि जो व्यक्ति शीलवान भी है व श्रुतसम्पन्न भी है वही सच्चा आराधक है। सूत्रकृतांग[10] के छठे अध्ययन 'आर्द्रकीय' में आजीविकमत के आचार्य गोशालक, बौद्ध भिक्षु, वेदान्त दर्शन को मानने वाले ब्राह्मण परिव्राजक और हस्तितापस के उल्लेख मिलते हैं। इस दृष्टि से सूत्रकृतांग व भगवतीसूत्र में गहरा संबंध है। आजीविक मत का जितना विस्तृत विवेचन भगवतीसूत्र[11] में मिलता है अन्यत्र नहीं। इसके अतिरिक्त परिव्राजक, हस्तितापस व अन्यतीर्थिक मान्यताओं के वर्णन भी इस ग्रंथ में हुए हैं। सूत्रकृतांग[12] में पेढ़ालपुत्र उदकश्रमण द्वारा भगवान् महावीर के पास चातुर्याम धर्म से पंचमहाव्रत धर्म को स्वीकार करने का उदाहरण मिलता है। भगवतीसूत्र में ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ पार्श्वपरम्परा के अनगारों ने महावीर से तत्त्वचर्चा करने के पश्चात् चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रत रूप धर्म को स्वीकार किया है। सूत्रकृतांग[13] में लोक का स्वरूप बताते हुए उसे अनंत, अन्तरहित, नित्य, नाशरहित व शाश्वत रूप कहा गया है। भगवतीसूत्र[14] में भी लोक-स्वरूप इसी प्रकार वर्णित है। सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के चतुर्थ 'प्रत्याख्यान' नामक अध्ययन में अप्रत्याख्यान को कर्मों का मूल तथा प्रत्याख्यान को कर्ममुक्ति का मार्ग बताया गया है। भगवतीसूत्र[15] में सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी के स्वरूप पर विवेचन मिलता है।

भगवतीसूत्र और स्थानांग

स्थानांगसूत्र के अध्ययन स्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्थानांग में भेद व अभेद दृष्टि से तत्त्वचर्चा, आचार-विवेचन, ज्ञान-मीमांसा, स्व-पर-समय, जीव, जगत, तीर्थंकर, कुलकर परम्परा आदि सभी के उल्लेख हैं। भगवतीसूत्र में भी इन सभी विषयों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ विषय दृष्टव्य हैं।

स्थानांग[16] में 'एगे आया' सूत्र द्वारा समस्त जीवों में एकत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। भगवतीसूत्र[17] में चैतन्य को आत्मा से अभिन्न बताते हुए इसी एकत्व का समर्थन किया गया है। स्थानांग[18] में जो कुछ भी है उसे जीव व अजीव दो भागों में विभक्त किया गया है। भगवतीसूत्र में द्रव्य के दो प्रमुख भेद जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य प्राप्त होते हैं। स्थानांग[19] के तृतीय स्थान में लोक के तीन भेद अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक किये गये हैं। भगवतीसूत्र[20] में क्षेत्रलोक के ये तीन भेद करते हुए उनके स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स्थानांग में देव चार प्रकार के बताये गये हैं- भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और विमानवासी। भगवतीसूत्र में भी देवों के इन चार प्रकारों का विवेचन है। स्थानांग[21] में स्वाध्याय के पांच प्रकार; वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा व धर्मकथा का उल्लेख है। भगवतीसूत्र[22] में स्वाध्याय के इन पांचों भेदों का उल्लेख है। यहां पृच्छना के स्थान पर प्रतिपृच्छना शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त स्थानांग में छः लेश्या, आठ प्रकार की लोकस्थिति, दसदिशाओं, महावीर द्वारा छद्मस्थ अवस्था में देखे गये दस स्वप्न आदि के नामोल्लेख हैं। भगवतीसूत्र में छःलेश्या, दस दिशाओं, आठ प्रकार की लोक स्थिति तथा महावीर के दस स्वप्नों का विस्तृत वर्णन है। प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानांग में जिन विषयों का उल्लेख मात्र किया गया है, भगवतीसूत्र में उन सभी विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है।

भगवतीसूत्र व समवायांग

अर्धमागधी अंग साहित्य में समवायांग महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। समवायांग[23] में द्रव्य की दृष्टि से जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश आदि का निरूपण किया गया है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक, अलोक, सिद्ध-शिला, आदि पर प्रकाश डाला गया है। काल की दृष्टि से समय आवलिका, मुहूर्त्त, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरावर्तन एवं चार गतियों के जीवों की स्थिति आदि पर

चिन्तन किया गया है। भाव की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि जीव-भावों तथा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि अजीव-भावों का वर्णन भी किया गया है। भगवतीसूत्र में इन सभी विषयों पर अत्यधिक विस्तार से वर्णन प्राप्त होते हैं, जिनका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में है।

समवायांग[24] में एकत्व की दृष्टि से 'एगेलोए' 'एगे अलोए' का सिद्धान्त प्रतिपादित है। भगवतीसूत्र[25] में द्रव्य दृष्टि से लोक को एक माना है। समवायांग[26] में बाह्यतप के छः भेद व आभ्यन्तर तप के छः भेद बताये गये हैं। भगवतीसूत्र में भी बारह प्रकार के तप का विवेचन हुआ है। समवायांगसूत्र[27] में श्रमण भगवान् महावीर द्वारा तीस वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख हुआ है। भगवतीसूत्र[28] के पन्द्रहवें शतक में यही उल्लेख प्राप्त होता है कि श्रमण भगवान् महावीर 30 वर्ष की आयु में अनगार हुए। इसी तरह भगवतीसूत्र के अनेक सूत्रों की समवायांग के सूत्रों के साथ समानता दृष्टिगोचर होती है। इसका विस्तृत विवेचन मधुकर मुनि ने समवायांग सूत्र की प्रस्तावना में किया है।[29]

भगवतीसूत्र व ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञाताधर्मकथा जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कथाग्रंथ है, जिसमें कथा के माध्यम से भव्यजीवों को प्रतिबोध दिया है। ज्ञाताधर्मकथा से तुलना करने पर भगवतीसूत्र का समृद्ध सांस्कृतिक पक्ष सामने आता है। इसमें वर्णित कथानक तत्कालीन समाज व संस्कृति का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। ज्ञाताधर्मकथा में वर्णित मेघकुमार के कथानक व भगवतीसूत्र में वर्णित महाबल व जमालि के कथानक में पर्याप्त समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। मेघकुमार के कथानक[30] में मेघकुमार के जन्म से पूर्व उनकी माता द्वारा स्वप्न-दर्शन, राजा द्वारा दोहद का सम्मान, मेघकुमार का आठ रानियों से विवाह, भगवान् महावीर का नगर में पदार्पण, मेघकुमार का प्रव्रज्या धारण करने का संकल्प, माता द्वारा विलाप आदि प्रसंग महाबल[31] के चरित्र में ज्यों के त्यों वर्णित हैं। ज्ञाताधर्मकथा के सोलहवें अध्ययन में रानी द्रौपदी के कथानक में द्रौपदी के नामकरण में यह उल्लेख किया गया है कि यह बालिका द्रुपद राजा की पुत्री व चुलनी रानी की आत्मजा है, अतः बालिका का नाम द्रौपदी रखा गया। भगवतीसूत्र[32] में महाबल के कथानक में राजकुमार महाबल का नामकरण भी इसी आधार पर किया जाता है। ज्ञाताधर्मकथा में कर्म, कर्मफल व कर्मक्रिया आदि पर विवेचन प्राप्त होता है। तुम्बे के दृष्टांत द्वारा यह समझाया गया है कि कर्मों के लेप से भारी आत्मा संसार सागर में डूब जाती है जबकि कर्म-विमुक्त आत्मा संसार सागर को पार कर जाती है। भगवतीसूत्र

में कर्म पर विस्तृत चर्चा की गई है। जीव स्वकृत कर्मों को भोगता है। कर्म कौन बाँधता है, कौन नहीं इसका विस्तार से विवेचन छठे शतक में किया गया है।

ज्ञाताधर्मकथा में मल्लिकुमारी के कथानक द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि स्त्री भी मोक्ष पद को प्राप्त कर सकती है। भगवतीसूत्र[33] में जयन्ती श्राविका द्वारा तत्त्व चर्चा, वैराग्य धारण व मोक्ष प्राप्ति के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

भगवतीसूत्र व प्रज्ञापनासूत्र

सम्पूर्ण जैन अंग साहित्य में जो स्थान पंचम अंग भगवतीसूत्र का है वही स्थान उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र का है। भगवतीसूत्र की तरह इसे भी जैन तत्त्वज्ञान का बृहत् कोश कहा जा सकता है। इसमें जीव अजीव की प्रज्ञापना करते हुए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उन पर विचार किया गया है। भगवतीसूत्र में इन सभी विषयों का विवेचन मिलता है। भगवतीसूत्र में अनेक स्थानों पर 'जहा पण्णवणाए' कहकर प्रज्ञापना सूत्र के 1, 2, 5, 6, 11, 15, 17, 24, 25, 26, 27, 28वें पद से प्रस्तुत विषय की पूर्ति करने हेतु सूचना दी गई है। इससे दोनों की विषय साम्यता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अधिक लोकप्रिय व पूजनीय ग्रंथ होने के कारण व्याख्याप्रज्ञप्ति के साथ 'भगवती' विशेषण जुड़ गया उसी प्रकार प्रज्ञापना उपांग के प्रत्येक पद की समाप्ति पर 'पण्णवणाए भगवईए' कहकर प्रज्ञापना के लिए भगवती विशेषण प्रयुक्त किया गया है। प्रज्ञापना की रचना भी भगवतीसूत्र की तरह प्रश्नोत्तर शैली में की गई है। किन्तु, 81वें सूत्र तक प्रश्नकर्ता व उत्तरदाता का उल्लेख नहीं मिलता है। बाद में कुछ जगह गौतम गणधर व महावीर के बीच प्रश्नोत्तर का उल्लेख है। भगवतीसूत्र में प्रायः हर सूत्र में प्रश्नकर्ता व उत्तरदाता का उल्लेख है।

प्रज्ञापना के प्रथम पद में प्रज्ञापना को जीव-अजीव इन भागों में विभक्त किया गया है। अजीव के दो भेद- रूपी व अरूपी कर रूपी में पुद्गल व अरूपी में धर्म, अधर्म, आकाश और अद्धासमय का समावेश किया है। आगे जीव के भेदों-प्रभेदों पर विस्तार से वर्णन है। प्रज्ञापना में वर्णित जीव-अजीव का वर्णन क्रमबद्धता लिए हुए हैं। भगवतीसूत्र में यही वर्णन प्रश्नानुसार है।

भगवतीसूत्र व उत्तराध्ययन

जैन अर्धमागधी साहित्य में उत्तराध्ययन का गौरवपूर्ण स्थान है। विषय व भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ प्राचीन है। उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों में जो विषयवस्तु वर्णित है, उसका वर्णन भगवतीसूत्र में भी मिलता है। उत्तराध्ययन[34] के विनय सूत्र में गुरु-शिष्य संबंधों के उत्कृष्ट विवेचन में अनुशासन को सर्वाधिक

महत्त्व दिया गया है। वहाँ अनुशासन का अर्थ शुश्रूषा, सदाचार अथवा शिष्टाचार से है। भगवतीसूत्र[35] में भी विनय के सात प्रकारों का वर्णन हुआ है–

1. ज्ञान-विनय 2. दर्शन-विनय 3.चारित्र-विनय 4. मन-विनय,
5. वचन-विनय 6. काय-विनय 7.लोकोपचार-विनय।

उत्तराध्ययन[36] के द्वितीय अध्ययन में 22 परीषहों के नाम व स्वरूप का वर्णन है। भगवतीसूत्र[37] में 22 परीषहों के नामों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किन कर्मप्रकृतियों के कारण कौन से परीषह होते हैं। उत्तराध्ययन के तेतीसवें अध्ययन में 'कर्मप्रकृति' का वर्णन है। भगवतीसूत्र में भी आठ कर्मप्रकृतियों का विवेचन किया गया है।

उत्तराध्ययन[38] में लोक को धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव व पुद्गल इन छः द्रव्यों का समूह बताया गया है। भगवतीसूत्र[39] में लोक को पंचास्तिकाय रूप माना है। उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन में जीव-अजीव के स्वरूप को स्पष्ट किया है। भगवतीसूत्र में भी जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य के स्वरूप, भेद-प्रभेद आदि का विस्तार से निरूपण है। उत्तराध्ययन[40] में श्रमण के आचार का वर्णन करते हुए क्रोध, मान, माया व लोभ इन कषायों को त्यागने का निर्देश दिया गया है। भगवतीसूत्र[41] में भी अक्रोध, अमान, अमाया व अलोभ को श्रमण के लिए प्रशस्त बताया गया है। इसके अतिरिक्त ज्ञान, पांच समिति, तीन गुप्ति, तप, मरण के प्रकार आदि अनेक विषय हैं, जिनका दोनों ही ग्रंथों में विवेचन है। वस्तुतः उत्तराध्ययन में पद्यात्मक रूप में जो सामग्री विवेचित है वह प्रायः गद्यात्मक रूप में भगवतीसूत्र में देखी जा सकती है।

संदर्भ

1. आचारांग निर्युक्ति, 16
2. आचारांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.2.2.69-74
3. 'से जहा वि अणगारे उज्जुकडे णियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिते।' – वही, 1.1.3.19
4. वही, 1.2.5.91, 87
5. व्या. सू., 1.9.17., 18, 1.1.11
6. वही, 7.1.17-20
7. 'परिण्णे सण्णे उवमा ण विज्जति अरूवी अपदस्स पदं णत्थि'-आचारांग सम्पा. मुनि, मधुकर, 1.5.6.176, पृ. 188
8. व्या. सू., 30.1.1
9. वही, 8.10.2
10. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सम्पा. मुनि मधुकर, अध्ययन 6

11. व्या. सू. 15.1
12. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सम्पा. मुनि मधुकर, 7.873, पृ. 216
13. सूत्रकृतांग, मुनि मधुकर, 1.4.6, पृ. 92
14. 'धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे'-व्या. सू. 9.33.101
15. वही, 7.2.1-35
16. स्थानांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.2, पृ. 3
17. 'जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे।'- व्या. सू. 6.10.2
18. 'जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं, तं जहा जीवच्चेव अजीवच्चेव।'- स्थानांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 2.1.1, पृ. 24
19. वही, 3.2.140, पृ. 120
20. व्या. सू., 11.10.3-6
21. 'पंचविह सज्झाए पण्णत्ते, तं जहा वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा'-स्थानांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 5.3.220, पृ. 525
22. 'वायणा, पडिपुच्छना परियऽणा अणुप्पेहा धम्मकहा'-व्या. सू., 25.7.236
23. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि, जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 104
24. समवायांगसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर 1.7-8, पृ. 5
25. 'दव्वओ णं एगे लोए सअंते'- व्या. सू. 2.1.24
26. समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 31, पृ. 15
27. वही, 201, पृ. 91
28. व्या. सू. 15.1.21
29. समवायांगसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, प्रस्तावना, पृ. 60-86
30. ज्ञाताधर्मकथा, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.17-160
31. व्या. सू. 11.11
32. वही, 11.11.44
33. व्या. सू. 12.2
34. उत्तराध्ययन, अध्याय 1
35. व्या. सू. 25.7.219
36. उत्तराध्ययन, 2.1-46
37. व्या. सू. 8.8.23-34
38. 'धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहिं।।' उत्तराध्ययन, 28.7
39. पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोए त्ति पवुच्चइ,
तं जहा-धम्मऽत्थिकाए, अधम्मऽत्थिकाए, जाव पोग्गलऽत्थिकाए।' व्या. सू. 13.4.23
40. उत्तराध्ययन, 4.12
41. व्या. सू. 1.9.18



भगवतीसूत्र :
स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

ग्रन्थ-परिचय एवं व्याख्यासाहित्य

भगवान् महावीर की वाणी गणधरों द्वारा द्वादशांग में संकलित की गई है। यही कारण है कि समस्त जैन सिद्धान्तों का मूल आधार बारह अंग माने जाते हैं। इन बारह अंगों में से दृष्टिवाद के विच्छिन्न हो जाने के कारण वर्तमान में एकादश अंग शास्त्र ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्यारह अंगों में से पाँचवें अंग का प्राकृत नाम **विआहपण्णत्ति** है। इसका संस्कृत रूपान्तरण **व्याख्याप्रज्ञप्ति** है। प्रस्तुत आगम ग्रंथ में गौतम गणधर व प्रसंगवश अन्य श्रमणों और शिष्यों द्वारा पूछे गये 36,000 प्रश्नों का उत्तर श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर ने अपने श्रीमुख से दिया है। ज्ञान के अथाह सागर रूप इस ग्रंथ में प्राय: सभी विषयों से संबंधित प्रश्नोत्तर विवेचित हैं। ज्ञान के अगाध भण्डार से परिपूर्ण इस ग्रंथ को समस्त उपलब्ध आगम ग्रंथों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। इसे शास्त्रराज कहकर सम्बोधित किया गया है।

नामकरण

प्रश्नोत्तर शैली में लिखा जाने वाला ग्रंथ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है। 'व्याख्या' का अर्थ है 'विवेचन करना' तथा 'प्रज्ञप्ति' का अर्थ है 'समझाना'। अर्थात् जिसमें विवेचनपूर्वक तत्त्व को समझाया जाये, वह व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है।[1] समवायांग[2] व नंदीसूत्र[3] में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' व 'व्याख्या' ये दो नाम मिलते हैं। यहाँ 'व्याख्या' शब्द व्याख्याप्रज्ञप्ति का ही संक्षिप्तिकरण प्रतीत होता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्राकृत भाषा में नाम 'वियाहपण्णत्ति' है। व्याख्याप्रज्ञप्ति इसी का संस्कृत रूपान्तरण है तथा इसका लोकप्रचलित नाम भगवती (भगवई) है। इसके व्याख्याप्रज्ञाप्ति, व्याख्याप्रज्ञात्ति आदि नाम भी मिलते हैं। नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने व्याख्याप्रज्ञप्ति की वृत्ति[4] के प्रारंभ में व्याख्याप्रज्ञप्ति के भिन्न-भिन्न नामों की सटीक व्याख्या प्रस्तुत की है।

✪ वि + आ + ख्या + प्र + ज्ञप्ति = **व्याख्या-प्रज्ञप्ति**

अर्थात् गौतम आदि शिष्यों को उनके प्रश्नों का उत्तर प्रदान करते हुए श्रमण भगवान् महावीर द्वारा श्रेष्ठतम विधि से जीव-अजीव आदि अनेक ज्ञेय पदार्थों की व्यापकता एवं विशालतापूर्वक की गई व्याख्याओं का गणधर आर्य सुधर्मा द्वारा अपने शिष्य जम्बू के समक्ष प्ररूपण जिस ग्रंथ में किया गया वह ग्रंथ व्याख्याप्रज्ञप्ति है। दूसरे शब्दों में गौतम आदि शिष्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर की महावीर द्वारा प्रज्ञापना, जिस शास्त्र में की गई, वह व्याख्याप्रज्ञप्ति है। आचार्य अभयदेवसूरि ने व्याख्याप्रज्ञप्ति के पृथक्-पृथक् रूपान्तरणों का निर्वचन इस प्रकार किया है-

- व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति = व्याख्याप्रज्ञाप्ति
- व्याख्या + प्रज्ञा + आत्ति = व्याख्याप्रज्ञात्ति

अर्थात् इसमें व्याख्या की प्रज्ञा से अर्थ की प्राप्ति होती है, इसलिए यह व्याख्याप्रज्ञाप्ति या व्याख्याप्रज्ञात्ति है।

- व्याख्याप्रज्ञ + आप्ति = व्याख्याप्रज्ञाप्ति
- व्याख्याप्रज्ञ + आत्ति = व्याख्याप्रज्ञात्ति

अर्थात् व्याख्या करने में प्रज्ञ भगवान् महावीर के द्वारा गणधरों को अर्थ रूप में ज्ञान की प्राप्ति हुई है, अतः इस आगम का नाम व्याख्याप्रज्ञाप्ति या व्याख्याप्रज्ञात्ति है। इसके दो अन्य पाठ 'विवाहपण्णत्ति' तथा 'विबाहपण्णत्ति' भी मिलते हैं। वृत्तिकार ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है;

- वि + वाह + प्रज्ञप्ति = विवाहप्रज्ञप्ति। अर्थात् जिसमें विविध या विशिष्ट अर्थप्रवाहों (नयप्रवाहों)का प्रज्ञापन किया हो उस श्रुत का नाम विवाहप्रज्ञप्ति है।
- वि + बाध + प्रज्ञप्ति = विबाधप्रज्ञप्ति। इसमें बाधा रहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित ज्ञान का निरूपण है, अतः यह विबाधप्रज्ञप्ति है। गौतम गणधर आदि शिष्यों व महावीर के प्रश्नोत्तर रूप में होने के कारण दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ कषायपाहुड[5] तथा राजवार्तिक[6] में इसका नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' मिलता है।

भगवती विशेषण

इस आगम का दूसरा नाम भगवती है। भगवती वृत्ति में इसका उल्लेख हुआ है- **इयं च भगवतीत्यपि पूज्यत्वेनाभिधीयते**- (पृ० 2)। समवायांग में भी वियाहपण्णत्ति के साथ 'भगवती' विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है- **विवाहपन्नत्तीए णं भगवतीए चउरासीइं पयसहस्सा पदग्गेणं पण्णत्ता**- (पृ. 143, मधुकर मुनि)। वस्तुतः व्याख्याप्रज्ञप्ति एक विशिष्ट आगम था, लोगों की इसके प्रति अपूर्व श्रद्धा व भक्ति के कारण इससे 'भगवती' विशेषण जुड़ गया जो

बाद में इसका स्वतंत्र नाम बन गया। इस सम्बन्ध में मधुकर मुनि[7] ने लिखा है– 'वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी अद्‌भुत ज्ञाननिधि से परिपूर्ण है। जिस शास्त्र में अनन्तलब्धिनिधान गणधर गुरु श्री इन्द्रभूति गौतम तथा प्रसंगवश अन्य श्रमणों आदि द्वारा पूछे गये 36,000 प्रश्नों का श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर के श्रीमुख से दिये गये उत्तरों का संकलन-संग्रह है, उसके प्रति जनमानस में श्रद्धा-भक्ति *और पूज्यता होना स्वाभाविक है। वीतरागप्रभु की वाणी में समग्र जीवन को पावन* एवं परिवर्तित करने का अद्‌भुत सामर्थ्य है, वह एक प्रकार से भागवती शक्ति है, इसी कारण जब भी व्याख्याप्रज्ञप्ति का वाचन होता है तब गणधर भगवान् श्री गौतमस्वामी को सम्बोधित करके जिनेश्वर भगवान् महावीर प्रभु द्वारा व्यक्त किये गये उद्‌गारों को सुनते ही भावुक भक्तों का मन-मयूर श्रद्धा-भक्ति से गद्‌गद होकर नाच उठता है। श्रद्धालु भक्तगण इस शास्त्र के श्रवण को जीवन का अपूर्व अलभ्य लाभ मानते हैं। फलतः अन्य अंगों की अपेक्षा विशाल एवं अधिक पूज्य होने के कारण व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षों से तो 'भगवती' शब्द विशेषण न रह कर स्वतंत्र नाम हो गया है। वर्तमान में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा '**भगवती**' नाम ही अधिक प्रचलित है।'

आकार

व्याख्याप्रज्ञप्ति विशालकाय आगम ग्रंथ है। समवायांगसूत्र[8] व नन्दीसूत्र[9] में इसके प्राचीन आकार का उल्लेख प्राप्त होता है। समवायांग में इसका प्राचीन आकार इस प्रकार बताया गया है– 'व्याख्याप्रज्ञप्ति में एक श्रुतस्कन्ध है, सौ से कुछ अधिक अध्ययन हैं, दस हजार उद्देशक हैं, दस हजार समउद्देशक हैं, छत्तीस हजार प्रश्नों के उत्तर हैं। पद-गणना की अपेक्षा चौरासी हजार पद हैं। संख्यात अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय हैं, परीत त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं। वाचनाएँ परीत हैं, अनुयोगद्वार संख्यात हैं, प्रतिपत्तियाँ संख्यात हैं। वेढ (छंद विशेष) संख्यात हैं, श्लोक संख्यात हैं और निर्युक्तियाँ संख्यात हैं।' नन्दीसूत्र में भी व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्राचीन आकार समवायांग सूत्र की तरह ही बताया गया है, किन्तु पदों की संख्या दो लाख अट्‌ठासी हजार बताई गई है। दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ षट्‌खंडागम, कषायपाहुड व राजवार्तिक के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ में 60,000 प्रश्नों का व्याकरण है।[10] आचार्य वीरसेन[11] के अनुसार इस आगम में प्रश्नोत्तर के साथ-साथ 96,000 छिन्न-छेदक नयों से प्रज्ञापनीय शुभ व अशुभ का वर्णन है। जयधवला[12] के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में दो लाख अट्‌ठाइस हजार पद हैं।

वर्तमान आकार

व्याख्याप्रज्ञप्ति का जो वर्तमान आकार आज प्राप्त है वह समवायांग व नन्दीसूत्र में वर्णित आकार से भिन्न है। वर्तमान में इसमें मुख्य रूप से 41 शतक हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की समाप्ति पर **इक्कचत्ताली सइमं रासी जुम्मसयं समत्त** पद प्राप्त होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के उपसंहार में इसके वर्तमान आकार का निरूपण किया गया है–

सव्वाए भगवतीए अट्ठत्तीसं सयं सयाणं (138)।
उद्देसगाणं एगूणविंसतिसताणि पंचविंसइअहियाणि (1925)।।
चुलसीतिसयसहस्सा पयाण पवरवरणाण-दंसीहिं।
भावाभावमणंता पण्णत्ता एत्थमंगम्मि।। - (उपसंहार, 1 2)

अर्थात् सम्पूर्ण भगवतीसूत्र में कुल 138 शतक हैं और 1925 उद्देशक हैं। प्रवरज्ञान-दर्शन धारक महापुरुषों ने इस अंग सूत्र में 84 लाख पद कहे हैं तथा विधि-निषेध रूप भाव तो अनन्त कहे हैं। 138 शतकों का परिमाण इस प्रकार है; प्रथम बत्तीस शतक स्वतंत्र हैं, तेतीसवें शतक से लेकर उनतालीसवें शतक तक सात शतकों में बारह-बारह अवान्तर शतक हैं, चालीसवां शतक इक्कीस शतकों का समवाय है, इकतालीसवां शतक स्वतंत्र है। इस प्रकार सभी शतकों को मिलाने से 32+(12X7=84)+21+1=138 शतक होते हैं।

उद्देशक की संख्या उपसंहार में 1925 बताई गई है जबकि शतकों के प्रारंभ में दी गई संग्रहणी गाथाओं के अनुसार उद्देशकों की संख्या 1923 ही होती है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए मधुकर मुनि[13] ने लिखा है कि बीसवें शतक के 12 उद्देशक गिने जाते हैं, किन्तु प्रस्तुत वाचना में पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय इन तीनों का एक सम्मिलित (छठा) उद्देशक ही उपलब्ध होने से दस ही उद्देशक होते हैं। इस प्रकार दो उद्देशक कम हो जाने से गणनानुसार उद्देशकों की संख्या 1923 होती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के वर्तमान आकार, शतक, उद्देशक व अक्षर परिमाण का निरूपण मधुकर मुनि द्वारा व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भाग-4) में तथा आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा भगवई खण्ड-1 में प्रस्तुत किया गया है। शतक व उद्देशक संख्या तो समान है परन्तु अक्षर परिमाण संख्या कुछ भिन्न है।[14]

विभाग-अवान्तर विभाग

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन शतक के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह शत (सय) का ही रूप है। शतक का शाब्दिक अर्थ सौ होता है, किन्तु यहाँ शतक शब्द से सौ संख्या का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह संभवतः अध्ययन शब्द के लिए ही रूढ़ है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अन्त में उपसंहार में **'इक्कचत्तालीसइमं रासी जुम्मसयं समत्तं'** पद प्राप्त होता है। समवायांग[15] व नन्दीसूत्र[16] में अध्ययन शब्द का ही प्रयोग मिलता है। **'एगे साइरेगे अज्झयणसते'** अर्थात् व्याख्याप्रज्ञप्ति में सौ से अधिक शतक हैं, किन्तु नंदी के चूर्णिकार[17] ने शत का अर्थ **'अध्ययन'** से ही लिया है। भगवतीसूत्र में कई जगह 'शत' शब्द का ही प्रयोग हुआ है– **जहा सक्कस्स वत्तव्वता ततियसते** - (4.4)

समवायांग व नंदी में व्याख्याप्रज्ञप्ति के विवरण में अध्ययन शब्द का प्रयोग तथा मूल आगम में शत शब्द का प्रयोग है, इसलिए शत को अध्ययन का पर्यायवाची माना गया है।

रचनाकार व रचनाकाल

भगवतीसूत्र का द्वादशांगी में पाँचवां स्थान है। सूत्ररूप में इसके रचनाकार गणधर सुधर्मा हैं। डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. जगदीश चन्द्र जैन आदि कई विद्वानों ने इसकी विषयवस्तु, महत्त्व आदि का उल्लेख किया है, परन्तु रचनाकार तथा रचनाकाल पर विशेष सामग्री प्रस्तुत नहीं की है। देवेन्द्र मुनि ने भी इस सम्बन्ध में यही लिखा है कि इसकी मूल रचना प्राचीन ही है। यह गणधरकृत ही है।[18] भगवई खण्ड-1[19] में इसके प्रस्तुत संस्करण की रचना का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इसका प्रस्तुत संस्करण देवर्द्धिगणि की वाचना के समय का है। ई.पू. पाँच सौ से ईसवी सन् पाँच सौ तक के सूत्र इसमें मिलते हैं। गौतम द्वारा पूछे जाने पर कि भगवान् यह पूर्वगत श्रुत कब तक चलेगा? भगवान् महावीर द्वारा उत्तर दिया गया कि इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में मेरा पूर्वगत श्रुत एक हजार वर्ष तक रहेगा–

गोयमा! जंबुद्वीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सति - (20.8.10)।

इस सूत्र का स्पष्टीकरण देते हुए आचार्य महाप्रज्ञ जी ने 'भगवई'[20] में कहा है कि यह सूत्र संकलनकालीन रचना है। भगवान् महावीर के प्रवचन में कहीं भी भविष्यवाणी नहीं है। यह सामयिक स्थिति का आकलन करने वाला सूत्र देवर्द्धिगणि की वाचना के समय जोड़ा गया प्रतीत होता है। समर्पणसूत्रों या निर्देश सूत्रों के अध्ययन से यही प्रमाणित होता है कि प्रस्तुत आगम में अनेक शताब्दियों की रचना का संकलन किया गया है। भगवतीसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डॉ. जे.सी. सिकदर ने अपने शोध प्रबंध[21] में इस ग्रंथ के रचनाकाल पर आन्तरिक व बाह्य दोनों प्रकार के साक्ष्यों का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि इस ग्रंथ के कुछ संदर्भ यदि ईसा पूर्व

पाँचवीं शती के हैं तो कुछ सन्दर्भ ईसा की छठी शताब्दी के भी हैं। अत: इस ग्रंथ की रचनाकाल की अवधि ईसा पू. 500 से ईसा की छठी शती अर्थात् लगभग 1,000 वर्ष की है। डॉ० शुब्रिंग आदि विदेशी विद्वानों ने रचना के आधार पर इसके मूल पाठ व परिवर्धित पाठों के रचनाकाल के निर्धारण का प्रयास किया है, किन्तु यह अभी भी शोध का विषय है। इसके विभिन्न पाठों का रचनाकाल निकालने के लिए भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन और रचनाशैली आदि अनेक साक्ष्यों के गहन विश्लेषण की आवश्यकता है।

रचना शैली

प्रस्तुत आगम की रचना प्रश्नोत्तर शैली में हुई है। नन्दीसूत्र के चूर्णिकार[22] ने इसका उल्लेख करते हुए बताया है कि गौतमादि शिष्यों द्वारा पूछे गये तथा नहीं पूछे गये जो प्रश्न थे, इसमें उसका व्याकरण है। राजवार्तिक[23] में भी व्याख्याप्रज्ञप्ति में इसी प्रकार की प्रश्नोत्तर शैली होने का उल्लेख मिलता है। उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में भी यही प्रश्नोत्तरशैली विद्यमान है, जो संभवत: प्राचीन ही प्रतीत होती है।

ग्रंथ की रचनाशैली में एक प्रमुख बात सामने आती है कि इस ग्रंथ में विषयों का विवेचन अन्य ग्रंथों की तरह क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित ढंग से नहीं मिलता है। पूरे ग्रंथ में विषयवस्तु बिखरी-बिखरी सी लगती है। संभवत: इसका कारण यह रहा होगा कि प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये इस ग्रंथ में प्रश्नकर्ता गौतम गणधर, माकन्दिपुत्र, रोह अनगार, अग्निभूति, वायुभूति, स्कन्दक परिव्राजक,पार्श्व-परम्परा के अनगार, जयन्ती श्राविका आदि थे। कभी-कभी अन्यधर्मतीर्थावलम्बी भी अपनी शंका समाधान हेतु महावीर से प्रश्न करते थे। इन सभी प्रश्नकर्ताओं के मन में जब कोई जिज्ञासा उत्पन्न होती, तभी वे भगवान् महावीर से उसका समाधान प्राप्त करने पहुँच जाते। गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा संकलन करते समय उन प्रश्नोत्तरों को उसी क्रम में उसी रूप में ग्रथित कर लिया गया। अत: विषयों की अक्रमबद्धता प्रस्तुत आगम की प्रामाणिकता को पुष्ट करती है।

इसकी प्रश्नोत्तर शैली की कुछ मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं-

(1) कहीं कहीं प्रश्न व उत्तर दोनों की भाषा संक्षिप्त है-

तिरियलोए णं भन्ते! पुच्छा।

गोयमा! असंखेज्जइभागं फुसइ। - (2.10.15)

(2) कहीं प्रश्न विस्तृत है और उत्तर संक्षिप्त है। अत: प्रति प्रश्न भी किया गया है। प्रति प्रश्न **'से केणट्ठेणं भंते'** से प्रारंभ होता है।[24]

(3) कहीं प्रश्न संक्षिप्त है तो उत्तर विस्तृत है।[25]

(4) कहीं कहीं फुटकर प्रश्न हैं[26] तो कहीं एक ही प्रकरण से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर की शृंखला चलती है।[27]

(5) जैनागमों की तत्कालीन प्रश्नोत्तर पद्धति के अनुसार प्रस्तुत आगम में प्रश्नों का पुनरुच्चारण, फिर उत्तर में प्रश्न का दोहराना, तथा कभी कभी पुनः उत्तर का उपसंहार करते हुए प्रश्न को दोहराना आदि विशेषताएँ भी देखने को मिलती हैं।[28]

(6) प्रश्नोत्तर में प्रायः प्रत्यक्ष शैली का ही प्रयोग हुआ है परन्तु कहीं-कहीं अप्रत्यक्ष शैली का प्रयोग भी देखने को मिलता है। कठिन विषयों को समझाने के लिए दैनिक जीवन के प्रसंगों व रूपकों का प्रयोग करते हुए उनका सरलीकरण किया गया है। कर्मरहित जीव की ऊर्ध्व गति को सूखी मटर की फली तथा तुम्बा के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।[29]

(7) जहाँ एक ही प्रश्न के एक से अधिक उत्तर-प्रत्युत्तर होते, वहाँ भगवान् महावीर प्रश्नकर्ता की दृष्टि व भावना को ध्यान में रखकर स्वयं प्रति प्रश्न करके समाधान प्रस्तुत करते हैं-

पुव्विं भंते! अंडए? पच्छा कुक्कडी? पुव्विं कुक्कडी? पच्छा अंडए?
रोहा! से णं अंडए कतो?
भगवं! तं कुक्कुडीतो।
स णं कुक्कुडीकतो?
भंते! अंडगातो।
एवामेव रोहा! से य अंडए सा य कुक्कुडी, पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वेते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा! - (1.6.16)

(8) प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये इस आगम में कुछ प्रकरण कथानक शैली में भी लिखे गये हैं यथा- गोशालक का कथानक, महाबल का प्रकरण, राजाउदायन का चरित, जमालिचरित आदि।

(9) गद्यशैली में लिखे गये इस ग्रंथ में प्रतिपाद्य विषय का संकलन करने वाली संग्रहणीय गाथाओं के लिए पद्यभाग का प्रयोग हुआ है जिसमें उस शतक के सभी उद्देशकों की सूचना दी गई है। प्रायः संग्रहणीय गाथा शतक के प्रारंभ में ही आई है परन्तु कहीं-कहीं गद्य के मध्य में भी गाथाएँ मिलती हैं।[30]

व्याख्या साहित्य

भगवतीसूत्र मूल में ही इतना विस्तृत ग्रंथ है कि इस पर मनीषी आचार्यों ने व्याख्याएँ कम ही लिखी हैं। इस पर लिखा कोई प्राचीन भाष्य उपलब्ध नहीं है। वर्तमान में विस्तृत भाष्य सहित **भगवई विआहपण्णत्ती** के भिन्न-भिन्न खण्डों का प्रकाशन जैन विश्व भारती लाडनूँ से हो रहा है।

निर्युक्ति– नंदीसूत्र[31] में उपलब्ध ग्यारह अंगों के विवरण में सभी अंगों में संख्येय निर्युक्तियों का उल्लेख है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के वर्णन में भी संख्यात निर्युक्तियों का उल्लेख मिलता है। यथा '**संखिज्जाओं निज्जुत्तीओ**' लेकिन इस बात का यहाँ कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है कि ये निर्युक्तियाँ आगम के साथ जुड़ी हुई थीं या स्वतंत्र व्याख्या ग्रंथ के रूप में थीं। प्रस्तुत आगम में कुछ निर्युक्त शब्द मिलते हैं–

1. **जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा, उस्ससइ वा, नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया** (2.1.8)
2. **जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भुए त्ति वत्तव्वं सिया** (2.1.8)
3. **जम्हा जीवे जीवति, जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवति तम्हा जीवे त्ति वत्तव्य सिया** (2.1.8)
4. **जे लोक्कइ से लोए** - (5.9.14)

निक्षेप निर्युक्ति का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है। यह उदाहरण दृष्टव्य है–

दव्वओ लोए असंते,
खेत्तओ लोए सअंते
कालओ लोए अणंते
भावओ लोए अणंते - (2.1.24)

चूर्णि– व्याख्याप्रज्ञप्ति पर विस्तार से चूर्णि नहीं लिखी गई है। किन्तु, जिनदास महत्तर कृत एक अति लघु चूर्णि इस पर लिखी मिलती है, इसका विवरण आचार्य महाप्रज्ञ जी ने भगवई खण्ड-1[32] में इस प्रकार दिया है– 'उसकी पत्र संख्या 80 है। उसका ग्रंथमान 3590 श्लोक परिमाण है। उसके प्रारंभ में मंगलाचरण नहीं है और अन्त में प्रशस्ति नहीं है। रचनाकार और रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं है। चूर्णि की भाषा प्राकृत प्रधान है।' इसे प्राकृत प्रधान चूर्णियाँ; नंदीचूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि और जीतकल्पचूर्णि की कोटि में रखा जा सकता है।

वृत्ति– भगवतीसूत्र पर नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि की लिखी वृत्ति उपलब्ध है। यह वृत्ति मूलानुसारी है। सं. 1128 अणहिलपाटक नगर में इस वृत्ति की रचना हुई थी। इसका ग्रंथमान अनुष्टुप श्लोक के अनुपात से 18,616 है। वृत्ति का प्रारंभ मंगलाचरण के साथ किया गया है। मंगलाचरण में सर्वप्रथम जिनेश्वर देव को नमस्कार किया गया है। उसके बाद भगवान् महावीर, गणधर सुधर्मा, अनुयोग वृद्धजनों को तथा सर्वज्ञप्रवचन को श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् आचार्य अभयदेवसूरि ने व्याख्याप्रज्ञप्ति की प्राचीन टीका और चूर्णि तथा जीवा-जीवाभिगम आदि की वृत्तियों की सहायता से प्रस्तुत आगम को विवेचित करने का संकल्प किया है।[33]

अभयदेवसूरि की यह वृत्ति बहुत ही संक्षिप्त है। प्रायः शब्दों की दृष्टि से ही अर्थ की प्रधानता है, लेकिन कई जगह ऐसे उदाहरण भी दिये गये हैं, जिससे आगम के गूढ़ रहस्यों को सरलता से समझा जा सके। वृत्ति में आचार्य अभयदेवसूरि ने 'पाठान्तर' व व्याख्याभेद भी दिये हैं। कई जगह अर्थ को सरलता से समझाने का प्रयत्न भी किया गया है। वृत्ति में आचार्य ने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' शब्द की भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। प्रत्येक शतक की वृत्ति के अन्त में वृत्ति समाप्ति सूचक एक-एक श्लोक भी दिया है। वृत्ति की समाप्ति पर प्रशस्ति में 16 श्लोक हैं, जिनमें उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का परिचय दिया है। वृत्ति के शोधनकार द्रोणसूरि के प्रति तथा सहायकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है तथा अन्त में रचना की पूर्णाहूति का काल व ग्रंथमान का उल्लेख किया गया है।

अन्य टीका ग्रंथ

अभयदेवसूरि ने व्याख्याप्रज्ञप्ति की प्राचीन टीका व चूर्णि का उल्लेख किया है। इसका विस्तृत विवेचन भगवई, खण्ड-1[34] में किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि संभवतः यह टीका आचार्य शीलांक की होनी चाहिये, जो कि आज उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि आचार्य शीलांक ने नौ अंगों पर टीका लिखी थी। वर्तमान में आचारांग और सूयगड़ांग पर ही उनकी टीकाएँ प्राप्त हैं, शेष सात आगमों पर नहीं। आचार्य शीलांक के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने इस पर व्याख्या लिखी हो यह उल्लेख प्राचीन साहित्य में नहीं है। स्वयं आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति के प्रारंभ में चूर्णि का उल्लेख किया है, अतः प्राचीन टीका चूर्णि नहीं हो सकती। यह अन्य वृत्ति ही होगी। व्याख्याप्रज्ञप्ति पर परवर्तीकाल में भी वृत्ति, व्याख्या आदि लिखे जाते रहे हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति पर दूसरी वृत्ति आचार्य मलयगिरि की है। यह वृत्ति द्वितीय शतक वृत्ति के रूप में विश्रुत है। इसका श्लोक प्रमाण 3,750 है। हर्षकुल ने भगवतीसूत्र पर विक्रम संवत् 1583 में एक टीका लिखी। दानशेखर ने व्याख्याप्रज्ञप्ति पर लघुवृत्ति लिखी है। भावसागर व पद्मसुन्दरगणि ने भी व्याख्याप्रज्ञप्ति पर व्याख्याएँ लिखी हैं। आधुनिक युग में भी आचार्यों द्वारा इस विशाल ग्रंथ का अपनी दृष्टि से मूल्यांकन किया जा रहा है। स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री घासीलाल जी म. ने भगतवीसूत्र पर व्याख्या लिखी है। इन सभी व्याख्याओं की भाषा संस्कृत रही है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति पर लिखी गई टीकाओं व व्याख्याओं की भाषा संस्कृत-प्राकृत प्रधान होने के कारण जन साधारण के लिए उन्हें समझ पाना बहुत ही कठिन था। तब लोक भाषाओं का प्रयोग करते हुए सरल व सुबोध शैली में संक्षिप्त टीकायें लिखी जाने लगीं। ये टीकायें शब्दार्थ प्रधान थीं। विक्रम की 18वीं शताब्दी में स्थानकवासी आचार्य मुनि धर्मसिंह जी ने सत्ताईस आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे थे। उनमें से एक टब्बा व्याख्याप्रज्ञप्ति पर भी था। धर्मसिंह मुनि ने भगवती का एक यन्त्र भी लिखा है।

टब्बा के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारंभ हुआ। भगवतीसूत्र का तीन भाषाओं में अनुवाद मिलता है- अंग्रेजी, गुजराती व हिन्दी। ग्रंथ के 14वें शतक तक का अंग्रेजी अनुवाद Hoernel Appendix ने किया, गुजराती अनुवाद पं. भगवानदास दोशी, पं. बेचरदास दोशी, गोपालदास जीवाभाई पटेल और घासीलाल जी म. आदि ने किया। हिन्दी अनुवाद आचार्य अमोलक ऋषि जी, मदन कुमार मेहता, प. घेवरचन्द जी बांठियां आदि ने किया।[35] युवाचार्य मधुकर मुनि के नेतृत्व में आगम बत्तीसी पर कार्य प्रारंभ हुआ। इसी कार्य के अन्तर्गत व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र का मूल, हिन्दी अनुवाद व विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त जैन विश्व भारती, लाडनूं से आचार्य महाप्रज्ञ जी के नेतृत्व में विस्तृत भाष्य सहित 'भगवई' विभिन्न खण्डों में प्रकाशित हो रहा है, जिसमें हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ जिनदासमहत्तर-कृत चूर्णि एवं अभयदेवसूरि-कृत वृत्ति भी प्रकाशित है।

संदर्भ

1. भगवई (खण्ड-1) सम्पा. आचार्य महाप्रज्ञ, भूमिका, पृ. 15
2. समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 511, 527, पृ. 171, 178
3. नंदीसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, 76, 87, पृ. 152, 179
4. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पृ. 2

5. कषायपाहुड, (भाग-1), पृ. 114 भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा
6. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20, पृ. 73
7. व्या.सू. (भाग-1), सम्पा. मुनि मधुकर, प्रस्तावना, पृ. 15
8. समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 529, पृ. 179
9. नंदीसूत्र, मुनि मधुकर, 87, पृ. 179
10. (क) षट्खण्डागम-1, पृ. 101 (ख) कषायपाहुड (भाग-1), पृ. 114
(ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20, पृ. 73
11. कषायपाहुड (भाग-1), पृ. 114
12. वही, पृ. 85
13. व्या.सू. (भाग-4), सम्पा. मुनि मधुकर, उपसंहार, पृ. 753
14. (क) वही, प्रस्तावना, पृ. 20 (ख) भगवई (1), सम्पा. आ० महाप्रज्ञ, भूमिका, पृ. 21
15. समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 529, पृ. 179
16. नंदीसूत्र, मुनि मधुकर, 87, पृ. 179
17. नंदीचूर्णि, 85
18. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 127
19. भगवई (खण्ड-1), भूमिका, पृ. 37
20. वही, पृ० 36
21. Studies in the Bagwatisutra, Page 38
22. गोतमादिएहिं पुट्ठे अपुट्ठे वा जो पण्हो तव्वागरणं- नंदीचूणिसूत्र, 89, पृ. 65
23. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20, पृ. 73
24. व्या. सू., 13.9.2, 1.6.26, 1.8.10
25. वही, 8.2.29-30
26. वही, 7.1.5-6, 2.9.1
27. वही, 2.10.13-20, 7.7.2-19, 18.2.82-117
28. वही, 1.4.17-18, 13.7.33
29. वही, 7.1.13, 1.6.26
30. वही, 1.5.6, 6.10.15
31. नंदीसूत्र, सम्पा, मुनि मधुकर, 83-110
32. भगवई (खण्ड-1), सम्पा., आचार्य महाप्रज्ञ, भूमिका, पृ. 37
33. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पृ. 2-3
34. भगवई, (खण्ड-1), भूमिका, पृ. 39
35. व्या.सू. (भाग-4), प्रस्तावना, पृ. 102



विषयवस्तु

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति का उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य में द्वादशांगी के पाँचवें अंग ग्रंथ के रूप में मिलता है। यदि ग्यारह अंगों को बारहवें अंग दृष्टिवाद से उद्धृत माना जाये तो दिगम्बर साहित्य के आधार पर व्याख्याप्रज्ञप्ति को परिकर्म के पाँचवें अधिकार (व्याख्याप्रज्ञप्ति)से उद्धृत माना जा सकता है। कषायपाहुड[1] में परिकर्म के पाँच अधिकारों का उल्लेख किया गया है– चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूदीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। इन दोनों की विषयवस्तु भी समान है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक परिकर्म रूपी-अरूपी, जीव-अजीव, भव्य-अभव्य के प्रमाण और लक्षण, मुक्तजीवों तथा अन्य वस्तुओं का वर्णन करता है। समवायांग[2], नंदीसूत्र[3] तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी व्याख्याप्रज्ञप्ति की विषयवस्तु के प्रतिपादन का उल्लेख मिलता है। समवायांग में इसकी विषयवस्तु का उल्लेख करते हुए कहा है कि इसमें स्वसमय-परसमय, जीव-अजीव व लोक-अलोक का व्याख्यान किया गया है। नाना प्रकार के देवों, नरेन्द्रों, राजर्षियों और अनेक प्रकार के संशयों में पड़े हुए लोगों द्वारा पूछे गये 36000 प्रश्नों के उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने अपने श्रीमुख से दिये हैं। नंदीसूत्र में व्याख्याप्रज्ञप्ति का विषय-विवेचन करते हुए कहा है कि इसमें जीवों की, अजीवों की तथा जीवाजीवों की व्याख्या की गई है। स्वसमय-परसमय-स्वपरउभयसमय सिद्धान्तों की व्याख्या, लोकालोक के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आचार्य अकलंक[4] के अनुसार इसमें जीव है या नहीं इस प्रकार के प्रश्नों का निरूपण किया गया है। आचार्य वीरसेन[5] ने इसकी विषयवस्तु पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि इसमें 96,000 छिन्न-छेदनयों से ज्ञापनीय शुभ व अशुभ का वर्णन है।

उपर्युक्त आगम ग्रंथों में वर्णित विवेचनों से व्याख्याप्रज्ञप्ति की विषयवस्तु का प्रारूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः व्याख्याप्रज्ञप्ति ज्ञान का ऐसा महासागर है, जिसकी थाह पाना कठिन है। विविध विषयों का इसमें अक्रमबद्ध विवेचन है। ज्ञान के क्षेत्र में ऐसा कोई विषय नहीं, जिसका वर्णन इसमें न किया गया हो।

इसकी विषयवस्तु की विविधता का उल्लेख करते हुए मधुकर मुनि[6] ने लिखा है कि 'विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें विविधता है। विश्वविद्या की ऐसी कोई विधा नहीं है, जिसकी प्रस्तुत आगम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चर्चा न की गई हो। प्रश्नोत्तरों के द्वारा जैन तत्त्वविद्या, इतिहास की अनेक घटनाएँ, विभिन्न व्यक्तियों का वर्णन और विवेचन इतना विस्तृत किया गया है कि प्रबुद्ध पाठक सहज ही विशाल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से इसे प्राचीन जैन ज्ञान का विश्वकोश कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।'

व्याख्याप्रज्ञप्ति में जैन दर्शन के ही नहीं, दार्शनिक जगत के प्रायः सभी मूलभूत तत्त्वों का विवेचन तो है ही, इसके अतिरिक्त इसमें भूगोल, खगोल, इहलोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, गर्भशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, मनोविज्ञान, पदार्थवाद, अध्यात्मवाद आदि कोई भी विषय अछूता नहीं है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से भरे इस ग्रंथ में प्रतिपाद्य विषयवस्तु का आकलन कठिन कार्य है। अंगसुत्ताणि भाग दो में इसकी विस्तृत विषय सूची उपलब्ध है। मधुकर मुनि ने व्याख्याप्रज्ञप्ति[7] भाग एक की प्रस्तावना में इसकी विषयवस्तु को दस खण्डों में विभाजित कर इसमें प्रतिपादित विभिन्न विषयों को क्रमबद्धता देने का प्रयास किया है।

1. **आचारखण्ड–** साध्वाचार के नियम, आहार-विहार एवं पाँच समिति, तीनगुप्ति, क्रिया, कर्म, पंचमहाव्रत आदि से सम्बन्धित विवेकसूत्र, सुसाधु, असाधु, सुसंयत, असंयत, संयतासंयत आदि के आचार के विषय में निरूपण आदि।

2. **द्रव्यखण्ड–** षट्द्रव्यों का वर्णन-पदार्थवाद, परमाणुवाद, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, गति, शरीर आदि का निरूपण।

3. **सिद्धान्तखण्ड–** आत्मा, परमात्मा, (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त), केवलज्ञान आदि ज्ञान, आत्मा का विकसित एवं शुद्ध रूप, जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, कर्म, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, क्रिया, कर्मबन्ध एवं कर्म से विमुक्त होने के उपाय आदि।

4. **परलोकखण्ड–** देवलोक, नरक आदि से सम्बन्धित समग्र वर्णन; नरकभूमियों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का तथा नारकों की लेश्या, कर्मबन्ध, आयु, स्थिति, वेदना आदि का तथा देवलोकों की संख्या, वहाँ की भूमि, परिस्थिति, देव-देवियों की विविध जातियाँ-उपजातियाँ, उनके निवास स्थान, लेश्या, आयु, कर्मबन्ध, स्थिति, सुखभोग आदि का विस्तृत वर्णन, सिद्धगति एवं सिद्धों का वर्णन।

5. **भूगोल–** लोक, अलोक, भरतादिक्षेत्र, कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक क्षेत्र, वहाँ रहने वाले प्राणियों की गति, स्थिति, लेश्या, कर्मबन्ध आदि का वर्णन।

6. **खगोल–** सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, अन्धकार, प्रकाश, तमस्काय, कृष्णराजि आदि का वर्णन।

7. **गणितशास्त्र–** एकसंयोगी, द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी, चतुःसंयोगी भंग आदि, प्रवेशनक राशि संख्यात, असंख्यात, अनन्त पल्योपम, सागरोपम, कालचक्र आदि।

8. **गर्भशास्त्र–** गर्भगत जीव के आहार-विहार, नीहार, अंगोपांग, जन्म इत्यादि वर्णन।

9. **चरित्र खण्ड–** श्रमण भगवान् महावीर के सम्पर्क में आने वाले अनेक तापसों, परिव्राजकों, श्रावक-श्राविकाओं, श्रमणों, निर्ग्रन्थों, अन्यतीर्थिकों, पार्श्वापत्यश्रमणों आदि के पूर्व जीवन एवं परिवर्तनोत्तरजीवन का वर्णन।

10. **विविध–** कौतूहलजनक प्रश्न, राजगृह में गर्म पानी के स्रोत, अश्वध्वनि, देवों की ऊर्ध्व-अधोगमन शक्ति, विविध वैक्रिय शक्ति के रूप, आशीविष, स्वप्न, मेघ, वृष्टि आदि के वर्णन।

स्पष्ट है कि यह अंग ग्रंथ सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को अपने में समाहित किये हुए है। कहीं ज्ञान के कुछ विषयों को प्रश्नोत्तर के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है तो, कहीं कथानकों के माध्यम से उन पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि सम्पूर्ण ग्रंथ की विषयवस्तु का विवेचन यहाँ संभव नहीं है अतः प्रयत्नपूर्वक कतिपय विषयों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

द्रव्य विवेचन

भगवतीसूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य जीव-अजीव द्रव्य का विवेचन है। द्रव्य के मुख्य दो भेद- जीव-द्रव्य व अजीव-द्रव्य किये गये हैं। जीव-द्रव्य के स्वरूप का विस्तार से विवेचन हुआ है। चैतन्य को जीव का अभिन्न लक्षण बताया गया है। जीव को नित्य, कर्ता, शाश्वत, भोक्ता, स्वदेह परिमाण माना है। जीव के स्वरूप के साथ-साथ उसके भेद-प्रभेद की भी चर्चा की गई है। जीव के दो प्रमुख भेद सिद्ध व संसारी बताते हुए संसारी जीव के छः निकाय बताये हैं। पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों की स्थिति, आहार, श्वास, वेदना आदि का विस्तार से निरूपण हुआ है। अजीव विवेचन में अजीव के दो प्रमुख भेद-रूपी व अरूपी किये हैं। रूपी के चार भेद स्कन्ध, प्रदेश, देश व परमाणु तथा अरूपी के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय,

आकाशास्तिकाय व अद्धासमय ये चार प्रमुख भेद किये हैं। पुद्गल व परमाणु का प्रस्तुत ग्रंथ में बहुत ही विस्तार से विवेचन है। पुद्गल का स्वरूप बताते हुए उसे रूपी व मूर्त द्रव्य माना है। ग्रंथ में परमाणु विवेचन अत्यन्त सूक्ष्मता से हुआ है। परमाणु में गति की प्ररूपणा करते हुए कहा है कि परमाणु एक समय में लोकान्त के एक सिरे से दूसरे सिरे तक गति कर सकता है।[8] पुद्गल व परमाणु के सप्रदेशत्व व अप्रदेशत्व, उनकी शाश्वतता, आशाश्वतता, पुद्गल के परिणमन, परमाणु का बंध, पुद्गल की उपयोगिता, पुद्गल के तीन भेद– प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत व विस्रसापरिणत तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से पुद्गल व परमाणु का स्वरूप वर्णित है।

अजीव द्रव्यों में पुद्गल के अतिरिक्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय व काल द्रव्य के संबंध में भी विवेचन मिलता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तीनों के स्वरूप को द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से समझाया है। धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यों के अस्तित्व की संदिग्धता का निवारण करते हुए भगवतीसूत्र में कहा है कि जिन वस्तुओं को हम नहीं देखते हैं तो क्या उनका अस्तित्व ही नहीं होता है? जैसे वायु या गंधयुक्त पुद्गल को हम देख नहीं सकते, उन्हें अनुभव तो करते हैं। उनका अस्तित्व तो है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय के अनेक पर्यायवाची शब्दों, उनकी उपयोगिता आदि का विवेचन भी इस ग्रंथ में है। भगवतीसूत्र[9] में सर्वद्रव्य के विवेचन में कालद्रव्य को भी मान्यता दी गई है। काल के सबसे छोटे रूप को 'समय' की संज्ञा दी गई है अर्थात् जिसका दो भागों में छेदन-भेदन न हो सके वह समय है।

स्पष्ट है कि द्रव्य विवेचन में भगवतीसूत्र में छः द्रव्यों के स्वरूप का विस्तार से निरूपण हुआ है। इसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायेगा।

आचार विवेचन

भगवतीसूत्र में दर्शन के अतिरिक्त श्रमण-धर्म व आचार का भी विस्तार से विवेचन हुआ है। साध्वाचार के नियम, उनके आहार के दोष, दोषमुक्त भिक्षाचर्या, संयत-असंयत अनगार आदि पर सामग्री मिलती है। श्रमण के आहार विषयक दोषों में बताया गया है कि अंगार दोष, धूमदोष, संयोजनादि दोषों से आहार दूषित हो जाता है अतः इन दोषों से मुक्त नवकोटि विशुद्ध आहार बिना किसी आसक्ति के सिर्फ संयम-जीवन के निर्वाह के लिए करना चाहिये। संवृत व असंवृत

अनगार की चर्चा में कहा गया है कि राग-द्वेष कर्मबंधन व संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है।[10]

भगवतीसूत्र में श्रमण जीवन के प्रमुख सद्गुणों का प्रतिपादन है। श्रमण को विनम्र होना चाहिये, उसकी इच्छाएँ अल्प होनी चाहिये तथा उसे क्रोधादि कषायों से विमुक्त होना चाहिये। श्रमण के आचार के साथ-साथ श्रमण जीवन की महिमा का प्रतिपादन करते हुए श्रमण के सुख को अनुत्तर विमानवासी देवों के सुख से भी श्रेष्ठ माना है। श्रमण निर्ग्रंथ के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ व स्नातक ये पाँच मुख्य प्रकार बताते हुए इनके भेद-प्रभेदों की भी प्ररूपणा की है। श्रमण को भिक्षा देने से पाप-पुण्य या निर्जरा में से क्या प्राप्ति होती है, इस विषय पर विवेचन करते हुए कहा गया है कि श्रमणों को निर्जीव व दोषरहित आहार देने वाले श्रमणोपासक के पापकर्म अल्पतर होते हैं तथा बहुत निर्जरा होती है।[11] स्कन्दक परिव्राजक के प्रकरण में श्रमण की जीवनचर्या का पूरा चित्र उपस्थित हुआ है। स्कन्दक मुनि तप व संयम द्वारा अपने शरीर को कृश कर, एक मास की संलेखना करके, त्यागरूप अनशन करके, आलोचना व प्रतिक्रमण कर समाधि प्राप्त कर, काल प्राप्त करते हैं।

भगवतीसूत्र में श्रमण जीवन के प्रमुख आचार 'तप' के दो प्रमुख प्रकार- बाह्यतप व आभ्यन्तर तप बताये हैं। बाह्य व आभ्यान्तर तप के छः छः भेदों का विस्तार से विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान पर चर्चा करते हुए सुप्रत्याख्यान व दुष्प्रत्याख्यान का वर्णन भी ग्रंथ में है। प्रत्याख्यान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि प्रत्याख्यानरहित मरण प्राप्त व्यक्ति नरक व तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं।[12] श्रमण जीवन में जागरूक रहते हुए भी दोष लगना स्वाभाविक है। इन दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। प्रायश्चित के लिए आलोचना को जरूरी बताया गया है। आलोचना के दस दोषों व दस गुणों का विवेचन भी इस ग्रंथ में उपलब्ध है। परीषह चिन्तन में 22 परीषहों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस कर्म के उदय से कौन से परीषह उत्पन्न होते हैं।

ग्रंथ में जहाँ श्रमण के आचार-विचार, चर्या, तप, प्रायश्चित, परीषहों आदि पर विस्तार से विचार-विमर्श हुआ है, वहीं श्रावकाचार में बारह व्रतों, पौषध, प्रत्याख्यान आदि पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

कर्मबंध व क्रिया-विवेचन

जैन धर्म व दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त कर्मवाद पर भगवतीसूत्र में विशद रूप से विचार किया गया है। कर्म प्रकृति के आठ भेद किये गये हैं[13] –

1. ज्ञानावरणीय कर्म, 2. दर्शनावरणीय कर्म, 3. वेदनीय कर्म,
4. मोहनीय कर्म, 5. आयुष्य कर्म 6. नाम कर्म
7. गोत्र कर्म 8. अन्तराय कर्म

इनके अल्पत्व व बहुत्व का भी प्रतिपादन किया गया है। 22 परीषहों के विवेचन में कौन सी कर्म प्रकृति से कौन सा परीषह उत्पन्न होता है, इसका निरूपण है। प्रस्तुत ग्रंथ में कर्मों का कर्ता व भोक्ता जीव को ही माना है। जीव अपने स्वकृत कर्मों को भोगता है परकृत कर्मों को नहीं। चूंकि कर्म जीव द्वारा आत्मकृत होते हैं अत: उन कृत कर्मों का फल भोगे बिना नारक, मनुष्य, तिर्यंच या देव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। कर्म के बन्धन पर विचार करते हुए ग्रंथ में कहा गया है कि तीनों वेद वाले, संयत, असंयत, संयतासंयत सभी कर्म बांधते हैं। किन्तु, सिद्ध पुरुष कर्म का बन्धन नहीं करते हैं। कर्म ही व्यक्ति के बन्धन का मुख्य कारण है। कर्मों के कारण ही जीव विविध गतियों यथा नरक, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव गति को प्राप्त होता है। प्रथम शतक के तृतीय उद्देशक में कांक्षामोहनीय कर्म पर विस्तार से विवेचन है। कांक्षामोहनीय कर्मबंध के कारण की परम्परा, उदीरणा, गर्हा; वेदना तथा श्रमणों व चौबीस दण्डकों में कांक्षामोहनीय कर्म-वेदन का निरूपण इस उद्देशक का प्रमुख प्रतिपाद्य है। कांक्षामोहनीय कर्म-विवेचन से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि मोहनीय कर्म के उदय से जीव अपक्रमण करता है अर्थात् उत्तम गुणस्थान से हीन गुणस्थान पर आता है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे समझाया गया है कि मोहनीय कर्म का उदय होने पर जीव को जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररूपित तथ्य नहीं रुचते हैं और वह अपक्रमण करता है।[14]

कर्म विवेचन के साथ-साथ भगवतीसूत्र में क्रिया के पाँच प्रकारों का भी उल्लेख है[15] –

1. कायिकी, 2. अधिकरणिकी, 3. प्राद्वेषिकी, 4. परितापनिकी, 5. प्राणातिपातिकी

श्रमणनिर्ग्रंथों को लगने वाली क्रिया के कारणों की विवेचना करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रमाद के कारण व योग के निमित्त से श्रमण निर्ग्रंथों को क्रिया लगती है और इसी कारण वेदना होती है। सक्रिय जीव मुक्त नहीं होता है। मुक्ति प्राप्ति के लिए जीव को निष्क्रिय बनना पड़ता है। अन्तक्रिया (मोक्ष) की विवेचना करते हुए कहा गया है कि क्रिया रहित जीव आरंभ, सारंभ, समारंभ नहीं

करता है अतः वह अन्य प्राणियों को दुःख नहीं पहुँचाता है, उसके पापकर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे सूखी घास अग्नि में डालने पर जलकर भस्म हो जाती है। सातवें शतक के प्रथम उद्देशक में उल्लेखित है कि जिन व्यक्तियों में कषाय की प्रधानता होती है, उन्हें साम्परायिक क्रिया लगती है तथा जिनमें कषाय का अभाव होता है, उन्हें ईर्यापथिक क्रिया लगती है। प्रस्तुत आगम में कर्मबन्ध होने की कारणभूत चेष्टा रूप क्रिया पर विशेष प्रकाश डाला गया है। कषाय का अभाव होने पर यदि किसी प्राणी की हिंसा भी हो जाती है तो ईर्यापथिक क्रिया ही लगती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कर्मबंध व क्रिया की विवेचना इसमें की गई है।

कर्मबंध के साथ कर्मों की निर्जरा का भी भगवतीसूत्र में विवेचन मिलता है। सकाम निर्जरा का विवेचन करते हुए कहा गया है- 'श्रमण सकाम निर्जरा से कर्मों को शीघ्र नष्ट कर देता है जबकि नैरयिक जीव महावेदना का अनुभव करके भी महानिर्जरा वाला नहीं होता है।'

लोक-परलोक विषयक विवेचन

भगवतीसूत्र में लोक व परलोक दोनों पर ही चर्चा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भगवान् महावीर ने पंचास्तिकाय लोक व्यवस्था का निरूपण किया है। ये पाँच अस्तिकाय हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय।[16] लोक के स्वरूप को द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से स्पष्ट किया है। क्षेत्रलोक की दृष्टि से लोक के तीन प्रकार बताये हैं (1) अधोलोक (2) तिर्यग्लोक (3) ऊर्ध्वलोक। इन तीनों लोक के आकार का अलग-अलग विवेचन करते हुए सम्पूर्ण लोक के आकार को 'त्रिशरावसम्पुटाकार' बताया है। इसके अतिरिक्त अष्टविध लोक-स्थिति, लोक की विशालता, लोक का मध्य भाग, अलोक का आकार, लोक-अलोक में जीव की प्ररूपणा आदि विषयों पर विवेचन किया गया है। लोक विवेचन में भरतादि क्षेत्र, कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक क्षेत्र, वहाँ रहने वाले प्राणियों की गति, *लेश्या, कर्मबंध आदि पर प्रकाश डाला गया है। परलोक विवेचन में देवलोकों* व नरकों तथा उनमें रहने वाले प्राणियों की स्थिति, आयु आदि पर चर्चा मिलती है। देवों के चार भेदों में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क व वैमानिक देवों का उल्लेख है। नारक भूमियों के सात प्रकार बताये हैं-

1. रत्नप्रभा 2. शर्कराप्रभा 3. बालुकाप्रभा 4. पंकप्रभा
5. धूमप्रभा 6. तमप्रभा 7. महातम प्रभा

इन सातों नारक भूमियों व उनमें रहने वाले नरक के जीवों की स्थिति, लेश्या, आहार, कर्मबंध, आयु पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। नैरयिकों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष व उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की बताई है। नैरयिकों का आहार दो प्रकार का बताया है (1) आभोगनिर्वर्तित (खाने की बुद्धि से किया जाने वाला) (2) अनाभोगनिर्वर्तित (आहार की इच्छा के बिना भी किया जाने वाला)। परलोक खण्ड में सिद्ध के स्वरूप का भी विवेचन मिलता है। सिद्धों में ऊर्ध्व गति की प्ररूपणा की गई है।[17]

कथानक प्रकरण

प्रस्तुत ग्रंथ में कई प्रकरण कथानक शैली में लिखे गये हैं। इन कथानकों में श्रमण भगवान् महावीर के सम्पर्क में आने वाले तापसों, परिव्राजकों, श्रमणों तथा अन्य दर्शनों के मतावलम्बी यथा गोशालक, जमालि आदि के पूर्वजीवन एवं उत्तर जीवन का वर्णन हुआ है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

जमालि–(9.33) जमालि क्षत्रियकुण्डग्राम में वैभव व भोगपूर्ण जीवनयापन करने वाला क्षत्रिय कुमार था। वह नगर में भगवान् महावीर के पदार्पण का समाचार सुनकर दर्शन हेतु वहाँ जाता है। महावीर के प्रवचन सुनकर उसे वैराग्य हो जाता है। बहुत ही प्रयत्नपूर्वक माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करता है। कुछ समय बाद भगवान् महावीर की आज्ञा लिए बिना ही वह 500 श्रमणों के साथ अन्यत्र विहार कर जाता है। उग्र तप एवं नीरस आहार के कारण उसके शरीर में पित्तज्वर हो जाता है। किसी समय बिछौना बिछाते हुए श्रमणों द्वारा यह कहने पर कि 'बिछौना बिछा नहीं, बिछाया जा रहा है' जमालि भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त के विरुद्ध हो जाता है कि 'चलमान चलित नहीं है, अचलित है।' इसके पश्चात् स्वस्थ व हृष्टपुष्ट होकर जमालि चम्पानगरी में भगवान् महावीर के पास जाकर अपने केवली होने का दावा करता है। तब गौतम गणधर उससे 'लोक व जीव शाश्वत है या अशाश्वत' ये दो प्रश्न पूछते हैं। जमालि मौन हो जाता है। तब भगवान् महावीर उसे लोक व जीव की शाश्वतता व अशाश्वतता दोनों समझाते हैं। फिर भी जमालि भगवान् की बात पर श्रद्धा न करता हुआ वहाँ से चला जाता है। श्रमण पर्याय का पालन करता हुआ किल्विषिक देवरूप में उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् जमालि के भविष्य के पाँच भवों का वर्णन व अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उल्लेख हुआ है।

गोशालक– (15.1) भगवतीसूत्र के 15वें शतक में आजीविक सम्प्रदाय के संस्थापक गोशालक का जीवन चरित्र वर्णित है। गोशालक भगवान् महावीर के छद्मस्थ अवस्था में ही प्रार्थना कर उनका शिष्य बन जाता है। वह चिरकाल तक भगवान् महावीर के साथ विचरण करता है। एक दिन वह तिल के पौधे के भविष्य को लेकर भगवान् को मिथ्यात्वी सिद्ध करने का प्रयत्न करता है लेकिन सफल नहीं होता है। तदन्तर वैश्यानन बालतपस्वी के साथ छेड़छाड़ करने पर वैश्यानन कुपित होकर उस पर तेजोलेश्या छोड़ देते हैं तब भगवान् द्वारा उस तेजोलेश्या का शमन किया जाता है। तेजोलेश्या की विधि जानने के कुछ समय पश्चात् ही गोशालक भगवान् से पृथक् विचरण करने लगता है और छः मास में ही तेजोलेश्या प्राप्त कर वह स्वयं को 'जिन' शब्द से प्रसिद्ध करने लगता है। भगवान् द्वारा उसे 'अजिन' कहने पर क्रुद्ध गोशालक तेजोलेश्या द्वारा भगवान् महावीर को मारने का प्रयास करता है, लेकिन वह तेजोलेश्या उसी के लिए घातक सिद्ध होती है। अपने अन्तिम समय में गोशालक को सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् के कथानक में उसके भावी भवों व अन्त में मोक्ष प्राप्ति का वर्णन हुआ है।

शिवराजर्षि का कथानक– (11.9) राजा शिव हस्तिनापुर के राजा थे। एक दिन अपनी अपार समृद्धि को पूर्वकृत पुण्यों का फल मानकर नवीन पुण्योपार्जन करने के उद्देश्य से अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर दिशाप्रोक्षकतापस-प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। निरन्तर बेले बेले की तपश्चर्या से दिक्चक्रवाल का प्रोक्षण करने से एक दिन उन्हें विभंग ज्ञान उत्पन्न होता है और वे यह घोषणा करते हैं कि 'इस विश्व में सात द्वीप व सात समुद्र ही हैं। आगे द्वीपों व समुद्रों का अभाव है।' तब श्रमण भगवान् महावीर द्वारा इस मान्यता का खंडन कर असंख्यद्वीप व असंख्य समुद्र की प्ररूपणा की जाती है। भगवान् की मान्यता सुनकर शिवराजर्षि के अज्ञान का पर्दा हट जाता है। वे भगवान् महावीर के पास आकर धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। ग्यारह अंग शास्त्रों आदि का अध्ययन करते हुए अंत में सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

राज उदायन का कथानक– (13.6) राजा उदायन वितिभय नगर के राजा थे। एक दिन श्रमण भगवान् महावीर के नगर में पधारने पर राजा उदायन अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर भगवान् महावीर के पास दीक्षा अंगीकार करने की

इच्छा व्यक्त करते हैं। किन्तु, रास्ते में उन्हें यह विचार आता है कि पुत्र अभीचि कुमार को राज्य देना उसके लिए अकल्याणकारी होगा। काम भोगों से मूर्च्छित होकर वह इस संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। अत: वे अपने पुत्र को राज्य न सौंपकर अपने भानजे केशी कुमार को राज्य सौंप देते हैं। इसके पश्चात् राजा उदायन संयम व तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए अंत में मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। इधर अभीचि कुमार पिता के इस निर्णय से अपने को अपमानित महसूस करता है। एक दिन वह वितिभय नगर को छोड़कर चम्पा नगरी में कूणिक राजा के पास आश्रय ग्रहण कर वहीं रहने लगता है। अभीचि कुमार बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करता हुआ अन्तिम समय में संलेखना मरण प्राप्त करता है। किन्तु, उदायन राजा के प्रति वैर के अनुबंध से युक्त होने के कारण असुरकुमार देव बनता है। इसके पश्चात् आगे भवों में उसके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का वर्णन हुआ है।

महाबल का कथानक– *(11.11) भगवान् महावीर सुदर्शन श्रेष्ठी को* यह कथानक सुनाते हैं– 'हस्तिनापुर के राजा बल व रानी प्रभावती के पुत्र महाबल कुमार का लालन पालन बड़े लाड़ प्यार से होता है। युवा होने पर आठ कन्याओं से उनका विवाह किया जाता है। धर्मघोष अनगार के हस्तिनापुर पधारने पर महाबल कुमार उनसे धर्मदेशना सुनने जाते हैं। वहीं उन्हें वैराग्य हो जाता है। माता-पिता के बहुत आग्रह पर वे एक दिन के लिए राज्याभिषेक करवाते हैं। बारह वर्ष श्रमण पर्याय का पालन कर देव योनि में उत्पन्न होते हैं।' इसके पश्चात् वे श्रेष्ठीकुल में सुदर्शन के रूप में उत्पन्न होते हैं। भगवान् महावीर द्वारा अपने पूर्वभव का वृत्तांत सुनकर सुदर्शन श्रेष्ठी श्रमण पर्याय का पालन कर अन्त में सर्व दु:खों का अन्त करते हैं।

ईशानेन्द्र– (3.1) भगवतीसूत्र में तृतीय शतक में ईशानेन्द्र का प्रकरण वर्णित है। वह महावीर के राजगृह में पधारने पर 32 प्रकार के नाटक करता है। तब गणधर गौतम द्वारा पूछने पर भगवान् महावीर बताते है कि यह दिव्य देवऋद्धि उसे साठ हजार वर्ष की कठोर तपस्या से प्राप्त हुई है। पूर्वभव में वह तामली नामक तापस था। लेकिन उसकी साधना विवेक के आलोक में नहीं हुई इसलिए वह ईशानेन्द्र हुआ अन्यथा उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती।

अतिमुक्त कुमार का कथानक– (5.4) अतिमुक्त कुमार भगवान् महावीर के समय के सबसे लघु श्रमण थे। एक दिन नाले के बहते पानी में पात्रों की नौका

बहाकर क्रीड़ा करने लगते हैं। उन्हें ऐसा करते देखकर अन्य स्थविर महावीर भगवान् के पास आकर उनकी मुक्ति के संबंध में प्रश्न करते हैं। तब भगवान् महावीर उन्हें बताते हैं कि यह कुमार इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा। तब सभी स्थविर उनके प्रति ग्लान भाव छोड़कर उनकी सेवाशुश्रूषा में लग जाते हैं।

देवानन्दा– (9.33) भगवतीसूत्र के नवें शतक के 33वें अध्याय में देवानन्दा ब्राह्मणी का कथानक वर्णित हुआ है। देवानन्दा ब्राह्मणी कुण्डग्राम के निवासी ऋषभदत्त की पत्नी थी। भगवान् महावीर जब ब्राह्मणकुण्डग्राम में पधारते हैं तो देवानन्दा ऋषभदत्त के साथ उनके दर्शन के लिए जाती है। वहाँ भगवान् महावीर को देखकर अत्यन्त रोमांचित हो जाती है, उसकी मातृवत्सलता उमड़ पड़ती है तथा उसके नेत्र अश्रुओं से भीग जाते हैं। तब भगवान् महावीर यह स्वीकार करते हैं कि देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है अतः पूर्व-पुत्रस्नेहानुरागवश उनकी यह स्थिति हुई है। भगवान् महावीर के पास धर्मश्रवण से प्रभावित होकर ऋषभदत्त व देवानन्दा दोनों पति-पत्नी दीक्षा अंगीकार करते है और संयम व तप का परिपालन करते हुए अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जयन्ती श्राविका– (12.2) जयन्ती श्राविका कौशाम्बी के राजा सहस्त्रानीक की पुत्री व राजा शतानीक की बहन थी। वैशाली के राजा चेटक की पुत्री मृगावती इनकी भाभी थी। जयन्ती भगवान् महावीर के साधुओं को शय्या (स्थान) देने के लिए प्रसिद्ध थी। ग्रंथ में उसे जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता बताया गया है। एक बार भगवान् महावीर के कौशाम्बी पधारने पर जयन्ती अपनी भौजाई मृगावती के साथ उनके दर्शन करने जाती है, वहाँ भगवान् महावीर से अनेक प्रश्न करती है। भगवान् महावीर द्वारा अनेकान्त शैली में उनका समाधान प्रस्तुत किया गया। भगवान् महावीर से अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कर जयन्ती अत्यन्त प्रभावित व संतुष्ट होती है। अन्त में श्रमण दीक्षा अंगीकार कर संयम व तप की साधना कर मुक्ति प्राप्त करती है।

इसके अतिरिक्त सोमिल ब्राह्मण (18.10), मुद्गल परिव्राजक (11.12), कालास्यवेशी (1.9) आदि के प्रकरण भी कथानक शैली में वर्णित हैं।

शतकों के अनुसार विषयवस्तु

भगवतीसूत्र में 41 शतक हैं तथा प्रत्येक शतक अनेक उद्देशकों में विभक्त है। इन शतकों में वर्णित विषय बिखरे हुए हैं। कोई भी विषय किसी भी शतक में व्यवस्थित ढंग से निरूपित नहीं है। विस्तारभय से सभी 41 शतकों की विषयवस्तु

यहाँ देना संभव नहीं है अतः कतिपय शतकों की विषयवस्तु प्रस्तुत की जा रही है।

पहला शतक– पहले शतक में दस उद्देशक हैं। सर्वप्रथम मंगलाचरणके पश्चात् भगवान् महावीर व गौतम गणधर का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसके पश्चात् 'चलमाणे चलिते' से प्रश्नोत्तर प्रारंभ होते हैं। इस शतक में चलित आदि नौ प्रश्न, चौबीस दंडकों की स्थिति, आहार, श्वास आदि की प्ररूपणा की गई है। पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों में भगवान् महावीर ने जीवन, श्वास, आहार, संज्ञा व चैतन्य के विकास आदि को समझाया है। पृथ्वीकायादि स्थावर जीव प्रतिपल प्रतिक्षण आहार करते हैं। इनमें चैतन्य स्पर्शेन्द्रिय द्वारा प्रकट होता है। इसी शतक में कांक्षामोहनीय कर्म, मोक्ष, सूर्योदय व अस्त के अवकाश, रोह के प्रश्न, लोकस्थिति, जीव पुद्गल का संबंध, जीव के लघुत्व व गुरुत्व की धारणा, गर्भस्थ जीव के आहार, प्रासुक व एषणीय आहार का फल आदि का विवेचन किया गया है।

दूसरा शतक– दूसरे शतक में दस उद्देशक हैं। सर्वप्रथम एकेन्द्रियादि जीवों का वर्णन हुआ है। इसके पश्चात् स्कन्दक परिव्राजक के प्रकरण में स्कन्दक परिव्राजक के लोकादि के संबंध में प्रश्न, भगवान् द्वारा समाधान, स्कन्दक की प्रव्रज्या व उसकी तपस्या, तुंगिका के श्रावकों के साथ पार्श्वापत्यों के प्रश्नोत्तर, सात-समुद्घात, भाषा, चरमेन्द्र की सभा आदि का वर्णन है। इस शतक में भगवान् महावीर ने पंचास्तिकाय की प्ररूपणा की है। यथा– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय व पुद्गलास्तिकाय। इन पाँचों अस्तिकायों के स्वरूप का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से किया गया है।

तीसरा शतक– तीसरे शतक में तामली तापस की उत्कृष्ट तपस्या और उससे होने वाली दिव्य उपलब्धियों का वर्णन है। इस शतक में क्रियाओं के पाँच भेद किये गये हैं– कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया। पुनः इनके दो-दो प्रभेद किये हैं। लोकपाल व उनके विमानों के नाम, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क व वैमानिक इन देवों के अधिपतियों, चरमेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषद् आदि का भी वर्णन है।

चौथा शतक– भगवतीसूत्र का चौथा शतक अत्यंत संक्षिप्त है। इसमें ईशानेन्द्र के चार लोकपालों के विमानों का उल्लेख करते हुए सोम महाराज के 'सुमन' नामक महाविमान का विस्तृत वर्णन हुआ है। ईशानेन्द्र के लोकपालों की राजधानियों, नैरयिकों की उत्पत्ति व लेश्याओं के संबंध में विचार किया गया है।

पाँचवा शतक– खगोल विज्ञान की दृष्टि से यह शतक महत्त्वपूर्ण है।

इसमें जम्बूद्वीप में विभिन्न दिशाओं-विदिशाओं से सूर्य के उदय-अस्त की एवं दिन-रात्रि की प्ररूपणा की गई है। चौथे उद्देशक में छद्मस्थ और केवली की शब्द श्रवण संबंधी सीमा, हास्य-उत्सुकता, निद्रा, प्रचला आदि का विवेचन है। इसी उद्देशक में हरिनैगमेषी द्वारा गर्भापहरण की घटना का उल्लेख है। इस शतक में अतिमुक्तकुमार का संक्षिप्त जीवन चरित्र भी वर्णित है। अतिमुक्तकुमार द्वारा पानी में नौका तैराने की बालचेष्टा के प्रसंग पर भगवान् महावीर द्वारा स्थविर मुनियों की शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि अतिमुक्तकुमार मुनि इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे। पाँचवां उद्देशक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें इस अवसर्पिणी काल में हुए कुलकरों, तीर्थंकरों आदि श्लाका पुरुषों का विवेचन हुआ है। सातवें उद्देशक में परमाणु व स्कन्ध संबंधी विवेचन है। काल की अपेक्षा से परमाणु का विवेचन करते हुए कहा गया है कि परमाणु पुद्गल जघन्य एक समय तक रहता है, उत्कृष्ट असंख्यकाल तक रहता है। *उसके बाद उसमें अवश्य परिवर्तन होता है। आठवें उद्देशक में निर्ग्रंथ पुत्र अनगार* एवं नारद पुत्र अनगार के बीच संवाद का वर्णन है।

छठा शतक– छठे शतक में वेदना का निरूपण करते हुए जीवों में महावेदना व अल्पनिर्जरा तथा अल्पवेदना व महानिर्जरा को दृष्टांतों द्वारा समझाया गया है। अबंध, जीव के प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी होने आदि पर विचार किया गया है। आगे तमस्काय के तेरह नाम, आठ कृष्णराजियाँ, सात नरक पृथ्वियों, औपमिक काल के दो प्रकार पल्योपम व सागरोपम, लवणादि असंख्यात्-द्वीप-समुद्रों का स्वरूप व प्रमाण, कर्मादि का वर्णन है। इसी शतक में चैतन्य को जीव से अभिन्न बताते हुए कहा गया है कि जीव चैतन्य स्वरूप है तथा जो चैतन्य है वह भी निश्चित रूप से जीव है।

सातवां शतक– सातवें शतक में दस उद्देशक हैं। इस शतक में लोक के संस्थान का निरूपण करते हुए उसे सुप्रतिष्ठिक आकार का बताया है। इसके पश्चात् श्रमणोपाश्रय में बैठकर सामायिक करने वाले श्रमणोपासकों को लगने वाली क्रिया, अतिचार, सिद्ध जीवों में ऊर्ध्व गति, सुप्रत्याख्यानी व दुष्प्रत्याख्यानी के स्वरूप का वर्णन है। इस शतक में वनस्पति-कायिक जीवों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। आलू, मूली आदि वनस्पतियों को अनन्त जीव वाली बताया है। संसारी जीव के छः भेद खेचर के तीन भेद, जीवों के सातावेदनीय व असातावेदनीय कर्मबंध, छठे आरे में भारतवर्ष के आचार, आकार, भारतवर्ष के

मनुष्यों के आचार, भावों व आहार का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी शतक में 'जीव स्वदेह परिमाण है', इस सिद्धान्त को मान्यता देते हुए हाथी व कुन्थुए में समान जीवत्व (चैतन्य) का निरूपण किया गया है। यह शतक ऐतिहासिक व राजनैतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। महावीरकालीन लड़े गये दो युद्धों महाशिलाकण्टकसंग्राम तथा रथमूसलसंग्राम का वर्णन तथा उस युद्ध से होने वाले नाश का वर्णन भी इस शतक में उपलब्ध है।

नवां शतक– इस शतक में चौतीस उद्देशक हैं। भगवतीसूत्र का नवां शतक भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम उद्देशक में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का अतिदेश करके जम्बूद्वीप का स्वरूप, आकार, लम्बाई-चौड़ाई, उसमें स्थिति भरत-ऐरावत आदि क्षेत्र तथा उसमें बहने वाली हजारों छोटी-बड़ी नदियों का संक्षिप्त उल्लेख हुआ है। उद्देशक संख्या तीन से तीसवें तक जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मेरुगिरि के दक्षिण में स्थित एकोरुक अर्न्तद्वीप के स्वरूप आदि का विस्तार से वर्णन हुआ है। बत्तीसवां उद्देशक गणित की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पार्श्वापत्य अनगार गांगेय की भगवान् महावीर के साथ चर्चा व अन्त में चातुर्याम धर्म के बदले पंचमहाव्रत रूप धर्म को अंगीकार करने का उल्लेख हुआ है। तेतीसवें उद्देशक में ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी द्वारा भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन, प्रव्रज्या व मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है। इसी शतक में क्षत्रिय राजकुमार जमालि का कथानक भी वर्णित है। जमालि के कथानक में उसके भोगमय जीवन से लेकर वैराग्यधारण करने तक की यात्रा का विस्तार से निरूपण हुआ है। इस उद्देशक में जमालि का भगवान् महावीर से विरोध, जमालि की विराधकता का फल व अन्त में उसके सिद्ध-बुद्ध होने का उल्लेख हुआ है। चौतीसवां उद्देशक जीव-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस उद्देशक में पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों में श्वास की प्ररूपणा की गई है।

बारहवां शतक– बारहवें शतक में दस उद्देशक हैं। सर्वप्रथम इस शतक में शंख, पुष्पकली आदि श्रमणोपासकों के सामूहिक पौषध की तैयारी, शंख श्रमणोपासक द्वारा आहार त्याग-पौषध का निर्णय, विविध जागरिका, शंख की मुक्ति आदि का विवेचन किया गया है। यह शतक तत्त्वचर्चा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जयन्ती श्राविका द्वारा किये गये अनेक प्रश्नों तथा भगवान् महावीर द्वारा अनेकांत शैली में दिये गये उत्तरों का इसमें विवेचन हुआ है। सात नरक पृथ्वियों के नामों का उल्लेख किया गया है। इस शतक में भिन्न-भिन्न मात्रा में परमाणुओं के

संयोग-वियोग का विस्तार से निरूपण है। दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं के संयोग व विभाग की भंगों के द्वारा निरूपणा है। परमाणु पुद्गल के संघात व भेद से होने वाले सात प्रकार के पुद्गल परिवर्त्तों की विवेचना है। अठारह पापस्थानों, अवकाशान्तर, तनुवात-घनवात-घनोदधि, पृथ्वी, धर्मास्तिकाय से लेकर अद्धासमय तक में वर्णादि की प्ररूपणा की गई है। खगोल विज्ञान की दृष्टि से यह शतक विशेष रूप से पठनीय है। 'राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है' इस मान्यता का खण्डन करते हुए चन्द्रग्रहण के कारण को स्पष्ट किया गया है। सूर्य को 'आदित्य' व चन्द्रमा को 'शशि' कहने के कारणों, सूर्य-चन्द्र के कामभोगों, लोक का परिमाण, देवों के पाँच प्रकार- भव्यद्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव व भावदेव का विवेचन है। इस शतक के अन्तिम उद्देशक में आत्मा के- द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा, वीर्यात्मा, इन आठ भेदों का उल्लेख है।

सत्तरहवां शतक- इस शतक में सत्तरह उद्देशक हैं, जिनमें जीवों से संबंधित आध्यात्मविज्ञान की विशद विचारणा की गई है। प्रथम उद्देशक में कूणिक राजा के उदायी और भूतानन्द नामक हाथियों की भावी गति तथा मोक्ष प्राप्ति का वर्णन हुआ है। द्वितीय उद्देशक में क्रियाओं पर विचार किया गया है साथ ही आत्मा के औदयिक आदि छः भावों का वर्णन है। धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिसने प्राणातिपात आदि पाप कर्मों का पूर्ण प्रत्याख्यान किया है वह धर्मी है, जिसने पापकर्म का प्रत्याख्यान नहीं किया है वह अधर्मी है और जिसने कुछ किया है, कुछ नहीं किया है वह धर्मा-धर्मी है। इसी प्रकार जीव के बाल, पण्डित व बालपण्डित भेद किये हैं। जीव के कर्मों को तथा वेदन को आत्मकृत बताते हुए जीव में कर्ता व भोक्ता भाव को स्पष्ट किया है। पाँचवें उद्देशक में ईशानेन्द्र की सुधर्मासभा का सुन्दर वर्णन है। बारहवें उद्देशक में एकेन्द्रिय जीवों में आहार, श्वासोच्छवास, आयुष्य, शरीर आदि की समानता-असमानता तथा उनमें पाई जाने वाली लेश्याओं का वर्णन हुआ है। तेरहवें से सत्तरहवें उद्देशक में नागकुमार, सुवर्णकुमार आदि देवों के विषय में विभिन्न दृष्टियों से विचार हुआ है।

बीसवां शतक- बीसवें शतक में दस उद्देशक हैं। सर्वप्रथम विकलेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों में आहार, लेश्या, शरीर आदि का विवेचन हुआ है। अस्तिकायों के विवेचन में धर्मास्तिकायादि पाँच अस्तिकायों के अनेक पर्यायवाची शब्दों का

उल्लेख है। आत्मा की पर्यायों व उनके परिणमन का विवेचन करते हुए कहा गया है कि प्राणातिपात आदि 18 पापस्थान, तीन योग, उपयोग, बल, वीर्य आदि सभी आत्मा की पर्यायें हैं व आत्मा के सिवाय अन्यत्र कहीं परिणमन नहीं करती हैं। इस शतक में बंध के तीन भेद- जीव प्रयोगबंध, अनन्तरबंध, परम्परबंध करते हुए चौबीस दण्डकों में उनकी प्ररूपणा की गई है। भूमि विवेचन में पन्द्रह कर्मभूमियाँ व तीस अकर्मभूमियाँ बताई गई हैं तथा अकर्मभूमि व कर्मभूमि के विविध क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सद्भाव व अभाव का निरूपण, चौबीस तीर्थंकरों के नाम, पूर्वश्रुत की अविच्छिन्नता, अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ की अविच्छिन्नता की कालावधि आदि का निरूपण हुआ है।

पच्चीसवां शतक– पच्चीसवें शतक में बारह उद्देशक हैं। यह शतक बहुत विस्तृत है। सर्वप्रथम लेश्या व योग की अपेक्षा जीवों का अल्पत्व-बहुत्व, जीव के चौदह भेद, योग के पन्द्रह प्रकार, द्रव्य के भेद-प्रभेद, जीव व अजीव द्रव्य की अनंतता व असंख्येय लोक में अनन्त द्रव्यों की स्थिति का वर्णन किया गया है। संस्थान के छः भेद, द्वादशविध गणि-पिटकों का निर्देश, छः द्रव्य, कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है, परमाणु से अनन्त प्रदेशी स्कन्धों की सकंपता-निष्कम्पता, निगोद के जीव तथा आत्मा के औदयिक आदि छः भावों का वर्णन हुआ है। पच्चीसवें शतक के छठे उद्देशक में निर्ग्रन्थों के प्रकार उनमें वेद, राग, कल्प, चरित्र, ज्ञान, लेश्या आदि छत्तीस पहलुओं पर विचार किया गया है। इस शतक में श्रमण के आचार का विस्तार से विवेचन हुआ है। प्रायश्चित द्वार में दस प्रतिसेवना, आलोचना के दस दोष, दस आलोचना योग्य व्यक्ति, दस समाचारी, दस प्रायश्चित और बारह प्रकार के तप के भेदों का विस्तार से वर्णन हुआ है। इसके पश्चात् अन्त में समुचयभव्य, अभव्य, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि नारक जीवों की उत्पत्ति आदि के संबंध में विचार किया गया है।

तीसवां शतक– इस शतक में ग्यारह उद्देशक हैं जिनमें चार समवसरणों का वर्णन है-

1. क्रियावादी, 2. अक्रियावादी, 3. अज्ञानवादी, 4. विनयवादी

आगे के उद्देशकों में इनके आयुष्य बंध, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि का वर्णन हुआ है। कुल मिलाकर ग्यारह उद्देशकों में विभिन्न पहलुओं से क्रियावादी आदि का सांगोपाग वर्णन है।

तेतीसवाँ शतक– तेतीसवें शतक में बारह अवान्तर शतक हैं, जिन्हें बारह एकेन्द्रिय शतक के नाम से कहा गया है। इस शतक में कुल 124 उद्देशक हैं।

पहले एकेन्द्रिय शतक के पहले उद्देशक में एकेन्द्रिय के पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु और वनस्पति ये पाँच भेद और उनके उपभेद बताते हुए उनके कर्मप्रकृतियों के बन्धन, वेदन और शेष दस उद्देशकों में क्रमशः अनन्तरोपपन्न एकेन्द्रिय, परम्परोपपन्न एकेन्द्रिय, अनन्तरावगाढ़ व परम्परावगाढ़ पंचकाय, अनंतर पर्याप्त पंचकाय, परम्पर पर्याप्त पंचकाय, अनन्तराहारक और परम्पराहारक पंचकाय, चरम और अचरम पंचकाय आदि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। द्वितीय एकेन्द्रिय (अवान्तर) शतक में कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, कापोतलेश्यी, भवसिद्धिक, कृष्णलेश्यायुक्त भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, नीललेश्या, कापोतलेश्या के साथ अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी और कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय अभव्य का विवेचन किया गया है।

पैंतीस से चालीस शतक– पैंतीस से चालीस तक के छः शतक महायुग्म शतक हैं। इनमें समस्त जीवों की विविधताओं और विशेषताओं का सूक्ष्म विवेचन है। इन शतकों में एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी-पंचेन्द्रिय तक के महायुग्मों की उत्पत्ति, आयु, गति, आगति, परिमाण, अपहार, अवगाहना, कर्मप्रकृतिबन्धक-अबन्धक, वेदक-अवेदक, उदयवान्-अनुदयवान्, उदीरक-अनुदीरक, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान-अज्ञान, योग, उपयोग, वर्णादि चार, श्वासोच्छ्वास, आहारक-अनाहारक, विरत-अविरत, क्रियायुक्त-क्रियारहित आदि पदों का 16 प्रकार के महायुग्मों की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है।

इकतालीसवां शतक– इकतालीसवें शतक में 116 उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में राशियुग्म के 4 भेद हैं। उन भेदों के हेतु, कृतयुग्म राशि प्रमाण 24 दंडकों के जीवों के उपपात, सान्तर-निरन्तर उपपात की पद्धति, हेतु, आत्मा का असंयम आदि का वर्णन करने के बाद सलेश्या और सक्रिय आत्मा, असंयमी और क्रियारहित की सिद्धि प्रभृति विषयों पर विश्लेषण किया है।

संदर्भ

1. 'परियम्मं चदं-सूर-जंबूदीव-दीवसायर-वियाहपण्णत्तिभेएणं पंचविह'- कषायपाहुड (भाग-1), पृ. 120-121
2. समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 526-527, पृ. 179
3. नंदीसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, सूत्र 87, पृ. 179
4. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20, पृ. 73
5. कषायपाहुड (भाग-1), पृ. 114
6. व्या. सू. (भाग-4), मुनि मधुकर, प्रस्तावना, पृ. 19

7. व्या. सू. (भाग-1), मुनि मधुकर, प्रस्तावना, पृ. 16-17
8. व्या. सू. 16.8.13
9. वही, 25.4.8
10. वही, 1.1.11
11. वही, 8.6.2
12. वही, 7.9.13
13. वही, 1.4.1, 8.10.31
14. वही, 1.4.5
15. वही, 3.3.2
16. वही, 13.4.23
17. वही, 7.1.11-13



भगवतीसूत्र का महत्त्व

अर्धमागधी जैन आगम साहित्य में भगवतीसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नंदीसूत्र[1] में इसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति का अध्येता तदात्मरूप एवं ज्ञाता-विज्ञाता बन जाता है।

आज विज्ञान की अनेक शाखाओं ने जीवन के हर क्षेत्र में नये-नये रहस्यों का उद्घाटन किया है, किन्तु अगर इस आगम को गहराई से देखें तो हमें ऐसा प्रतीत होता है, मानो इन सभी रहस्यों का उद्घाटन श्रमण भगवान् महावीर ने भगवतीसूत्र के माध्यम से बहुत पहले ही कर दिया था। प्रस्तुत ग्रंथ में न केवल लोक-परलोक, तत्त्वविद्या या आचार का चिन्तन हुआ है अपितु विज्ञान, मनोविज्ञान व सांस्कृतिक मूल्यों को भी यह अपने में समाहित किये हुए है। इसे विद्वानों द्वारा ज्ञान का महासागर व शास्त्रराज कहकर सम्बोधित किया गया है।

भगवतीसूत्र का मूल नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है, किन्तु अपनी विशालता व महत्त्व के कारण जन-सामान्य में अति आदरणीय यह ग्रंथ भगवती के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। '**इयं च भगवतीत्यपि पूज्यत्वेनाभिधीयते।**' समवायांग[2] में इसके महत्त्व को बताते हुए कहा है कि 'द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्याय, प्रदेश-परिमाण, यथास्थिति-भाव, अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण, सुनिपुण-उपक्रमों के विविध प्रकारों के द्वारा प्रकट रूप से प्रकाशित करने वाले, लोकालोक के प्रकाशक, विस्तृत संसार-समुद्र से पार उतारने में समर्थ, इन्द्रों द्वारा संपूजित, भव्यजनपदों के हृदयों को अभिनन्दित करने वाले, तमोरज का विध्वंस करने वाले, सुदृष्ट दीपक स्वरूप, ईहा, मति और बुद्धि को बढ़ाने वाले पूरे छत्तीस हजार व्याकरणों (प्रश्नोत्तरों) को दिखाने से यह व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्रार्थ के अनेक प्रकारों का प्रकाशक है, शिष्यों का हितकारक है और गुणों से महान् अर्थ से परिपूर्ण है।'

तत्त्वविज्ञान, आचार विज्ञान, जीव विज्ञान, राजनैतिक विज्ञान, आर्थिक विवेचन, धर्म-दर्शन आदि विविध विषयों को समाहित करने वाला यह ग्रंथ निःसन्देह

आधुनिक जगत के लिए भारतीय संस्कृति की विशाल धरोहर को उद्घाटित करने में सक्षम है। धर्म-दर्शन का प्रमुख ग्रंथ होते हुए भी भारतीय समाज व संस्कृति के कई तथ्य इसमें उजागर हुए हैं। इस ग्रंथ की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता इसमें वर्णित विषयों का आज के वैज्ञानिक युग में उपयोगी होना है। इसमें कई ऐसे विषय विवेचित हैं, जिनका आज के विज्ञान व मनोविज्ञान के साथ गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है। यद्यपि गहन व विशद विषयवस्तु वाले इस ग्रंथ का मूल्यांकन करना कठिन कार्य है तथापि निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर इसकी उपयोगिता व महत्त्व को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

मंगलाचरण

ग्रंथ का प्रारंभ मंगल पाठ से किया गया है। मंगल वाक्यों के रूप में

नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्वसाहूणं।
नमो बंभीए लिवीए। - (1.1.1)

का प्रयोग हुआ है। इस मंगलाचरण के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए मधुकर मुनि[3] ने लिखा है कि इसकी शक्ति अमोघ है, इसका प्रभाव अचिन्त्य है। इसकी साधना व आराधना से लौकिक व लोकोत्तर सभी प्रकार की उपलब्धियाँ मिलती हैं। इस मंगलाचरण के अतिरिक्त ग्रंथ के 15वें, 17वें, 23वें तथा 26वें शतक के प्रारंभ में भी '**नमो सुयदेवयाए**' पद के द्वारा मंगलाचरण किया गया है। ग्यारह अंग-ग्रंथों में से केवल भगवतीसूत्र में ही इस प्रकार के मंगलवाक्यों का प्रयोग हुआ है। नवकार मंत्र पहली बार इस ग्रंथ में लिपिबद्ध है। आचार्य अभयदेवसूरि ने नमस्कार महामंत्र को भगवतीसूत्र का अंग मानते हुए ही व्याख्या की है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने पंचनमस्कार महामंत्र को सर्वसूत्रान्तर्गत माना है।[4] उनके अनुसार पंच नमस्कार करने के पश्चात् ही आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को सामायिक आदि श्रुत पढ़ाते हैं।[5] इस प्रकार इस ग्रन्थ के माध्यम से नवकार मंत्र की प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। वस्तुतः यह तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित व गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध है। इस सम्बन्ध में आचार्य मधुकर मुनि ने व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र की प्रस्तावना में विशेषतः प्रकाश डाला है।[6]

तात्त्विक महत्त्व

आचार्य तुलसी[7] ने भगवतीसूत्र को तत्त्वविद्या की आकर कहा है। ग्रंथ में उल्लेखित विभिन्न प्रश्नों के उत्तरों में तत्त्वदर्शन की छटा दर्शनीय है। तत्त्वविद्या की चर्चा करने वाला अन्य कोई ऐसा विशाल ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसमें चेतन व अचेतन दोनों ही तत्त्वों की विशेष जानकारी उपलब्ध है। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयन्ती श्राविका, स्कन्दक परिव्राजक, रोहअनगार, कालास्यवेशी, तुंगिकानगरी के श्रावकों के प्रकरण दृष्टव्य हैं।

द्रव्य निरूपण में द्रव्य के दो प्रमुख भेद-जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य किये हैं। अजीव द्रव्य के रूपी व अरूपी भेद करते हुए उनके पुनः चौदह प्रभेद किये हैं। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल व काल इन छः द्रव्यों के स्वरूप को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व गुण की दृष्टि से स्पष्ट किया गया है। 'षड्जीवनिकाय' पर प्रस्तुत ग्रंथ में गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। 'षड्जीवनिकाय' का विवेचन जैन दर्शन की अपनी मौलिकता है। पंचास्तिकाय के सिद्धान्त की भी इस ग्रंथ में भगवान् महावीर द्वारा मौलिक प्ररूपणा की गई है। सम्पूर्ण लोक को पंचास्तिकायों का समूह माना है। वे हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय व जीवास्तिकाय। इन पाँच अस्तिकायों में से जीवास्तिकाय को अरूपी व जीवकाय बताया है तथा शेष चार को अजीवकाय माना है। इनमें भी पुद्गलास्तिकाय को रूपी तथा शेष चार को अरूपी माना है।[8] जीव व पुद्गल के स्वरूप को विस्तार से स्पष्ट करने वाले इस ग्रंथ में जीव व पुद्गल के सम्बन्ध पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शरीर, मन, इन्द्रियों व बुद्धि को पुद्गल रूप में विवेचित कर उनका जीव के साथ क्या सम्बन्ध है, इसकी सटीक व्याख्या इस ग्रंथ में है। जीव व शरीर की यह व्याख्या दृष्टव्य है-

आया भंते! काये, अन्ने काये?

गोयमा! आया वि काये, अन्ने वि काये। - (13.7.15)

अर्थात् हे भगवान्! यह शरीर आत्मा है या आत्मा से भिन्न है? हे गौतम! यह शरीर आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न भी है।

दार्शनिक महत्त्व

ग्रंथ का प्रारंभ 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्न से होता है। एकान्त दृष्टि से चलमान व चलित दोनों एक क्षण में नहीं होते हैं। अनेकान्त दृष्टि से दोनों एक क्षण में होते हैं। सम्पूर्ण आगम में अनेकान्त दृष्टि का पूरा उपयोग किया गया है।

तत्त्वविषयक प्रश्नों के उत्तर देने में श्रमण भगवान् महावीर ने जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद का ही सहारा लिया है। स्कन्दक परिव्राजक के प्रसंग में लोक सान्त है या अनन्त, जीव सान्त है या अन्त रहित, सिद्ध अन्त सहित है या अन्त रहित आदि प्रश्नों के उत्तर अनेकान्त शैली में ही प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ भगवान् महावीर ने प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया है। यह उनकी अनेकान्त दृष्टि को प्रदर्शित करता है। लोक को शाश्वत और अशाश्वत दोनों ही रूपों में स्वीकार कर भगवान् महावीर ने तत्कालीन दार्शनिक जगत में प्रचलित विरोधी मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने का अनूठा प्रयास किया है। यही कारण है कि आचारांगसूत्र जहाँ भगवान् महावीर को एक महान तपस्वी के रूप में चित्रित करता है। वहीं भगवतीसूत्र उन्हें एक श्रेष्ठ दार्शनिक के रूप में मान्यता प्रदान करता है।

भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि विशाल थी। उन्होंने गौतम गणधर तथा अपने अन्य शिष्यवर्ग के प्रश्नों का ही समाधान प्रस्तुत नहीं किया अपितु अन्य परम्पराओं यथा– कालास्यवेशी आदि पार्श्व–परम्परा के श्रमण, गोशालक, जमालि, परिव्राजक, तापस आदि सभी की जिज्ञासाओं को तर्कपूर्ण समाधान द्वारा शांत कर स्वमत का प्रतिपादन किया है। अनेकान्त शैली में दिये गये इतने प्रश्नोत्तर अन्य किसी आगम ग्रंथ में उपलब्ध नहीं हैं। संभवत: भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इस अनेकान्त शैली को ही बाद के आचार्यों ने विकसित कर जैन–दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया। भगवतीसूत्र का दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि प्रस्तुत ग्रंथ में अन्य दार्शनिकों के मत व सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन हुआ है। 'समवसरण' नामक अध्याय में क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी व अज्ञानवादी इन चार दार्शनिक मतों का उल्लेख है। आजीविक मत का जितना विस्तार से इस ग्रंथ में वर्णन हुआ है अन्यत्र नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त परिव्राजक, तापस, चरक, पार्श्व–परम्परा के अनुयायी तथा अन्यतीर्थिकों की मान्यताओं का भी भगवतीसूत्र में निरूपण है।

धार्मिक महत्त्व

जैन परम्परा में 'आचार: परम धर्म:' इस मान्यता को बहुत महत्त्व दिया गया है। जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों को विवेचित करने के कारण इस ग्रंथ का अपना धार्मिक महत्त्व भी है। अर्थ रूप में इसके प्रणेता तीर्थंकर महावीर हैं, जिन्होंने पहले स्वयं के जीवन को त्याग व वैराग्य के माध्यम से शुद्ध किया तत्पश्चात्

धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। सिद्धान्त जब आचार में परिणित हो जाते हैं तभी धर्म प्रारम्भ होता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत आगम में उसी व्यक्ति को सच्चा आराधक बताया है, जो ज्ञानवान होने के साथ-साथ शीलवान (चारित्रवान) भी हो- **तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं; सुयवं; उवरए विण्णायधम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णते** - (8.10.2) अर्थात् जो पुरुष शीलवान भी है और श्रुतवान भी है वह व्यक्ति पापादि से उपरत और धर्म का विज्ञाता भी है। हे गौतम! इस प्रकार के पुरुष को मैं सर्वआराधक कहता हूँ। वस्तुतः साधना की पूर्णता के लिए श्रुत व शील दोनों आवश्यक हैं। तत्त्वार्थसूत्र में इसी मान्यता का समर्थन करते हुए कहा है- **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग** - (1.1)। प्रस्तुत ग्रंथ में आचार की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए जगह-जगह श्रमणों के उत्कृष्ट आचार एवं चर्या का प्रतिपादन किया गया है। श्रमण चर्या की दृष्टि से स्कन्दक परिव्राजक का पूरा प्रकरण दृष्टव्य है। श्रमण जीवन के सुखों को अन्य किसी भी प्रकार के दैवीय सुखों की तुलना में श्रेष्ठतर बताया है।[10] इस ग्रंथ का धार्मिक महत्त्व इस दृष्टि से भी बढ़ जाता है कि यह ग्रंथ जैन धर्म के सिद्धान्तों को ही प्रतिपादित नहीं करता है अपितु प्रसंगवश अन्य धर्मों के सिद्धान्तों का विवेचन भी इसमें है। यह पद्धति इस बात की ओर संकेत करती है कि उस युग में कट्टर साम्प्रदायिकता का अभाव था। विभिन्न धर्मों के मतावलम्बी आपस में तत्त्वचर्चा कर अपनी जिज्ञासाओं को एक दूसरे के समक्ष रखकर समाधान प्राप्त करते थे।

आध्यात्मिक शक्तियाँ

आध्यात्मिक दृष्टि से भगवतीसूत्र में कुछ ऐसी शक्तियों का वर्णन हुआ है, जिन्हें साधक आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्राप्त कर सकता था और इन शक्तियों के अर्जन द्वारा वह किसी के भी अन्तर्मानस की बात जान सकता था और विविध रूपों का सृजन कर सकता था। ग्रंथ के सातवें शतक के 9वें उद्देशक में बताया है कि प्रमत्त श्रमण ही विविध प्रकार के विविध रंग के रूप बनाता है। वह चाहे जिस रूप में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श में परिवर्तित कर सकता है। ग्रंथ के 20वें शतक के 9वें उद्देशक में 'चारणलब्धि' का उल्लेख हुआ है। यह चारणलब्धि दो प्रकार की होती है- 1. विद्याचारण, 2. जंघाचारण। विद्याचारणलब्धि वाला मुनि तीन बार चुटकी बजाने जितने समय में तीन लाख, सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन परिधि वाले जम्बूद्वीप में तीन बार प्रदक्षिणा कर लेता है तथा जंघाचारणलब्धि

वाला मुनि इतने ही समय में 21 बार जम्बूद्वीप की प्रदक्षिणा कर लेता है। इस द्रुत गति के सामने राकेट की गति भी धीमी है। आध्यात्मिक शक्तियाँ जब जागृत हो जाती हैं तो व्यक्ति रूपी-अरूपी पदार्थों, अन्तर्मानस के विचारों आदि सभी को जान लेता है। अवधिज्ञान, मन:पर्यव ज्ञान और केवलज्ञान के विवेचन में इसका उल्लेख हुआ है। 15वें शतक में गोशालक के प्रकरण में तेजोलब्धि की शक्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इससे अंग, बंग आदि साढ़े सोलह देश भस्म किये जा सकते हैं। स्पष्ट है कि भौतिक शक्तियों से आध्यात्मिक शक्तियाँ श्रेष्ठतर होती हैं।

सांस्कृतिक महत्त्व

जैन धर्म व दर्शन का प्रमुख ग्रंथ होते हुए भी भगवतीसूत्र अपने अन्दर सांस्कृतिक मूल्यों को समेटे हुए है। तत्कालीन समाज व संस्कृति के कई महत्त्वपूर्ण पहलू इसमें उजागर हुए हैं। समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि को यह ग्रंथ उजागर करता है। त्यौहार, विवाह, आपसी सम्बन्ध, वस्त्र, आमोद-प्रमोद के साधन आदि की जानकारी इस ग्रंथ के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। जयन्ती श्राविका की भगवान् महावीर से तत्त्व-चर्चा इस बात की ओर संकेत करती है कि तत्कालीन समाज में नारी का प्रमुख स्थान था।[11]

इस ग्रंथ का अपना ऐतिहासिक महत्त्व भी है। भगवान् महावीर के जीवन के अनछूए पहलू भी इस ग्रंथ में उजागर हुए हैं। एक प्रसंग में स्वयं भगवान् महावीर ने अपने मुख से यह स्वीकार किया है कि वे देवानन्दा ब्राह्मणी के आत्मज हैं।[12] आजीविक सम्प्रदाय के संस्थापक मंखली गोशालक का विस्तृत जीवन चरित इसमें वर्णित है। इससे आजीविक मत के इतिहास एवं सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त होती है। पार्श्वापत्य व उनके अनुयायियों द्वारा मान्य चातुर्याम धर्म के उल्लेख यह स्पष्ट करते हैं कि उस समय पार्श्वापत्य के अनुयायियों का स्वतंत्र सम्प्रदाय था, जो कि धीरे-धीरे भगवान् महावीर के ज्ञान से प्रभावित होकर पंच-महाव्रत को स्वीकार कर रहे थे।

राजनैतिक दृष्टि से भी यह ग्रंथ अत्यंत महत्त्व रखता है। इससे उस समय की राजनैतिक स्थिति का आकलन किया जा सकता है। महावीर युग में भारत कई छोटे-छोटे जनपदों में बंटा था, जो प्राय: आपस में लड़ते रहते थे। ग्रंथ के सातवें शतक में वैशाली में हुए महाशिलाकण्टकसंग्राम व रथमूसलसंग्राम इन दो युद्धों का मार्मिक वर्णन आया है। आर्थिक दृष्टि से भी प्रस्तुत ग्रंथ में तत्कालीन

समाज में प्रचलित व्यवसाय, खाद्य, उत्पादन, आवागमन के साधन आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से यह ग्रंथ इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इसमें लोक व अलोक दोनों पर ही विवेचन प्राप्त होता है। आज जो लोग विश्व (यूनिवर्स) के रहस्यों को सुलझाने में लगे हैं, उनके लिए यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रंथ में लोक-अलोक के आकार, उसमें रहने वाले मनुष्यों, नारकों व देवों का विस्तृत वर्णन किया गया है। भौगोलिक दृष्टि से कई प्राचीन नगरों के उल्लेख भी इस ग्रंथ में प्राप्त होते हैं, जिनके बारे में शोध द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि आज वे नगर कहाँ व किस रूप में हैं।

वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक महत्त्व

धार्मिक, दार्शनिक व सांस्कृतिक मूल्यों को अपने में समेटने वाला यह ग्रंथ आज वैज्ञानिक युग में भी अपनी सार्थकता रखता है। जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, गणित शास्त्र, गर्भशास्त्र, खगोल विज्ञान व स्वप्नशास्त्र जैसे विषयों का विवेचन इसे आधुनिक विज्ञान के समकक्ष खड़ा कर देता है।

जीव विज्ञान की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उजागर करता है। प्रस्तुत ग्रंथ में पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों में जीवत्व की प्ररूपणा कर उनमें आहार, श्वास, चैतन्य, वेदना आदि की स्थितियों को स्पष्ट किया गया है। वनस्पतिकायिक जीवों के लिये यह कहा गया है कि वे वर्षाऋतु में सर्वाधिक आहार करते हैं।[13] आधुनिक वैज्ञानिक जगत में डॉ. जगदीश चन्द्र बोस के प्रयोगों ने सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति में जीवन होता है, वह प्रेम व घृणा का प्रदर्शन करती है। वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप परीक्षण द्वारा पानी की एक बूंद का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसमें असंख्य सूक्ष्म प्राणियों के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित परमाणु का स्वरूप व शक्ति आज रसायन विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भगवान् महावीर ने परमाणु को अभेद्य, अछेद्य व अदाह्य बताया है तथा उसकी सूक्ष्मता को प्रतिपादित करते हुए उसे इन्द्रियातीत कहा है। परमाणु में गति को स्वीकार करते हुए उसकी तीव्रता का प्रतिपादन किया है।[14] परमाणु में गति तथा उसकी सूक्ष्मता आदि वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत है। आज वैज्ञानिक परमाणु बम की जिस विनाशकारी शक्ति की बात करते हैं, उसी सन्दर्भ में महावीर ने तेजालेश्या की अपरिमेय शक्ति का उल्लेख हजारों वर्ष पूर्व भगवतीसूत्र में किया है।[15] अजीव तत्त्व विवेचन में पुद्गलास्तिकाय

के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य को स्वीकार किया गया है। गति सहायक तत्त्व के रूप में धर्मास्तिकाय की जो मान्यता महावीर ने प्रस्तुत की है, उसे बाद में भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में कई जगह 'ईथर' के रूप में मान्यता प्राप्त हुई।

खगोल विज्ञान के कई तथ्यों का भी इस ग्रंथ में निरूपण हुआ है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों को ज्योतिष्क देवों के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। चन्द्रग्रहण के कारणों पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त अंधकार, प्रकाश, तमस्काय, कृष्णराजियों, दिशाओं आदि के विषय में भी विवेचन प्राप्त होता है। गणितशास्त्र की दृष्टि से पार्श्वापत्य के अनुयायी गांगेय के प्रश्नोत्तर महत्त्वपूर्ण हैं।[16]

प्रस्तुत ग्रंथ विज्ञान ही नहीं मनोविज्ञान व कला की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। स्वप्नविद्या, गर्भशास्त्र आदि पर भी इसमें विचार किया गया है। 42 स्वप्नों व 30 महास्वप्नों का उल्लेख हुआ है। भगवान् महावीर द्वारा छद्मस्थ अवस्था में देखे गये 10 स्वप्नों का अर्थ सहित विश्लेषण प्रस्तुत ग्रंथ में मिलता है।[17] कला की दृष्टि से भी इस ग्रंथ में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। स्थापत्यकला, नृत्य, नाटक, विभिन्न वाद्यों आदि का इसमें उल्लेख है। इसके अतिरिक्त और भी कई ऐसे विषय हैं जिनका इस ग्रंथ में कहीं ना कहीं उल्लेख अवश्य हुआ है। इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए मधुकर मुनि[18] ने लिखा है– 'अन्य जैनागमों की तरह न तो यह उपदेशात्मक ग्रंथ है और न केवल सैद्धान्तिक ग्रंथ है। इसे हम विश्लेषणात्मक ग्रंथ कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में इसे सिद्धान्तों का अंक गणित कहा जा सकता है।'

संदर्भ

1. 'से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया एवं चरण-करणपरुवणा आघविज्जइ'- नंदीसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, 87, पृ. 179
2. समवायांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 527, पृ. 179
3. व्या. सू. (भाग-4), प्रस्तावना, पृ. 22
4. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 9
5. वही, गा. 8
6. व्या. सू. (भाग-4), प्रस्तावना, पृ. 21-26
7. भगवई (खण्ड-1), भूमिका, पृ. 16
8. व्या. सू. 7.10.8
9. वही, 30.1.1
10. वही, 14.9.17

11. वही, 12.2
12. 'अहं णं देवाणन्दाए माहणीए अत्तए' - व्या. सू., 9.33.14
13. 'पाउस-वरिसारत्तेसु णं एत्थ णं वणस्सतिकाइया सव्वमहाहारगा भवंति - व्या. सू., 7.3.1
14. वही, 16.8.15
15. वही, 15.1.87
16. वही, 9.32
17. वही, 16.6.20
18. व्या. सू. (भाग-1), प्रस्तावना, पृ. 18



लोक-स्वरूप
एवं
द्रव्य-मीमांसा

लोक-स्वरूप

जब से सभ्यता का विकास हुआ और व्यक्ति ने सोचना आरम्भ किया, उसके मन में कई प्रश्न उठने लगे– मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? यह जगत क्या है? यह किससे बना है? आदि। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर खोजते हुए दार्शनिक चिन्तन प्रवाहित हुआ। जब इस चिन्तन का प्रवाह भीतर की ओर था तो व्यक्ति ने आत्मा के विषय में सोचना शुरू किया और जब उसने जगत, सृष्टि आदि के निमित्त कारणों के विषय में सोचा तो लोकवाद की परम्परा प्रारम्भ हुई।

भारतीय दर्शन में कई स्थानों पर लोक के स्वरूप व उसके आधारभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है। ऋग्वेद[1] का दीर्घतमा ऋषि विश्व की उत्पत्ति के मूल कारणों की खोज करता हुआ स्वयं से प्रश्न करता है कि इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई? इसे कौन जानता है? इन जिज्ञासाओं के आधार पर ही परवर्ती आचार्यों ने लोक के स्वरूप पर अनेक विचार व्यक्त किये। विष्णु-पुराण[2] के द्वितीयांश के द्वितीयाध्याय में लोक के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। बौद्ध परम्परा[3] में भी लोक के स्वरूप पर अपने ढंग से विचार किया गया और दस लोक स्वीकार किये गये हैं।

जैन परम्परा में लोक

जैन परम्परा में विश्व के लिए 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन दार्शनिकों व चिन्तकों ने लोक के स्वरूप व उसके आधार-भूत तत्त्वों पर विस्तार से विचार किया है। इसका पूर्ण विवरण प्राचीन जैनागमों व परवर्ती सूत्र ग्रंथों में मिलता है। जैन अर्धमागधी आगम साहित्य के प्रथम अंग ग्रंथ आचारांग[4] के प्रारंभ में यही प्रश्न उठाया गया है कि कुछ प्राणियों को यह ज्ञान नहीं है कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ या दक्षिण दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ या उत्तर दिशा से आया हूँ। आचारांग में उठाया गया यह प्रश्न हमें स्वत: लोक के स्वरूप के विषय में जानने को प्रेरित करता है। उत्तराध्ययन, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में लोक के स्वरूप के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है। तत्त्वार्थसूत्र[5] में भी लोक के आधारभूत द्रव्यों व

उसके स्वरूप की प्ररूपणा है। उत्तराध्ययन में लोक को षड्द्रव्यात्मक बताया गया है। यथा–

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल - जंतवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहिं।। (28.7)

अर्थात् जिनेन्द्रों द्वारा यह लोक धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव व पुद्गल रूप कहा गया है। इन छः द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। अस्तिकाय से तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी या सावयवी हैं। काल के प्रदेश नहीं होते हैं। इसलिए उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। यही कारण है कि कहीं कहीं लोक को पंचास्तिकाय रूप भी कहा गया है। आचार्य कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय[6] में लोक को पाँच अस्तिकायों का समूह माना है। गोम्मटसार[7] में षड्द्रव्यात्मक रूप लोक का समर्थन किया गया है। इस प्रकार जैन परंपरा में कहीं लोक को पंचास्तिकाय रूप व कहीं षड्द्रव्यात्मक रूप में स्वीकार किया गया है। इन प्राचीन ग्रंथों के आधार पर ही आधुनिक आचार्यों ने लोक के स्वरूप एवं उसके आधारभूत तत्त्वों का विवेचन अपने ग्रंथों में किया है।[8]

भगवतीसूत्र में लोक-स्वरूप

भगवतीसूत्र में लोक की परिभाषा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से लोक की परिभाषा देते हुए कहा गया है– **जे लोक्कइ से लोए** - (5.9.14) अर्थात् जो देखा जाता है, वह लोक है। चूंकि इस लोक में पुद्गल-द्रव्य मूर्त रूप हैं, उनकी उत्पत्ति, व्यय, परिणमन आदि हमें दिखाई देते हैं, अतः लोक का नामकरण प्रत्यक्षभूत पुद्गल-द्रव्य के आधार पर 'देखा जाने वाला' किया गया है। राजवार्तिक[9] में भी कहा गया है कि जहाँ पाप व पुण्य का फल जो सुख-दुख रूप है, वह देखा जाता है सो लोक है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर लोक का अर्थ आत्मा से है।

व्यवस्था की दृष्टि से लोक की परिभाषा देते हुए उसे पाँच अस्तिकायों का समूह कहा गया है– **किमियं भंते! लोए त्ति पवुच्चइ? पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोए त्ति पवुच्चइ, तं जहा-धम्मऽत्थिकाए, अधम्मऽत्थिकाए, जाव पोग्गलऽत्थिकाए** - (13.4.23) अर्थात् पाँच अस्तिकायों का समूह लोक है, वे हैं–

1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय, 5. पुद्गलास्तिकाय।

अन्यत्र लोक का षड्द्रव्यात्मक रूप भी स्वीकार किया है। यहाँ सर्वद्रव्य के छः भेद बताये हैं[10] –

1. धर्मास्तिकाय 2. अधर्मास्तिकाय 3. आकाशास्तिकाय
4. जीवास्तिकाय 5. पुद्गलास्तिकाय 6. अद्धासमय

स्पष्ट है कि भगवतीसूत्र में लोक को पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्यात्मक दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है। व्यवस्था की दृष्टि से दी गई उपर्युक्त परिभाषा से लोक के स्वरूप की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस लोक में गति है अतः इसे धर्मास्तिकाय रूप कहा गया है। गतिशील पदार्थ निरन्तर गति ही नहीं करते वरन् ठहरते भी हैं, अतः ठहरने की स्थिति होने के कारण इसे अधर्मास्तिकाय रूप कहा गया है। इस लोक में चेतन द्रव्य भी हैं और अचेतन द्रव्य भी हैं अतः इस लोक को जीवास्तिकाय रूप व पुद्गलास्तिकाय रूप कहा गया है। चूंकि इन सभी द्रव्यों को स्थित रहने के लिए अवकाश (आकाश) प्राप्त है अतः इसे आकाशास्तिकाय रूप कहा गया है। लोक में स्थित इन पाँचों द्रव्यों में निरन्तर परिवर्तन भी होता रहा है, जो कि काल द्रव्य का स्वभाव है। इन छः द्रव्यों की सह-अवस्थिति ही लोक है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश[11] में लोक स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि 'आकाश के जितने भाग में जीव, पुद्गल आदि षड्द्रव्य देखे जाते हैं, वह लोक है और उसके चारों तरफ शेष अनन्त आकाश अलोक है, ऐसा लोक का निर्युक्ति अर्थ है अथवा षड्द्रव्यों का समवाय लोक है।

आकार के आधार पर ग्रंथ में लोक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है - **गोयमा! सुपतिट्ठिगसंठिते लोए पण्णत्ते, हेट्ठा वित्थिण्णे जाव उप्पिं उद्धमुइंगाकार संठिते**-(7.1.5) अर्थात् लोक सुप्रतिष्ठिक (सकोरा) आकार का है। वह नीचे से चौड़ा, मध्य में संकरा व ऊपर ऊर्ध्व मृदंग के आकार का है। अलोक पोले गोले के आकार का है।[12]

भगवतीसूत्र में दी गई लोक की इस परिभाषा में उसे 'सुप्रतिष्ठिक' आकार वाला कहा गया है। तीन शरावों में से एक शराव ओंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर ओंधा रखने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठिक आकार वाला या त्रिशरावसंपुटाकार कहा जाता है।

लोक के प्रकार[13]

भगवतीसूत्र में लोक के चार प्रकार बताये गये हैं-

1. द्रव्यलोक 2. क्षेत्रलोक 3. काललोक 4. भावलोक।

इसे चतुःपक्षात्मक लोक सिद्धान्त कहा जा सकता है। स्कन्दक परिव्राजक के दृष्टान्त में द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक व भावलोक के स्वरूप को समझाते

हुए भगवान् महावीर कहते हैं– द्रव्य दृष्टि से लोक एक है और अन्तवाला है, क्षेत्र दृष्टि से लोक असंख्य कोड़ा-कोड़ी योजन की परिधि वाला है तथा वह अन्त सहित है, क्योंकि लोक के बाहर अलोक है। काल दृष्टि से ऐसा कोई काल नहीं था, जिसमें लोक नहीं था, ऐसा कोई काल नहीं है, जिसमें लोक नहीं है और न ही ऐसा कोई काल होगा जिसमें लोक नहीं होगा। अतः ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित व नित्य होने से काल की दृष्टि से लोक अन्त रहित है। भाव की दृष्टि से वर्ण, रस, स्पर्श, गंधादि अनन्त पर्यायरूप अनन्त संस्थान रूप व अनन्त गुरुलघुपर्यायरूप व अनन्त अगुरुलघुपर्यायरूप होने से लोक अन्त रहित है। इस प्रकार द्रव्य व क्षेत्र की दृष्टि से लोक को अंतसहित व काल व भाव की दृष्टि से लोक को अंतरहित बताया गया है।

क्षेत्रलोक के भेद-प्रभेद[14]

भगवतीसूत्र में क्षेत्रलोक के तीन प्रकार बताये हैं।

1. अधोलोक-क्षेत्रलोक, 2. तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक, 3. ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक

अधोलोक-क्षेत्रलोक– क्षेत्र के प्रभाव से इस लोक में द्रव्यों के प्रायः अशुभ (अधः) परिणाम होते हैं, इसलिए इसका अधोलोक नाम सार्थक है। अधोलोक के सात प्रकार बताये गये हैं–

1. रत्नप्रभा, 2. शर्कराप्रभा, 3. बालुकाप्रभा, 4. पंकप्रभा, 5. धूमप्रभा, 6. तमप्रभा, 7. महातमप्रभा

ये सातों पृथ्वियाँ सात नरकों के नाम से जानी जाती हैं। इनमें मुख्य रूप से नरक के जीव रहते हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई एक सी नहीं है, नीचे की भूमियाँ ऊपर-ऊपर की भूमियों से अधिक चौड़ी हैं। ये भूमियाँ एक दूसरे से सटी हुई नहीं हैं। बीच-बीच में बहुत अन्तराल है। इस अन्तराल में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश हैं।[15]

तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक– इस लोक में स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक् समभूमि पर तिरछे व्यवस्थित हैं अतः इसे तिर्यग्लोक कहते हैं।[16] मध्यम परिणाम होने से यह मध्यम लोक भी कहलाता है। उत्तराध्ययन[17] में मध्यलोक को तिर्यग्लोक कहा गया है। तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक असंख्य प्रकार का बताया गया है अर्थात् इसमें असंख्यात जंबूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप व लवण, स्वयंभूरमण आदि समुद्र हैं। इतने विशाल क्षेत्र में केवल अढ़ाई द्वीप में ही मानव का निवास माना गया है।

ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक– ऊँचे व शुभ परिणामों की वजह से इसका ऊर्ध्वलोक नाम है। ऊर्ध्वलोक में मुख्य रूप से देवों का निवास है। अत: इसे देवलोक, ब्रह्मलोक, यक्षलोक व स्वर्गलोक भी कहते हैं।[18] भगवतीसूत्र में ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक पन्द्रह प्रकार का बताया गया है–

1. सौधर्मकल्प, 2. ऐशानकल्प, 3. सनत्कुमार, 4. माहेन्द्र, 5. ब्रह्मलोक, 6. लान्तक, 7. महाशुक्र, 8. सहस्त्रार, 9. आनत, 10. प्राणत, 11. आरण, 12. अच्युतकल्प, 13. ग्रैवेयकविमान, 14. अनुत्तरविमान, 15. ईषतप्राग्भारपृथ्वी।

लोक का संस्थान[19]

लोक के संस्थान को स्पष्ट करने के लिए पहले भगवतीसूत्र में लोक के तीनों भागों (अधो, मध्य व ऊर्ध्व लोक) के संस्थान को स्पष्ट किया गया है। अधोलोक-क्षेत्रलोक तिपाई (त्रपा) के आकार का बताया गया है, तिर्यग्लोक-क्षेत्रलोक झालर के आकार का तथा ऊर्ध्वलोक-क्षेत्रलोक को ऊर्ध्वमृदंग के आकार का बताया गया है। सम्पूर्ण लोक-अलोक के संस्थान को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि लोक सुप्रतिष्ठिक के आकार का है वह नीचे विस्तीर्ण (चौड़ा) है, मध्य में संक्षिप्त (सकड़ा) है व ऊपर ऊर्ध्व मृदंग के आकार का है। अलोक का संस्थान पोले गोले के आकार का है। तिलोयपण्णत्ति[20] में भी तीनों लोक का संस्थान इसी प्रकार बताते हुए कहा गया है, 'अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन सदृश्य है, मध्यलोक का आकार खड़े हुए मृदंग के ऊर्ध्व भाग के सदृश्य है तथा ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुए अर्द्धमृदंग के सदृश्य है।' धवला[21] में लोक को तालवृक्ष के आकार वाला कहा गया है।

अष्टविध लोक स्थिति[22]

लोक की स्थिति आठ प्रकार की बताई गई है– **अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता** – (1.6.25) यह इस प्रकार है– 1. आकाश के आधार पर वायु है, 2. वायु के आधार पर उदधि है, 3. उदधि के आधार पर पृथ्वी है, 4. पृथ्वी के आधार पर त्रस व स्थावर जीव हैं, 5. अजीव जीवों के आधार पर हैं, 6. जीव कर्मों के आधार पर हैं, 7. अजीवों (कर्मों) को जीवों ने संग्रहित कर रखा है, 8. जीवों को कर्मों ने संग्रहित कर रखा है।

नि:सन्देह आकाश, पवन, जल व पृथ्वी विश्व के आधारभूत अंग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्हीं के आधार-आधेय भाव से बनी हुई है। संसारी जीव और अजीव में आधार-आधेय भाव व संग्राहक-सग्राह्य भाव– ये दोनों हैं। जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। जीव-अजीव (भाषा, मन, शरीर, वर्गणा)

का संग्राहक है, कर्म संसारी जीव का संग्राहक है। तात्पर्य यह है कि कर्म से बँधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता-फिरता व सोचता है। इस प्रकार संग्राह्य-संग्राहक भाव जीव व पुद्गल के सिवाय दूसरे द्रव्यों में नहीं होता है।[23]

लोक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भगवतीसूत्र[24] में दो दृष्टांत भी दिये गये हैं। यथा- जैसे कोई पुरुष चमड़े की मशक को वायु से फुलावे, फिर उस मशक का मुँह बाँध दे, फिर मशक के बीच के भाग में गांठ बांधे, फिर उस मशक का मुँह खोलकर ऊपर के भाग की हवा निकाल कर उस खाली भाग में पानी भर दे और मशक का मुँह बंद कर दे और बीच की गांठ भी खोल दे, तो वह भरा पानी जिस तरह हवा के ऊपर तल में ही रहेगा वैसे ही लोक की आठ प्रकार की स्थिति बताई गई है। दूसरा दृष्टांत देते हुए कहा है कि जैसे कोई पुरुष चमड़े की मशक को हवा से फुलाकर अपनी कमर में बांध ले और अथाह दुस्तर पुरुष परिमाण से अधिक पानी में प्रवेश करे तब भी वह पुरुष पानी की ऊपरी सतह पर रहेगा। इसी तरह लोक की स्थिति आठ प्रकार की है। ऊपर के उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि वायु के आधार पर उदधि कैसे टिका हुआ हुआ है।

लोक का परिमाण[25]

भगवतीसूत्र में लोक को महातिमहान् कहा गया है। उसका परिमाण बताते हुए कहा गया है कि वह पूर्वदिशा में भी असंख्येय कोटा-कोटि योजन है। पश्चिम, उत्तर एवं ऊर्ध्व और अधोदिशा में भी असंख्येय कोटा-कोटि योजन आयाम विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) वाला है। इस इतने बड़े लोक में एक परमाणु-पुद्गल जितना भी आकाश-प्रदेश नहीं है, जहाँ कि जीव ने जन्म-मरण न किया हो अर्थात् यह महातिमहान् लोक सम्पूर्ण रूप से जीवों से भरा हुआ है। समस्त लोक का परिमाण बताते हुए आगे क्षेत्रलोक के तीनों प्रकार अधोलोक, तिर्यग्लोक व ऊर्ध्वलोक के परिमाण की तुलना भी की गई है। सबसे छोटा तिर्यग्लोक है। उससे ऊर्ध्वलोक असंख्यात गुणा है और उससे अधोलोक विशेषाधिक है।[26]

भगवतीवृत्ति[27] में इसे समझाते हुए कहा गया है कि तिर्यग्लोक सबसे छोटा है, क्योंकि यह केवल 1800 योजन लम्बा है, जबकि ऊर्ध्वलोक की अवगाहना 7 रज्जू में कुछ कम है इसलिए वह तिर्यग्लोक से असंख्यात गुणा बड़ा है और अधोलोक सबसे अधिक बड़ा है, क्योंकि उसकी अवगाहना कुछ अधिक 7 रज्जू परिमाण है। इसलिए वह ऊर्ध्वलोक से कुछ विशेषाधिक है।

प्रशमरति[28] में लोक के आकार का विवेचन करते हुए कहा गया है- यह लोक पुरुष है। अपने दोनों हाथ कमर पर रखकर दो पैर फैलाकर खड़े पुरुषाकार

की तरह है। जैन परंपरानुसार लोक कुल चौदह रज्जु प्रमाण है। सुमेरु पर्वत के तल के नीचे सात रज्जु प्रमाण अधोलोक और तल के ऊपर से सात रज्जु ऊर्ध्वलोक बताकर कुल चौदह रज्जु प्रमाण लोक बताया है। मध्यलोक की ऊँचाई को ऊर्ध्वलोक में शामिल किया है क्योंकि सात रज्जु प्रमाण के क्षेत्रफल में एक लाख चालीस योजन का क्षेत्रफल ठीक उसी प्रकार महत्त्व रखता है, जैसे पर्वत की तुलना में राई।[29]

रज्जु से तात्पर्य रस्सी नहीं है, अपितु तीन करोड़ इक्यासी लाख सत्ताईस हजार नौ सौ सत्तर मण वजन का एक भार और ऐसे हजार भार का अर्थात् अड़तीस अरब बारह करोड़ उन्यासी लाख सत्तर हजार मण वजन का एक लोहे का गोला छः माह, छः दिन, छः प्रहर और छः घड़ी में जितनी दूरी तय करे, उतनी दूरी को एक रज्जु कहते हैं।[30]

लोक व अलोक की विशालता[31]

लोक की विशालता को बताने के लिए भगवान् महावीर ने यह रूपक प्रस्तुत किया है– 'किसी काल और किसी समय महर्द्धिक महासुख सम्पन्न छः देव, मन्दर (मेरु) पर्वत पर मन्दर की चूलिका के चारों दिशाओं में खड़े रहें और नीचे चार दिशाकुमारी देवियाँ चार बलिपिण्ड लेकर जम्बूद्वीप की (जगती पर) चारों दिशाओं में बाहर की ओर मुख करके खड़ी रहें। फिर वे चारों देवियाँ एक साथ चारों बलिपिण्डों को बाहर की ओर फेंकें। हे गौतम! उसी समय उन देवों में से एक-एक (प्रत्येक) देव, चारों बलिपिण्डों को पृथ्वीतल पर पहुँचने से पहले ही शीघ्र ग्रहण करने में समर्थ हों, ऐसे उन देवों में से एक देव, हे गौतम! उस उत्कृष्ट दिव्य देवगति से पूर्व में जाए, एक देव दक्षिण-दिशा की ओर जाए, इसी प्रकार एक देव पश्चिम की ओर, एक उत्तर की ओर एक देव ऊर्ध्व दिशा में और एक देव अधोदिशा में जाए। उसी दिन और उसी समय (एक गृहस्थ के) एक हजार वर्ष की आयु वाले एक बालक ने जन्म लिया तदनंतर उस बालक के माता-पिता चल बसे। (उतने समय में भी) वे देव, लोक का अन्त प्राप्त नहीं कर सकते। उसके बाद वह बालक भी आयुष्य पूर्ण होने पर कालधर्म को प्राप्त हो गया। उस बालक की हड्डी, मज्जा भी नष्ट हो गई, उस बालक की सात पीढ़ी तक का कुलवंश नष्ट हो गया तब भी वे देव, लोक का अन्त प्राप्त न कर सके। तत्पश्चात् उस बालक के नाम-गोत्र भी नष्ट हो गए, उतने समय तक (चलते रहने पर) भी वे देव, लोक का अन्त प्राप्त न कर सके।' इसी तरह अलोक की विशालता को भी रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

लोक की लम्बाई का मध्य भाग[32]

भगवतीसूत्र में पहले सम्पूर्ण लोक की लम्बाई के मध्यभाग का तथा उसके पश्चात् त्रिलोक (ऊर्ध्व, अधो व तिर्यग्लोक) के मध्य भाग का निरूपण किया गया है। लोक की लम्बाई का मध्य भाग रत्नप्रभा पृथ्वी के अवकाशान्तर के असंख्यातवें भाग का अवगाहन (उल्लंघन) करने पर आता है। अधोलोक की लम्बाई का मध्य भाग चौथी पंकप्रभापृथ्वी के अवकाशान्तर के कुछ अधिक अर्द्धभाग का उल्लंघन करने के बाद आता है। सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोकों के ऊपर और ब्रह्मलोक कल्प के नीचे रिष्ट नामक विमानप्रस्तट में ऊर्ध्वलोक की लम्बाई का मध्य भाग है। जम्बूद्वीप के मन्दराचल (मेरुपर्वत) के बहुसम मध्यभाग में इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर वाले और निचले दोनों क्षुद्रप्रस्तटों में, तिर्यग्लोक के मध्य भाग रूप आठ रूचक-प्रदेश कहे गये हैं, वही तिर्यग्लोक की लम्बाई का मध्यभाग है।

लोक-अलोक का क्रम[33]

जिज्ञासु शिष्य रोह द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर कि पहले लोक है या पहले अलोक? भगवान् महावीर द्वारा उत्तर दिया गया कि लोक व अलोक दोनों ही शाश्वत भाव हैं, इन दोनों में 'यह पहला और यह पिछला' ऐसा क्रम नहीं है। इसे समझाने के लिए मुर्गी व अण्डे का उदाहरण भी दिया गया है कि जिस तरह मुर्गी व अण्डे में पहले-पिछले का क्रम नहीं है, दोनों ही शाश्वत हैं, उसी तरह लोक अलोक का क्रम है।

अवकाशान्तर

भगवतीवृत्ति[34] में कहा गया है कि चौदह रज्जु परिमाण पुरुषाकार लोक में नीचे की ओर अधोलोक में सात पृथ्वियाँ हैं। प्रथम पृथ्वी के नीचे 'घनोदधि' उसके नीचे 'घनवात' व उसके नीचे 'तनुवात' है। उस तनुवात के नीचे आकाश है, इसे अवकाशान्तर या आकाशान्तर कहते हैं। यह क्रम सातों पृथ्वियों के साथ है। ये सातों अवकाशान्तर आकाश रूप होने के कारण अगुरुलघु हैं। यहाँ यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि यदि प्रत्येक पृथ्वी के नीचे घनोदधि, घनवात, तनुवात व अवकाशान्तर है तो फिर सातवीं पृथ्वी ही लोक का अन्त नहीं हो सकती। इसके नीचे भी तो घनोदधि, घनवात, तनुवात व अवकाशान्तर होना चाहिए। लोकान्त व सप्तम अवकाशान्तर के क्रम को स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र[35] में कहा गया है कि लोकान्त व सप्तम अवकाशान्तर पहले भी है और पीछे भी है। इन दोनों में पहला-पिछला क्रम नहीं है।

लोकान्त व अलोकान्त का स्पर्श[36]

लोक व अलोक की तरह लोकान्त व अलोकान्त में भी पहला-पिछला क्रम नहीं है। लोक का अन्त अलोक के अन्त को स्पर्श करता है व अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है। यह स्पर्श छः दिशाओं से स्पृष्ट होता है। छः दिशाओं से स्पृष्ट की बात ग्रंथ में विस्तार से समझाई गई है।

स्पष्ट है कि भगवतीसूत्र में लोक के स्वरूप, प्रकार, संस्थान, आकार आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। लोक के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे पंचास्तिकाय व षड्-द्रव्यात्मक रूप दोनों प्रकार से मानकर उसमें धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल, आकाश व काल इन छः द्रव्यों का समावेश किया गया है। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी विश्व को परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। फ्रेड होयल ने अपनी पुस्तक 'फ्रन्टियर्स ऑफ एस्ट्रोनोमी'[37] में लिखा है- 'विश्व सब कुछ है, जीव और अजीव पदार्थ, अणु और आकाशगंगाएँ और यदि भौतिक पदार्थों के साथ आध्यात्मिक तत्त्वों का अस्तित्व हो तो वे भी। यदि स्वर्ग और नरक हो तो वे भी क्योंकि विश्व सभी पदार्थों की 'सकलता' (Wholeness) है।'

मुनि महेन्द्र कुमार विश्व सकलता के बारे में लिखते हैं- 'विश्व शब्द का व्यापक अर्थ है, उन सभी तत्त्वों का समूह, जिनका अस्तित्व हम इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा द्वारा जान सकते हैं। अणु से लेकर आकाशगंगा तक सभी छोटे-बड़े भौतिक पदार्थ तो इसमें समाहित हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त आकाश, काल, ईथर, चैतन्य आदि तत्त्वों का भी अनुभव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हमें होता है। अतः ये भी विश्व के अंग हैं।'[38]

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 1.164.4
2. विष्णु पुराण, श्लोक, 5.9
3. अभिधर्मकोष, 3.1
4. आचारांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.1.1
5. तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन, 3
6. 'जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहवे आयासं
   अत्थितम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता'-पंचास्तिकाय, गा., 4
7. गोम्मटसार, जीवकांड, गा., 561-564
8. (क) शास्त्री, देवेन्द्रमुनि-जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण
   (ख) मुनि नथमल-जैन दर्शन मनन और मीमांसा
   (ग) संघवी, सुखलाल-तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन), तीसरा अध्याय

9. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.10.10-14, पृ. 455
10. व्या. सू., 25.4.8,17
11. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, (भाग-तीन), पृ. 438
12. व्या. सू., 11.10.11
13. 'चउव्विहे लोए पन्नत्ते, तं जहा - दव्वलोए खेत्तलोए काललोए भावलोए'-
व्या. सू., 11.10.2, 2.1.24
14. वही, 11.10.3-6
15. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन), संघवी, सुखलाल, पृ. 117-118
16. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 3.7, पृ. 169
17. उत्तराध्ययन, 36.50, 54
18. वही, 5.24, 14.41, 18.29, 19.8
19. व्या. सू., 11.10.7-11
20. तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ), 1.137-139
21. तलरुक्खसंठाणो-धवला, 4/1.3.2, गा. 7 पृ. 11
22. व्या. सू., 1.6.25.2
23. मुनि नथमल-जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 192
24. व्या. सू., 1.6.25.2
25. वही, 12.7.2-3
26. 'सव्वत्थोए तिरियलोए, उड्ढलोए असंखेज्जगुणे, अहेलोए विसेसाहिए'- वही, 13.4.70
27. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक, 616
28. प्रशमरति, गा. 210, पृ. 32
29. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 120
30. गणितानुयोग (संपादकीय), पृ. 6
31. व्या. सू., 11.10.26, 27
32. वही, 13.4.12-15
33. 'रोहा! लोए य अलोए य पुव्विं पेते, पच्छा पेते,
दो वि ते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा'!-व्या.सू., 1.6.13-16
34. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक, 96, 97
35. 'लोअंते य सत्तमे य ओवासंतरे पुव्विं पेते जाव अणाणुपुव्वी ऐसा रोहा'-वही, 1.6.18
36. लोगंते अलोगंतं फुसति अलोगंते वि लोगंतं फुसति'- व्या. सू., 1.6.5-6
37. फ्रन्टियर्स आफ एस्ट्रोनोमी, पृ. 304
38. मुनि महेन्द्र कुमार-विश्वप्रहेलिका, पृ. 8



द्रव्य

भगवतीसूत्र में जहाँ लोक का स्वरूप बताते हुए उसे पंचास्तिकाय रूप कहा है, वहीं दूसरी ओर उसे षड्द्रव्यात्मक रूप में भी स्वीकार किया है।[1] अर्थात् अस्तित्व की दृष्टि से यह समस्त लोक छः द्रव्यों का समूह है। लोक में अवस्थित इन छः द्रव्यों के स्वरूप को विवेचित करने से पूर्व यहाँ द्रव्य का स्वरूप, द्रव्य व पर्याय का सम्बन्ध, द्रव्य के भेद-प्रभेद आदि का विवेचन अपेक्षित है।

द्रव्य का स्वरूप

जैनेन्द्र व्याकरण[2] के अनुसार द्रव्य शब्द को इवार्थक निपात मानना चाहिये। 'द्रव्यंभव्ये' इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रानुसार जो 'द्रु' की तरह हो उसे द्रव्य समझना चाहिये। जिस प्रकार बिना गांठ की सीधी द्रु (लकड़ी) बढ़ई आदि के निमित्त से टेबल, कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है, उसी तरह द्रव्य भी उभय (बाह्य व आभ्यन्तर) कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहा है। पंचास्तिकाय[3] के अनुसार उन-उन सद्भाव पर्यायों को, जो तत्त्व द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं, जो सत्ता से अनन्यभूत है। सर्वार्थसिद्धि[4] के अनुसार- जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं।

द्रव्य शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं। सत्ता, सत् अथवा सत्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि, ये नौ शब्द सामान्य रूप से एक द्रव्यरूप अर्थ के ही वाचक हैं।[5] जैन परम्परा में सत् व द्रव्य को एक ही माना है। इनमें सिर्फ शब्द की दृष्टि से भेद है अर्थ-भेद नहीं है। प्रवचनसार[6] में कहा गया है कि द्रव्य अगर सत् नहीं है तो असत् होता; और असत् तो द्रव्य नहीं हो सकता, अतः द्रव्य स्वयं सत्ता है। पंचास्तिकाय[7] में आचार्य कुंदकुंद ने द्रव्य का लक्षण सत् बताते हुए उसे उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य युक्त तथा गुण व पर्याय का आश्रय भी कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने सत् की व्याख्या करते हुए कहा है कि सत् वह है जो उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यता से युक्त हो- **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** - (5.29)। आगे उन्होंने

द्रव्य को गुण व पर्याय से युक्त माना है- **गुणपर्यायवद्द्रव्यम्** -(5.37)। इसे स्पष्ट करते हुए पं. सुखलाल जी लिखते हैं कि हर एक वस्तु में दो अंश हैं; एक अंश ऐसा है, जो तीनों कालों में शाश्वत है, दूसरा अंश सदा अशाश्वत है। शाश्वत अंश के कारण हर एक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद-व्ययात्मकं (अस्थिर) कहलाती है।[8]

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ही वस्तु स्थिर व अस्थिर कैसे हो सकती है। इसी विरोध का परिहार करने के लिए आगे तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- **तद्भावाव्ययं नित्यम्** - (5.30) अर्थात जो उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो वही नित्य है। सभी द्रव्य अपनी जाति में स्थिर रहते हुए निमित्त के अनुसार परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) प्राप्त करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हर वस्तु अपनी जाति (द्रव्य) की अपेक्षा ध्रौव्यता व परिणाम की अपेक्षा उत्पाद-व्यय को प्राप्त होती है। यह ध्रौव्यता व उत्पाद-व्यय का चक्र वस्तु में सदैव पाया जाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना यही वस्तुमात्र का स्वरूप है। यही स्वरूप सत् कहलाता है। सत् स्वरूप नित्य है, अर्थात् वह तीनों कालों में एक सा अवस्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु में या वस्तुमात्र में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य कभी हो और कभी न हो। प्रत्येक समय उत्पादादि तीनों अंश अवश्य होते हैं, यही सत् का नित्यत्व है।[9]

नियमसार[10] में द्रव्य का लक्षण गुण-पर्याय युक्त कहा है। वस्तुतः द्रव्य में गुण व पर्याय का सह-अस्तित्व है। द्रव्य हमेशा परिणमन को प्राप्त होता रहता है। उसमें परिणमन की जो शक्ति है, वह गुण है तथा उस गुण के कारण, जो परिणमन होते हैं, वह पर्यायें हैं। पंचास्तिकाय[11] में द्रव्य व पर्याय को अनन्यभूत तथा द्रव्य व गुण को अव्यतिरिक्त कहा है। सर्वार्थसिद्धि[12] में गुण व पर्याय को समझाते हुए कहा गया है कि जो अन्वयि हैं, वे गुण हैं और जो व्यतिरेकी हैं, वे पर्याय हैं। ज्ञान आदि गुणों द्वारा ही जीव, अजीव से भिन्न प्रतीत होता है। जीव में घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान आदि पाये जाते हैं। वे जीवद्रव्य की पर्यायें हैं।

वादीदेवसूरि[13] ने पर्याय व गुण को विशेष के दो प्रकार बताये हैं एवं सहभावी धर्म को गुण की संज्ञा दी है। ज्ञान शक्ति आदि आत्मा के गुण हैं, जिनका कभी नाश नहीं होता है। द्रव्य की उत्पादव्ययात्मक जो पर्यायें हैं, वे क्रमभावी हैं, जैसे सुख-दुःख हर्ष आदि। न्यायविनिश्चय तथा तत्त्वार्थवार्तिक में भी द्रव्य में गुणों को सहभावी एवं पर्याय को क्रमभावी कहा है।[14]

द्रव्य व पर्याय का सम्बन्ध

जैन आगम साहित्य में कहीं द्रव्य से पर्याय को भिन्न तो कहीं द्रव्य से पर्याय को अभिन्न माना गया है। द्रव्य व पर्याय में कथंचित अभेद है, क्योंकि उन दोनों में अव्यतिरेक पाया जाता है। द्रव्य और पर्याय कथंचित भिन्न भी है, क्योंकि द्रव्य और पर्यायों में परिणाम का भेद है। आप्तमीमांसा[15] में कहा है– द्रव्य में अनादि और अनंत रूप से परिणमन का प्रवाह है जबकि पर्यायों का परिणमन सादि और सांत है। द्रव्य शक्तिमान् है पर्याय शक्तिरूप, एक की द्रव्य संज्ञा है दूसरे की पर्याय संज्ञा है। द्रव्य एक है, पर्यायें अनेक हैं। द्रव्य का लक्षण अलग है, पर्याय का लक्षण अलग है। प्रयोजन भी दोनों के भिन्न हैं, क्योंकि द्रव्य अन्वयज्ञानादि कराता है जबकि पर्याय व्यतिरेक ज्ञान कराता है। द्रव्य त्रिलोकगोचर है, किन्तु पर्याय वर्तमानगोचर है। इन नाना कारणों से द्रव्य की भिन्नता भी है ओर अभिन्नता भी।

द्रव्य व पर्याय की यह भेद व अभेद दृष्टि भगवतीसूत्र में कई जगह परिलक्षित होती है। भगवान् महावीर व पार्श्वनाथ के शिष्यों के वार्तालाप के प्रसंग में यह विवेचित किया गया है कि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है– **आया णे अज्जो! सामाइए, आया णे अज्जो सामाइयस्य अट्ठ** – (1.9.21)। वस्तुतः आत्मा एक द्रव्य है व सामायिक उसकी एक अवस्था होने से पर्याय है, किन्तु आत्मा को ही सामायिक कहकर यहाँ पर्याय को द्रव्य से बिल्कुल अभिन्न रूप में स्वीकार किया गया है। भगवतीसूत्र का यह सूत्र द्रव्य व पर्याय की अभिन्नता को स्वीकार करता है। दूसरी जगह द्रव्य व पर्याय की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अस्थिर पर्यायों के नष्ट होने पर भी द्रव्य नष्ट नहीं होता है।[16] इस वाक्य में द्रव्य व पर्याय की भिन्नता स्पष्ट रूप से झलक रही है। द्रव्य व पर्याय सर्वथा अभिन्न होते तो पर्याय के नष्ट होने पर द्रव्य भी नष्ट हो जाता। भगवतीसूत्र में आत्मा को ज्ञान से भी अभिन्न माना है– **आया सिय णाणे, सिय अन्नाणे, णाणे पुण नियमं आया** –(12.10.10)। दर्शन व आत्मा में भी एकत्व को स्थापित किया गया है। **आया नियमं दंसणे, दंसणे वि नियमं आया** – (12.10.16)।

इस प्रकार भगवतीसूत्र के उक्त सूत्रों में ज्ञान-दर्शन को आत्मा से अभिन्न मानकर द्रव्य व पर्याय का भेद समाप्त कर दिया गया है। किन्तु, ग्रंथ में आत्मा के आठ भेद भी किये गये हैं यथा– द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा। यहाँ आत्मा के ये भेद द्रव्य व

पर्याय दोनों दृष्टियों से किये गये हैं। द्रव्यात्मा का वर्णन द्रव्य दृष्टि से है शेष सात आत्माओं का वर्णन यहाँ पर्याय दृष्टि से है।[17]

द्रव्य व पर्याय के भेद व अभेद को समझाते हुए पंचास्तिकाय[18] में आचार्य कुंदकुंद ने कहा है कि पर्यायरहित द्रव्य नहीं है तथा द्रव्यरहित पर्याय भी नहीं है, श्रमण द्रव्य व पर्याय को अभेद रूप कहते हैं। आगे उन्होंने द्रव्य व पर्याय की भिन्नता को समझाते हुए कहा है कि मनुष्य नष्ट होकर नारक देव आदि में उत्पन्न होता है यहाँ उसकी संसारी पर्याय का नाश व उत्पत्ति हुई है, जीव भाव न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। इस संबंध में डॉ. मोहन लाल मेहता लिखते हैं– द्रव्य व पर्याय दोनों परस्पर एक दूसरे से मिले हुए हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति संभव नहीं है। द्रव्यरहित पर्याय की उपलब्धि जैसे असंभव है, वैसे ही पर्यायरहित द्रव्य की उपलब्धि भी संभव नहीं है। जहाँ द्रव्य होगा वहाँ पर्याय अवश्य होगा।[19] यहाँ जैनदर्शन का दृष्टिकोण आपेक्षिक रहा है। जैन-दर्शन में द्रव्य व पर्याय में विशेषण व विशेष्य की दृष्टि से भेद माना जाता है। संज्ञा की अपेक्षा उनमें भेद है, किन्तु सत्ता की दृष्टि से दोनों अभेद हैं।

द्रव्यों की संख्या

भगवतीसूत्र[20] में लोक में पाये जाने वाले सभी द्रव्यों को मुख्य रूप से छः स्वतंत्र भागों में विभक्त किया गया है। इन छः स्वतंत्र द्रव्यों में चेतन-द्रव्य जीव तथा पाँच अचेतन द्रव्य– धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल व काल को सम्मिलित किया गया है। यद्यपि इन छः द्रव्यों में जीव, पुद्गल और काल द्रव्य के अन्य अवान्तर अनेक स्वतंत्र भेद हैं परन्तु उन्हें सामान्य गुण की अपेक्षा से एक में अन्तर्भाव करके स्वतंत्र द्रव्यों की संख्या छः ही मानी गई है। उत्तराध्ययन[21] में भी लोक को छः द्रव्यों का समूह कहा गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में भी आचार्य उमास्वाति ने **अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः** - (5.1) धर्म, अधर्म, आकाश व पुद्गल को अजीव कहकर **द्रव्याणि, जीवाश्च** - (5.2) सूत्र द्वारा जीव को भी द्रव्य मानकर पाँच द्रव्य स्वीकार किये हैं। किन्तु, पश्चात् में **कालाश्चेत्येक** - (5.38) सूत्र द्वारा काल को भी द्रव्य मानते हुए द्रव्यों की संख्या छः मान ली है। आधुनिक युग में जैन आचार्य तुलसी ने अपनी पुस्तक जैन सिद्धान्त दीपिका[22] में द्रव्यों की संख्या छः ही मानी है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय व काल।

द्रव्यों का विभाजन

जैन परम्परा सर्वसम्मति से छः द्रव्यों को स्वीकार करती है। किन्तु, उन छः द्रव्यों का विभाजन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से किया गया है।

चेतन व अचेतन की अपेक्षा– चेतना व उपयोग जिसका लक्षण है, वह जीव द्रव्य है इसके विपरीत स्वभाव वाला अचेतन द्रव्य अजीव है। इस प्रकार चेतन व अचेतन गुण के सद्भाव व असद्भाव की अपेक्षा से द्रव्य के दो भेद हुए जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य।[23]

मूर्त व अमूर्त की अपेक्षा– पुद्गल को रूपी होने के कारण मूर्त माना गया है, शेष जीव, धर्म, अधर्म, आकाश व काल को अमूर्त व अरूपी माना है।[24]

क्रियावान व भाववान की अपेक्षा– पुद्गल व जीव सक्रिय होने के कारण क्रियावान के अन्तर्गत आते हैं जबकि धर्म, अधर्म, आकाश व काल निष्क्रिय होने से भाववान हैं। प्रवचनसार[25] में कहा गया है कि परिणाम, संघात व भेद के द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यता को प्राप्त होने के कारण जीव व पुद्गल भाव व क्रिया वाले होते हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल में सिर्फ परिणाम द्वारा ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है अतः वे भाववान हैं।

एक व अनेक की अपेक्षा– संख्या की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश व काल एक हैं तथा जीव व पुद्गल अनन्त हैं। भगवतीसूत्र[26] में भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाशास्तिकाय को एक तथा जीवास्तिकाय व पुद्गलास्तिकाय को अनन्त द्रव्य माना है।

परिणामी व नित्य की अपेक्षा– स्वभाव व विभाव परिणामों की अपेक्षा जीव व पुद्गल परिणामी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश व काल में विभावव्यंजन पर्यायों का अभाव होता है अतः वे अपरिणामी हैं।[27]

सप्रदेशी व अप्रदेशी की अपेक्षा– भगवतीसूत्र[28] में सप्रदेशी अस्तिकायों की संख्या पाँच बताई गई है– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय व पुद्गलास्तिकाय। अप्रदेशी होने के कारण काल को अस्तिकाय के अन्तर्गत नहीं रखा गया है।

क्षेत्रवान एवं अक्षेत्रवान अपेक्षा– समस्त द्रव्यों को अवगाहना प्रदान करने वाले एकमात्र द्रव्य आकाश को क्षेत्रवान शेष पाँच द्रव्यों को अक्षेत्रवान माना गया है। भगवतीसूत्र में अवगाहना को आकाश का गुण बताया गया है। **गुणओ अवगाहणागुणे** - (2.10.4)।

सर्वगत एवं असर्वगत की अपेक्षा[29]– आकाश लोक व अलोक सभी में व्याप्त होने के कारण सर्वगत है। सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होने के कारण धर्म और अधर्म द्रव्य भी सर्वगत हैं। एक जीव की अपेक्षा से जीव असर्वगत है। परन्तु लोकपुरण समुद्घात (केवली समुद्घात) की अवस्था में एक जीव भी अपेक्षा से सर्वगत है। पुद्गल द्रव्य लोक व्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा से सर्वगत है, किन्तु शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है। काल द्रव्य भी एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा से सर्वगत नहीं है। लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर भिन्न-भिन्न कालाणुओं की विवक्षा से काल द्रव्य लोक में सर्वगत है।

कारण व अकारण की अपेक्षा– पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये पाँचों द्रव्य व्यवहारनय से जीव के लिए शरीर, वाणी, भाषा, प्राण, उच्छ्वास, गति, स्थिति, अवगाहना, वर्तना आदि रूप में कार्य करते हैं अतः ये पाँचों द्रव्य कारण रूप हैं। जबकि जीव, जीव का तो उपकार करते हैं परन्तु अन्य पाँचों द्रव्यों का कुछ नहीं करते अतः अकारण हैं।

कर्ता व भोक्ता की अपेक्षा– जीव पाप व पुण्य की दृष्टि से कर्मों का कर्ता भी है और उसके शुभ-अशुभ परिणाम का भोक्ता भी है। भगवतीसूत्र[30] में जीव को कामी व भोगी दोनों ही रूप में स्वीकार किया है। अन्य शेष पाँच द्रव्यों में पाप-पुण्य की अपेक्षा से अकर्तृत्व है।

भगवतीसूत्र में द्रव्य के भेद-प्रभेद

भगवतीसूत्र में मुख्य रूप से द्रव्य के दो भेद किये गये हैं– 1. जीव द्रव्य, 2. अजीव द्रव्य। अजीव द्रव्य के तीन प्रकार से भेद किये गये हैं–

(क) अजीवद्रव्य[31]

रूपी-अजीवद्रव्य	अरूपी-अजीवद्रव्य
↓	↓
स्कन्ध	धर्मास्तिकाय
स्कन्ध देश	धर्मास्तिकाय का देश
स्कन्धप्रदेश	धर्मास्तिकाय का प्रदेश
स्कन्धपरमाणु	अधर्मास्तिकाय
	अधर्मास्तिकाय का देश
	अधर्मास्तिकाय का प्रदेश
	आकाशास्तिकाय

आकाशास्तिकाय का देश
आकाशास्तिकाय का प्रदेश
अद्धाकाल

(ख) अजीवद्रव्य[32]

रूपी-अजीवद्रव्य	अरूपी-अजीवद्रव्य
↓	↓
स्कन्ध	धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश
स्कन्ध देश	धर्मास्तिकाय के प्रदेश
स्कन्धप्रदेश	अधर्मास्तिकाय नहीं, अधर्मास्तिकाय का देश
स्कन्धपरमाणु	अधर्मास्तिकाय के प्रदेश
	आकाशास्तिकाय नहीं,आकाशास्तिकाय का देश आकाशास्तिकाय के प्रदेश
	अद्धासमय

(ग) अजीवद्रव्य[33]

रूपी	अरूपी
↓	↓
स्कन्ध	धर्मास्तिकाय-नौधर्मास्तिकाय देश
स्कन्ध देश	धर्मास्तिकाय के प्रदेश
स्कन्ध प्रदेश	अधर्मास्तिकाय-नौअधर्मास्तिकाय का देश
परमाणु-पुद्गल	अधर्मास्तिकाय के प्रदेश
	अद्धासमय

भगवतीसूत्र[34] में सर्वद्रव्य की विवेचना में द्रव्य के छः भेद किये गये हैं-

1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय, 5. पुद्गलास्तिकाय, 6. अद्धासमय

अस्तिकायों के विवेचन में पाँच अस्तिकाय का विवेचन प्राप्त होता है।[35]

1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय, 5. पुद्गलास्तिकाय

इस प्रकार भगवतीसूत्र में द्रव्य के दो प्रमुख भेद जीव व अजीव किये गये हैं। पाँच अस्तिकायों व छः द्रव्यों का विभाजन भी मिलता है। आगे जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य के क्रम में द्रव्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

संदर्भ

1. व्या. सू., 2.10.1, 25.4.8
2. 'द्रव्यं-भव्वे' जैनेन्द्र व्याकरण, 4.1.158
3. 'दवियदि गच्छदि..... अणण्ण भूदं तु सत्तादो।' - पंचास्तिकाय, गा. 9
4. 'यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवंति वा तानि इति द्रव्याणि।' सर्वार्थसिद्धि 5.2.529, पृ. 202
5. पंचध्यायी पूर्वार्द्ध, टीकाकार शास्त्री मक्खन लाल, गा. 143
6. 'ण हवदि जदि सद्दव्वं.....दव्व सयं सत्ता।' प्रवचनसार, गा., 105
7. 'दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।' - पंचास्तिकाय, गा. 10
8. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन), संघवी, सुखलाल, पृ. 194
9. वही, पृ. 196
10. नियमसार, गा. 9
11. पंचास्तिकाय, गा. 12, 13
12. सर्वार्थसिद्धि, 5.38.600
13. प्रमाणनय तत्त्वालोक, 5.6-8 पृ. 82
14. (क) न्यायविनिश्चय, प्रथम प्रत्यक्षप्रस्ताव (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, 5.22
15. आप्तमीमांसा, 4.71.7
16. 'अथिरे पलोट्टति जाव पंडितत्तं आसासतं' - व्या. सू. 1.9.28
17. 'अट्ठविहा आया पन्नत्ता, तं जहा दवियाया.....विरियाया।' वही, 12.10.1
18. पंचास्तिकाय, गा. 12, 17
19. मेहता मोहनलाल- जैन धर्म-दर्शन, पृ. 123-129
20. व्या. सू., 25.4.8
21. उत्तराध्ययन, 28.7
22. जैन सिद्धान्त दीपिका, 1.1-2
23. (क) पंचास्तिकाय, गा. 124, (ख) प्रवचनसार, गा. 127, (ग) व्या. सू., 25.2.1
24. पंचास्तिकाय, गा. 97
25. प्रवचनसार, गा. 129
26. व्या. सू., 2.10.2-6, 25.2.2-3
27. बृहद्द्रव्य संग्रह, प्रथम अधिकार, चूलिका, पृ. 60-63
28. व्या. सू., 2.10.1
29. बृहद्द्रव्य संग्रह, प्रथम अधिकार, चूलिका, पृ. 60-63
30. 'जीवा कामी वि भोगी वि' - व्या. सू. 7.7.13
31. वही, 25.2.1-2
32. वही, 10.1.8
33. वही 2.10.11
34. वही, 25.4.8
35. वही, 2.10.1



जीव द्रव्य

जीव या आत्मा भारतीय दर्शन की आत्मा ही है, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है। समस्त दार्शनिक चिन्तन इसी आत्मतत्त्व के इर्द-गिर्द ही घूमता प्रतीत होता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा के संबंध में अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। वेदों में यद्यपि आत्मा के संबंध में स्पष्ट विचार नहीं मिलते हैं, किन्तु आगे चलकर उपनिषदों में उनका विकसित रूप अवश्य ही प्राप्त होता है। उपनिषदों में आत्मा के संबंध में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं। उपनिषद चिन्तन आत्म-स्वरूप निर्धारण में निरन्तर प्रगति करता प्रतीत होता है। बौद्ध-दर्शन[1] के संस्थापक भगवान बुद्ध स्पष्ट रूप से आत्मा का निषेध न कर आत्म-संबंधी प्रश्नों को अव्याकृत कहकर मौन हो जाते हैं। सांख्य[2] आत्मा को नित्य, विभु, चेतन व भोगी मानता है, किन्तु आत्मा को कर्ता नहीं मानता है। न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य तो मानते हैं, किन्तु चैतन्य को उसके आगन्तुक गुण के रूप में स्वीकार करते हैं।[3] जैन दर्शन में आत्मतत्त्व के विकास पर विशेष चिन्तन किया गया है। जैन दर्शन में आत्मा के लिए प्रायः 'जीव' शब्द का प्रयोग ही हुआ है।

जीव के अस्तित्व के प्रमाण

जिस प्रकार घट, पट आदि पुद्गल द्रव्यों का हमें प्रत्यक्ष दर्शन होता है उसी प्रकार आत्मा के दर्शन हमें नहीं होते हैं, क्योंकि आत्मा अरूपी द्रव्य है, लेकिन आत्मा का अनुभव हमें इसके अभिन्न गुण चेतना के व्यापार द्वारा होता है। इसे समझाते हुए भगवतीसूत्र[4] में कहा गया है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार-पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव से जीवभाव (चैतन्य) को प्रकट करता है। यहाँ आत्मभाव से तात्पर्य उत्थान, गमन, शयन, भोजन आदि आत्मा के परिणाम से है। इन आत्मभावों से जीव अपने जीवत्व (चैतन्य) का प्रकाशन करता है। आगे इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए महावीर कहते हैं- जीव आभिनिबोधिक आदि पांचों ज्ञान की अनंत पर्यायों, मति आदि तीन अज्ञानों की अनंत पर्यायों, चक्षु आदि चार दर्शनों की अनंत पर्यायों के उपयोग को प्राप्त होता है

क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है। इसी कारण से यह कहा गया है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुष-पराक्रम वाला जीव, आत्म-भाव से जीवभाव (चैतन्य) को प्रदर्शित करता है। यहाँ यह कथन संसारी जीव की अपेक्षा से किया गया है।

षड्दर्शनसमुच्चय टीका[5] में गुणरत्नसूरि ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा है- आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि ज्ञान गुण का प्रत्यक्ष होता है, अतः आत्मा को प्रत्यक्ष सिद्ध मानना चाहिये। आचार्य पूज्यपाद[6] ने भी आत्मा के अस्तित्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है- जिस प्रकार यंत्र प्रतिमा की चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ता का ज्ञान कराती हैं वैसे ही प्राण, अपान आदि क्रियाएँ भी आत्मा का ज्ञान कराती हैं। जिनभद्रसूरि[7] के अनुसार जैसे गुण व गुणी की अभिन्नता है, वैसे ही स्मरण आदि गुणों से जीव भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। इन्द्रियाँ कारण हैं अतः इनका कोई ना कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिये वह अधिष्ठाता ही आत्मा है। कुछ आचार्यों ने श्वासोच्छ्वास के रूप में एवं प्राणापान के कारण आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है।

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए देवेन्द्रमुनि[8] ने कहा है कि आत्मा की संसिद्धि साधन-प्रमाणों से और बाधक प्रमाणों के अभाव इन दोनों से ही होती है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक-प्रमाण अनेक हैं, किन्तु बाधक-प्रमाण एक भी ऐसा नहीं है जो आत्मा का निषेध करता है। इसलिए आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है- यह सिद्ध होता है। आत्मा है, इसका प्रमाण तो चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं उससे अप्रत्यक्ष आत्मा का सद्भाव स्वतः सिद्ध है। धुआँ देखकर ही तो अग्नि का ज्ञान होता है क्योंकि बिना अग्नि के धुआँ नहीं होता है। इस प्रकार जैन दर्शन में चेतना, श्वास, प्राण आदि गुणों द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है।

जैन परम्परा में जीव की अवधारणा

जैन अनुश्रुति में आत्मा या जीव की अवधारणा अत्यंत प्राचीन है। अगर हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखे तो भी भगवान् पार्श्वनाथ के समय (ई.पू. 8वीं शताब्दी) तक जैन परम्परा में जीव-वाद का सिद्धान्त सुस्थिर हो चुका था। जैन परम्परा में जीव या आत्मा की मान्यता जैसी पार्श्वनाथ के समय में थी वैसी ही आज भी है। उसमें किंचित् मात्र भी परिर्वतन नहीं हुआ है। इस संबंध में पंडित सुखलाल जी का मत है कि स्वतंत्र जीववादियों में प्रथम स्थान जैन परम्परा का ही है। जीव अनादि-निधन है, न उसका आदि है न अन्त है। वह अविनाशी है। अक्षय है।

द्रव्य दृष्टि से उसका स्वरूप तीनों कालों में एक सा रहता है, इसलिए वह नित्य है और पर्याय रूप से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है अतः वह अनित्य है।[9]

प्राचीन जैन आगमग्रंथों में जीव के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। प्रथम आगम ग्रंथ आचारांग[10] में आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए आत्मा को अरूपी, तर्क व बुद्धि से परे, ज्ञाता व अपदस्त बताया गया है। स्थानांग-सूत्र[11] में जीव का स्वरूप चेतनामय स्वीकार किया गया है तथा उसे ज्ञान-दर्शन उपयोग के लक्षण वाला बताया है। उत्तराध्ययन[12] में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप व वीर्य को आत्मा के लक्षण माने हैं। पंचास्तिकाय[13] में आचार्य कुंदकुंद ने आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मा जीव है, चैतन्य है, उपयोग वाला है, स्वकृत कर्मों का स्वामी है, पाप-पुण्यरूप कर्मों का कर्ता एवं उन कर्म-फलों का भोक्ता, शरीर-प्रमाण, अमूर्तिक व कर्म संयुक्त है। भावपाहुड[14] में उन्होंने आत्मा को अरस, अरूप, अंगध, अव्यक्त, अशब्द व चेतन गुण वाला कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने उपयोग को आत्मा का लक्षण स्वीकार किया है- **उपयोगो लक्षणम्** - (2.8)। द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया है- **जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो। भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।** - (गा-2) अर्थात् जीव उपयोगवान है, अमूर्त है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण है, संसारी है, सिद्ध है तथा स्वभाव से ऊर्ध्व गति करने वाला है। आधुनिक आचार्यों में आचार्य तुलसी ने अपनी पुस्तक जैन सिद्धान्त दीपिका में उपयोग को आत्मा का स्वरूप माना है। **उपयोगलक्षणो जीव**-(2.2)। आगे उपयोग को उन्होंने चेतना का व्यापार कहा है- **चेतनाव्यापारः उपयोग** - (2.3)। इस प्रकार जैनागमों में तथा परवर्ती जैनाचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं में उपयोग व चेतना को जीव का प्रमुख लक्षण माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपयोग व चेतना दोनों ही समानार्थक हैं। चेतना जीव की योग्यता है एवं उपयोग उस योग्यता की क्रियान्विति है। यही लक्षण जीव-द्रव्य को अजीव-द्रव्य से पृथक् करता है।

भगवतीसूत्र में जीव की परिभाषा एवं स्वरूप

भगवतीसूत्र में जीव की परिभाषा देते हुए कहा है- **अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी जीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे** - (2.10.5) अर्थात् जीवद्रव्य वर्ण, रस, गंध, स्पर्शादि से रहित होने के कारण अरूपी है। जीव (चैतन्य) स्वरूप

है। शाश्वत है। अवस्थित लोकद्रव्य है अर्थात् लोकाकाश के बराबर है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व गुण की अपेक्षा से जीवास्तिकाय को संक्षेप में पांच प्रकार का बताया गया है– **से समासओ पंचविह पण्णत्ते; तंजहा-दव्वत्तो-जाव गुणतो** -(2.10.5)।

द्रव्य की अपेक्षा से जीवास्तिकाय अनन्त जीवद्रव्यरूप है। क्षेत्र की अपेक्षा से लोक प्रमाण है अर्थात् जीवास्तिकाय के उतने ही प्रदेश माने गये हैं, जितने कि लोकाकाश के प्रदेश हैं। काल की अपेक्षा से वह कभी नहीं था ऐसा नहीं है, कभी नहीं है ऐसा नहीं, कभी नहीं होगा ऐसा नहीं, अतः भूत, भविष्य व वर्तमान में उसकी सत्ता है इसलिए उसे नित्य माना है। भाव की अपेक्षा वर्ण, गंध, रस व स्पर्श का अभाव होने के कारण वह अमूर्त माना गया है। वास्तव में निश्चयनय की अपेक्षा से तो सभी जीव अमूर्त ही है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मों से बद्ध संसारी जीवों को मूर्त माना गया है। गुण की अपेक्षा से उसे उपयोग गुण वाला माना गया है।[15] ग्रंथ में अन्यत्र जीव को परिभाषित करते हुए उसे अक्षत, अनादि-निधन, ध्रुव, नित्य व अविनाशी बताया गया है।[16]

चेतनामय जीव

भगवतीसूत्र[17] में जीव के पर्यायवाची शब्दों में 'चेया' शब्द का उल्लेख किया गया है। अन्यत्र चेतना व जीव में तादात्म्य स्थापित करते हुए चैतन्य को ही जीव मान लिया गया है– **जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे** -(6.10.2) अर्थात् जो जीव है वह निश्चित रूप से चैतन्य स्वरूप है तथा जो चैतन्यस्वरूप है, वह भी निश्चित रूप से जीव है। स्थानांगसूत्र[18] में भी जीव को चेतनामय स्वीकार किया गया है। प्रवचनसार[19] में आचार्य कुंदकुंद ने जीव का लक्षण चेतना माना है। द्रव्यसंग्रह[20] में जीव के लिए 'चेदा' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ कहा गया है कि निश्चयनय की दृष्टि से त्रिकाल में चेतना जिसके प्राण है, वह जीव है।

जीव व चैतन्य की अभिन्नता को स्वीकार करते हुए भगवतीसूत्र[21] में चेतना के अस्तित्व की सिद्धि के लिए भी कई जगह प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। कहा गया है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार-पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव से चैतन्य को प्रकट करता है। जीव में चेतना का अस्तित्व होता है इसलिए वह विभिन्न प्रकार की गति करता है। जीव सदा समित (मर्यादित) रूप से कांपता है, विविध रूप में कांपता है, चलता है, स्पन्दन क्रिया करता है,

सर्वदिशाओं में जाता है, क्षुब्ध होता है।[22] मुक्त जीवों में ऊर्ध्व गति को स्वीकार किया गया है।[23]

प्राणमय जीव

भगवतीसूत्र में जहाँ एक ओर जीव व चेतना को अभिन्न माना है वहीं प्राण व जीव की भिन्नता को प्रतिपादित करते हुए कहा है– **जीवति ताव नियमा जीवे जीवे पुण सिय जीवति सिय नो जीवति** - (6.10.6) अर्थात् जो प्राणों को धारण करता है वह तो निश्चित रूप से जीव है, किन्तु जो जीव है वह कदाचित प्राणों को धारण करता है कदाचित् धारण नहीं भी करता है। शुद्धात्मा के प्राण नहीं होते हैं। वह केवल ज्ञानदर्शन स्वरूप होता है। द्रव्यसंग्रह[24] में भी व्यवहार दृष्टि से इन्द्रिय, बल, आयु व श्वासोच्छ्वास इन चार प्राण वाले को जीव कहा गया है।

उपयोग

भगवतीसूत्र में जीव का प्रमुख लक्षण उपयोग माना गया है– **गुणतो उवयोगगुणे** (2.10.5)। उपयोग के दो भेद किये गये हैं। 1. साकारोपयोग, 2. अनाकारोपयोग। ज्ञान को साकारोपयोग व दर्शन को अनाकारोपयोग कहा जाता है।[25] ज्ञान व दर्शन दोनों को ही ग्रंथ में आत्मा से अभिन्न माना है– **आया सिय णाणे, सिय अन्नाणे, णाणे पुण नियमं आया** -(12.10.10) अर्थात् आत्मा कदाचित् ज्ञान रूप भी है, कदाचित् अज्ञान रूप भी है, किन्तु ज्ञान तो निश्चित रूप से आत्मस्वरूप ही है। यहाँ आत्मा को ज्ञानरूप के साथ-साथ कदाचित् अज्ञान स्वरूप कहने का अभिप्राय ज्ञान का अभाव नहीं है वरन मिथ्याज्ञान युक्त होना है। ज्ञानरूप होने का अर्थ सम्यग् ज्ञान से युक्त होना है।

आचारांग सूत्र में भी आत्मा व ज्ञान की इसी अभिन्नता का वर्णन हुआ है– **जे आता से विण्णाता, जे विण्णाता से आता** - (1.5.6.171) अर्थात् जो आत्मा है वही ज्ञान है और जो ज्ञान है वही आत्मा है। पंचास्तिकाय[26] में आचार्य कुंदकुंद ने ज्ञान व आत्मा की अभिन्नता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञानी व ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानने पर आत्मा और ज्ञान दोनों अचेतन हो जायेंगे। भगवतीसूत्र में ज्ञान व आत्मा की अभिन्नता के साथ-साथ दर्शन को भी आत्मरूप माना है। यथा– **आया नियमं दंसणे; दंसणे वि नियमं आया** - (12.10.16)।

कर्ता व भोक्ता

भगवतीसूत्र में जीव को कर्ता व भोक्ता दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है। जीव के कर्तृत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है– जीव के कर्म चेतनाकृत होते हैं

अर्थात् स्वकृत होते हैं। जीवों के आहार, शरीर, कलेवर आदि रूपों से संचित किये हुए पुद्गल उस रूप में परिणत हो जाते हैं इसलिए वे अचेतनाकृत नहीं होते हैं।[27] इसी प्रकार प्राणातिपात आदि की जाने वाली क्रियाओं को आत्मकृत कहा गया है परकृत नहीं।[28] प्राणातिपात आदि क्रियाओं में वर्तमान जीव व जीवात्मा की भिन्नता का निराकरण करते हुए ग्रंथ[29] में कहा गया है– प्राणातिपातादि में वर्तमान जीव और जीवात्मा पृथक्-पृथक् नहीं है वरन् वही जीव व जीवात्मा है अर्थात् जीव ही प्राणातिपातादि क्रियाओं का कर्ता है। भगवतीसूत्र में जीव को जहाँ एक ओर कर्मों के कर्ता के रूप में स्वीकार किया है वहीं दूसरी ओर इन स्वकृत कर्मों के भोक्ता के रूप में भी स्वीकार करते हुए जीव को कामी व भोगी दोनों ही माना है– **जीवा कामी वि भोगी वि** – (7.7.13)। कामभोग जीवों के होता है, अजीवों के नहीं।[30]

भगवतीसूत्र में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जीव स्वकृत कर्मों में से कुछ भोगता है कुछ नहीं। यहाँ इसका तात्पर्य यही है कि उदीर्ण को भोगता है तथा जो कर्म उदीर्ण नहीं हुए हैं उन्हें नहीं भोगता है, उन्हें उदीर्ण होने पर भोगेगा।[31] कृत कर्म भोगे बिना मोक्ष नहीं इस सिद्धान्त का निरूपण करते हुए कहा है कि नारक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य या देव ने जो पापकर्म किये हैं, उन्हें भोगे बिना मोक्ष नहीं होता है। चारों गतियों में कृत कर्म को अवश्य ही भोगता है परन्तु किसी कर्म को विपाक से भोगता है किसी कर्म को प्रदेश से भोगता है। बांधे हुए कर्मों के अनुसार (यथा कर्म), निकरणों (यथा निकरण) के अनुसार जैसा-जैसा भगवान् ने देखा है वैसा-वैसा वह विपरिणाम पाएगा।[32] जीव अपने कर्मों से ही इस भव को छोड़कर अन्य भव को प्राप्त करते हैं।[33] अर्थात् जीव किसी भी भव में अपने कर्मों के फल से ही उत्पन्न होता है किसी अन्य के कर्मों से नहीं। वे जीव अपने अध्यवसाय योग से निष्पन्न कर्मबंध के हेतु द्वारा परभव की आयु बांधते हैं। जीव के भोक्ता भाव को स्पष्ट करते हुए ग्रंथ[34] में यह भी कहा गया है कि जीव भोक्ता है अतः अजीव द्रव्य, जीव द्रव्य के परिभोग में आते हैं। जीव-द्रव्य, अजीव-द्रव्यों को ग्रहणकर औदारिक, वैक्रियादि पांच शरीरों श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों, मन, वचन, काय-योग, श्वासोच्छ्वास आदि रूप में परिणमाते हैं।

उत्तराध्ययन[35] में भी जीव को कर्मों का कर्ता व भोक्ता दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन में कहा है कि आत्मा नानाविध कर्मों का कर्ता है। भोक्ता के रूप में वह अनेक जाति व योनियों में जन्म लेता है तथा कृत कर्मों

का फल भोगे बिना उसे मोक्ष नहीं होता है। समयसार[36] में आचार्य कुंदकुंद ने कहा है कि व्यवहार नय से आत्मा अनेक पुद्गल कर्मों का कर्ता अनेक कर्म पुद्गलों का भोक्ता है। प्राचीन जैन ग्रंथों से ही नहीं उपनिषदों[37] से प्राप्त जीव-विचार से भगवतीसूत्र की इस मान्यता का समर्थन होता है कि जीवात्मा फल के लिए कर्मों का कर्ता है और किये हुए कर्मों का भोक्ता भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवतीसूत्र में जीव में कर्तृत्व व भोक्तृत्व दोनों भाव स्वीकार किये गये हैं। संभवतः उस समय कुछ ऐसी मान्यताएँ प्रचलित रही होंगी जो इस बात में विश्वास करती थीं कि कर्मों का कर्ता कोई और तथा भोक्ता कोई और है। यदि ईश्वर की कृपा हो जाय तो व्यक्ति को अपने दुष्कर्मों का फल ही नहीं भोगना पड़ेगा। किन्तु, भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने इन भ्रांत मान्यताओं का निरासन करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जीव स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता है उन्हीं कर्मों के परिणामानुसार वह सुख-दुःख को भोगेगा।

स्वदेह परिमाण

जीव या आत्मा के परिमाण को लेकर दार्शनिकों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इस संबंध में प्रायः दर्शनों में मतभेद हैं। सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन आत्मा को अमूर्त होने के कारण आकाश की तरह सर्वव्यापक मानते हैं। गीता[38] में भी आत्मा की सर्व-व्यापकता को स्वीकार किया गया है। कुछ वेदान्तवादी, माधवाचार्य आदि ने आत्मा को अणु रूप में स्वीकार किया है।[39]

भगवतीसूत्र[40] में आत्मा को न सर्वव्यापक माना है न अणुपरिमाण वरन् अन्य जैन ग्रंथों की तरह स्वदेह-परिमाण स्वीकार किया गया है। जीव की स्वदेह-परिमाण योग्यता को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए ग्रंथ में कहा है कि हाथी व कुंथुए का जीव समान होता है। यद्यपि उनमें शरीरों का अन्तर है। हाथी का शरीर बड़ा व कुंथुए का शरीर छोटा होता है, किन्तु सभी जीव समान रूप से असंख्यात प्रदेश वाले होते हैं। शरीर के आकार के अनुसार ही जीव के प्रदेशों का संकोचन व विस्तार होता रहता है। इसे दीपक के दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझाया गया है। जैसे- एक दीपक का प्रकाश एक कमरे में फैला हुआ है और उसे किसी बर्तन से ढक दिया जाय तो वह प्रकाश बर्तन-परिमित हो जाता है, इसी प्रकार जब जीव हाथी का शरीर धारण करता है तो वह उतने बड़े शरीर में व्याप्त रहता है। इस प्रकार छोटे-बड़े शरीर का ही अन्तर रहता है, जीव में कुछ भी अन्तर नहीं है।

सभी जीव समान रूप से असंख्यात प्रदेशों वाले हैं। उन प्रदेशों का संकोचन-विस्तार मात्र होता है।[41]

गणधरवाद[42] में कहा गया है कि आत्मा सर्वव्यापी नहीं अपितु शरीरव्यापी है। जैसे- घट गुण घट में ही उपलब्ध है उसी तरह आत्मा के गुण शरीर में ही उपलब्ध हैं। शरीर से बाहर (संसारी) आत्मा की अनुपलब्धि है, अतः शरीर में ही उसका निवास है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि युक्ति-युक्त तभी बनते हैं जब आत्मा को अनेक और शरीर-व्यापी माना जाय। प्रवचनसार टीका[43] में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा की स्वदेह परिमाण वृत्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि आत्मा स्थूल तथा कृश शरीर में, बालक तथा कुमार के शरीर में व्याप्त होता है। इसी बात को भगवतीसूत्र[44] में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव शरीर में सर्वव्यापी है अर्थात् शरीर के हर अंश में जीव व्याप्त है। इसे पुनः उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। कछुआ, गोधा, गाय, मनुष्य, भैंसा व उनकी पंक्ति इन सबके दो, तीन या संख्यात टुकड़े कर दिये जाये तो भी उनके बीच का भाग जीव-प्रदेश से स्पृष्ट रहता है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा कर्मों के अनुसार जिस शरीर को प्राप्त करता है अपना संकोचन व विस्तार उसी शरीर के अनुसार कर लेता है, फिर उस शरीर का कोई भी अंश ऐसा नहीं जहाँ आत्मा के प्रदेश न हों। जीव चाहे छोटी देह को धारण करने वाला हो या बड़ी देह को धारण करने वाला हो अविरति का सद्भाव दोनों में एक समान ही रहता है। गौतम द्वारा यह पूछे जाने पर कि हाथी और कुंथुए के जीव को क्या समान रूप से अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि अविरति की अपेक्षा से दोनों को समान अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगेगी।[45]

नित्यानित्यता

जैन-दर्शन में द्रव्य का लक्षण सत् स्वीकार किया गया है और सत् वही है जो उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य इन तीनों गुणों से युक्त है।[46] इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भगवतीसूत्र में जीव को स्याद्वादशैली में शाश्वत व अशाश्वत दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है। यथा- **गोयमा! जीवा सिय सासता, सिय असासता** - (7.2.36)।

द्रव्य की दृष्टि से जीव शाश्वत है और भाव (पर्याय) की दृष्टि से जीव अशाश्वत है। पंचास्तिकाय[47] में आचार्य कुंदकुंद ने भी आत्मा की नित्यता व अनित्यता को समझाते हुए कहा है कि मनुष्यत्व से नष्ट हुआ जीव देवत्व को प्राप्त

होता है पर इसमें जीव न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। जीव की नित्यानित्यता से क्या तात्पर्य है इसे स्पष्ट करते हुए जमाली[48] के प्रसंग में भगवान् महावीर ने कहा है कि तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं जब जीव न हो इसलिए जीव शाश्वत, ध्रुव एवं नित्य कहा गया है। किन्तु, नारक मिटकर तिर्यंच होता है। तिर्यंच मिटकर मनुष्य बनता है और कदाचित् मनुष्य होकर वह देव हो जाता है। इस अपेक्षा से वह अशाश्वत व अनित्य है।

स्पष्ट है कि यहाँ जीव को त्रैकालिक होने के कारण द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से शाश्वत कहा गया है, किन्तु भिन्न-भिन्न पर्यायों में परिणमन करने के कारण पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अशाश्वत कहा है। नाना अवस्थाओं में रहने पर भी जीवत्व कभी लुप्त नहीं होता पर जीव की अवस्थाएँ लुप्त होती रहती हैं। भौतिकवादी दर्शन जहाँ आत्मा को सर्वथा अनित्य रूप में स्वीकार करते हैं तथा शाश्वतवादी दर्शन आत्मा को सर्वथा नित्य रूप में स्वीकार करते हैं। भगवतीसूत्र में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों के समन्वय का प्रयत्न है। चेतन जीव-द्रव्य का विच्छेद कभी नहीं होता है। इस दृष्टि से जीव को नित्य मानकर शाश्वतवाद को प्रश्रय दिया गया है और जीव की नाना अवस्थाएँ जो स्पष्ट रूप से विछिन्न होती हुई देखी जाती हैं, उनकी अपेक्षा से उच्छेदवाद को भी प्रश्रय दिया गया है।[49]

सान्तता व अनन्तता

जीव की सान्तता व अनन्तता को भगवतीसूत्र[50] में द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से स्पष्ट किया गया है। द्रव्य की अपेक्षा एक जीव अन्त सहित है। क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असंख्य प्रदेश वाला है और असंख्य प्रदेशों का अवगाहन किए हुए है, अतः वह अन्तसहित है। काल की अपेक्षा से ऐसा कोई काल नहीं था, जिसमें जीव-द्रव्य न था; ऐसा कोई काल नहीं है, जिसमें जीव-द्रव्य नहीं रहेगा अतः जीव-द्रव्य ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। भाव की अपेक्षा से जीव अनन्त ज्ञानपर्यायरूप है, अनन्त दर्शनपर्यायरूप है, अनन्तचारित्रपर्यायरूप है, अनन्त गुरुलघुपर्यायरूप है, अनन्त अगुरुलघुपर्यायरूप है और अन्त रहित है। इस प्रकार द्रव्य-जीव व क्षेत्र-जीव अन्त सहित है, तथा काल-जीव और भाव-जीव अन्त रहित है।

अभेद्य-अछेद्य

भगवतीसूत्र[51] में जीव को अभेद्य, अछेद्य, अदाह्य कहा है अर्थात् जीव का छेदन-भेदन नहीं हो सकता है। शस्त्रादि से प्रहार करने पर जीव के प्रदेशों पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसे दृष्टांत द्वारा समझाते हुए कहा है कि कोई पुरुष कछुए, गाय, भैंसे, मनुष्य आदि के दो तीन या संख्यात टुकड़े करने के पश्चात् उन टुकड़ों के बीच के भाग को हाथ से, पैर से, अंगुलि से, शलाका से, काष्ठ से या लकड़ी के छोटे से टुकड़े से स्पर्श करें, खींचे या किसी तीक्ष्ण (शस्त्र) से छेदे या अग्निकाय उसे जलाये तो भी वह जीव-प्रदेशों को जरा भी छेद नहीं सकता, न ही उसे थोड़ी भी पीड़ा पहुँचा सकता है। जीव के प्रदेशों पर इन सब चीजों के प्रहार से कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

गुरुत्व व लघुत्व की धारणा

भगवतीसूत्र[52] में बताया गया है कि प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति-अरति परपरिवाद, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य इन अठारह पापस्थानों के सेवन करने से जीव शीघ्र गुरुत्व (भारीपन) को प्राप्त होता है, इन अठारह पापस्थानों से विरत होने पर जीव लघुत्व (हल्केपन) को प्राप्त करता है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि जीव प्राणातिपात आदि पापों का सेवन करने से संसार को बढ़ाते हैं और बार-बार भव-भ्रमण करते हैं तथा इनसे निवृत्त होने से जीव संसार को घटाते हैं, अल्पकालीन करके संसार को लांघ जाते हैं।

जीव परिणाम व परिणमन

द्रव्य का एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था को जाना परिणाम या परिणमन कहलाता है। भगवतीसूत्र[53] में जीव के दस परिणाम बताये गये हैं-

1. गति, 2. इन्द्रिय, 3. कषाय, 4. लेश्या, 5. योग, 6. उपयोग, 7. ज्ञान, 8. दर्शन, 9. चारित्र, 10. वेद। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का समग्र परिणामपद देखने का निर्देश किया गया है। जीव के परिणमन को विस्तार से समझाते हुए कहा गया है कि प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पापस्थान, औत्पतिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि, अवग्रह आदि मतिज्ञान, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुष-पराक्रम, नारक आदि गतियाँ, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म, लेश्या, तीन अज्ञान, चार दर्शन, पाँच ज्ञान, तीन दृष्टि, चार संज्ञा, पांच शरीर, तीन योग, साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग; ये सब व इनके जैसे अन्य धर्म आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणमन नहीं करते हैं। वस्तुतः ये सभी आत्मा के पर्याय हैं और पर्याय अपनी पर्यायी के साथ कथंचित् एक रूप होते हैं, अतः ये सभी पर्याय आत्मरूप होने के कारण आत्मा से अन्यत्र भिन्न पदार्थ में परिणमन नहीं करते हैं।[54]

जीव के पर्यायवाची[55]

जीव के अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख भगवतीसूत्र में मिलता है। जीव, जीवास्तिकाय, प्राण, भूत, सत्त्व, विज्ञ, चेता, जेता, आत्मा, रंगण, हिण्डुक, पुद्गल, मानव, कर्ता, विकर्ता, जगत, जन्तु, योनि, स्वयम्भू, सशरीरी, नायक एवं अन्तरात्मा, ये सब व इनके समान अन्य अनेक अभिवचन जीव के हैं। भगवती वृत्ति[56] में इन सभी शब्दों का विवेचन किया गया है। भगवतीसूत्र[57] में मृतादि निर्ग्रंथ के भव-भ्रमण एवं भवान्तकरण के प्रसंग में भगवान् महावीर ने जीवादि कुछ शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है- जीव बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास तथा नि:श्वास लेता है और छोड़ता है, इसलिए उसे 'प्राण' कहना चाहिये। वह भूत, भविष्य और वर्तमान में है इसलिए उसे 'भूत' कहना चाहिये। वह जीव होने से जीता है, जीवत्व एवं आयुष्यकर्म का अनुभव करता है इसलिए, उसे 'जीव' कहना चाहिये। वह शुभ व अशुभ कर्मों से सम्बद्ध है इसलिए, 'सत्व' कहना चाहिये। वह तिक्त, कटु-कषाय, खट्टा और मीठा, इन रसों का वेत्ता (ज्ञाता) है इसलिए, उसे 'विज्ञ' कहना चाहिये तथा वह सुख-दु:ख का वेदन करता है, इसलिए उसे 'वेद' कहना चाहिये।

जीव के प्रदेश

तत्त्वार्थसूत्र[58] में धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय द्रव्यों की तरह जीव को भी असंख्यात प्रदेश माना है। किन्तु, जीव के प्रदेश बुद्धि कल्पित होते हैं जो वस्तुभूत स्कंध से परमाणु की तरह पृथक् नहीं किये जा सकते हैं। जीव के प्रदेशों का विवेचन करते हुए भगवतीसूत्र[59] में कहा गया है कि लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही एक-एक जीव के जीव प्रदेश हैं। चूंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश माने गये हैं। अत: एक जीव के भी असंख्यात प्रदेश हैं। सम्पूर्ण जीवास्तिकाय के अनंत प्रदेश होते हैं। जीव के देश व प्रदेश का पृथक् रूप से उल्लेख करते हुए कहा गया है कि लोकाकाश में जीव भी हैं, जीव के देश भी हैं, जीव के प्रदेश भी हैं- **गोयमा! जीवा वि जीवदेसा वि जीवपदेसा वि** - (2.10.11)।

अनन्त जीव द्रव्य

जैन-दर्शन अनेक आत्मा के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। जैन-दर्शन के मौलिक ग्रंथ 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'जीवाश्च' - (5.2) सूत्र का प्रतिपादन किया गया है। यह सूत्र जैन-दर्शन के अनेक आत्मवाद सिद्धान्त को पुष्ट करता है। अकलंक[60] ने 'जीवाश्च' सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि जीवों की अनन्तता और

विविधता सूचित करने के लिए 'जीवाश्च' बहुवचन का प्रयोग किया गया है। संसारी जीव गति आदि चौदह मार्गणास्थान, मिथ्या दृष्टि आदि चौदह गुणस्थान, सूक्ष्म, बादर आदि चौदह जीव स्थानों के विकल्पों से अनेक प्रकार के हैं। मुक्त जीव भी एक, दो, तीन संख्यात, असंख्यात, समयसिद्ध शरीराकार, अवगाहनादि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। जीव की अनन्तता के इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र[61] में कहा गया है कि जीव-द्रव्य संख्यात नहीं असंख्यात नहीं अनन्त हैं। नैरयिक, वायुकायिक आदि असंख्यात हैं और वनस्पतिकायिक अनन्त हैं, द्वीन्द्रिय, वैमानिक आदि असंख्यात हैं, सिद्ध अनन्त हैं। इस कारण यह माना गया है कि जीव द्रव्य अनन्त हैं। द्रव्य की अपेक्षा से भगवतीसूत्र में जीवास्तिकाय को अनन्त जीव द्रव्य रूप माना है। - **दव्वतो णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं**- (2.10.5)। जीवों की अनन्तता को स्वीकार करने के साथ-साथ भगवतीसूत्र[62] में यह भी माना गया है कि जीव घटते-बढ़ते नहीं हैं। किन्तु, अवस्थित रहते हैं। अवस्थित से तात्पर्य है कि जीवों की उत्पत्ति व मरण समान संख्या में होना। अथवा कुछ काल तक जीव का जन्म-मरण नहीं होना। जीवों की अवस्थिति के विषय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जीव सर्वद्धा (सब काल में) अवस्थित रहते हैं।

जीव के भाव

कर्मों के संयोग व वियोग के कारण जीव की जो अवस्था विशेष होती है, वह भाव कहलाती है। जीव अनादि काल से कर्मबंधन युक्त है। जब तक कर्मों का बंधन चलता रहता है, जीव के भाव परिणत होते रहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र[63] में जीव के पाँच भाव बताये हैं-

1. औपशमिक, 2. क्षायिक, 3. मिश्र (क्षायोपशमिक), 4. औदयिक, 5. पारिणामिक।

भगवतीसूत्र[64] में जीव के छः भाव बताये हैं-

1. औदयिक, 2. औपशमिक, 3. क्षायिक, 4. क्षायोपशमिक, 5. पारिणामिक, 6. सान्निपातिक

औदयिक भाव- कर्मों के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था औदयिक भाव है। यह आठों कर्मों का होता है।

औपशमिक भाव- इस अवस्था में उदय आठ कर्मों का होता है पर उपशम केवल मोहनीय कर्म का होता है। इस अवस्था में मोहनीय कर्म पूर्ण रूप से प्रभावहीन हो जाता है।

क्षायिक भाव– कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की अवस्था, क्षायिक भाव है।

क्षायोपशमिक भाव– ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन घाति कर्मों के हल्केपन से आत्मा की जो अवस्था होती है, वह क्षायोपशमिक भाव है। इस अवस्था में प्रतिपल, प्रतिक्षण कर्म का उदय, वेदन व क्षय होता रहता है।

पारिणामिक भाव– कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना स्वभावत: जीव में जो परिणतियाँ होती हैं, वह पारिणामिक भाव है।

सान्निपातिक भाव– औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पाँचों भावों में से दो, तीन, चार या पाँच भावों के मिलने से जो भाव निष्पन्न होते हैं, वे सब सान्निपातिक भाव हैं।[65]

जीव अथवा आत्मा के आठ प्रकार

आत्मा चैतनस्वरूप है तथा उपयोग को उसका लक्षण माना गया है। लेकिन यह चैतन्य सभी प्राणियों में सर्वदा एक सा नहीं रहता है। उसमें रूपान्तरण होता रहता है। इसी रूपान्तरण को पर्याय परिवर्तन कहा जाता है। आत्मा एक द्रव्य है, किन्तु उसमें पर्याय परिवर्तन प्रतिक्षण होते रहते हैं। इस प्रकार पर्याय परिवर्तन की दृष्टि से आत्मा के अनन्त भेद हो सकते हैं। भगवतीसूत्र[66] में मुख्यरूप से आत्मा के आठ भेद किये हैं।

1. द्रव्य-आत्मा, 2. कषाय-आत्मा, 3. योग-आत्मा, 4. उपयोग-आत्मा, 5. ज्ञान-आत्मा, 6. दर्शन-आत्मा, 7. चारित्र-आत्मा, 8. वीर्य-आत्मा

द्रव्य-आत्मा– द्रव्यात्मा चेतनामय असंख्य, अविभाज्य प्रदेशों-अवयवों का अखंड समूह है। इसमें केवल विशुद्ध आत्म-द्रव्य को ही स्वीकार किया गया है। पर्यायों को गौण मान लिया गया है। यह शुद्ध चेतना रूप है।

कषाय-आत्मा– क्रोध, मान, माया व लोभ से रंजित हुआ आत्मा कषायात्मा होता है।

योग-आत्मा– आत्मा की सभी प्रवृत्तियाँ योग के माध्यम से की जाती हैं, अत: आत्मा का एक भेद योग-आत्मा भी माना गया है।

उपयोग-आत्मा– ज्ञान दर्शन रूप, उपयोग प्रधान आत्मा उपयोग-आत्मा कहलाती है।

ज्ञान-आत्मा– ज्ञानात्मक चेतना को ज्ञान-आत्मा कहते हैं। यह सम्यग् दृष्टि जीवों में पाई जाती है।

दर्शन-आत्मा– दर्शनात्मक चेतना को दर्शन-आत्मा कहा जाता है।

चारित्र-आत्मा– आत्मा की विशिष्ट संयममूलक अवस्था चारित्र-आत्मा के नाम से विश्रुत है।

वीर्य-आत्मा– आत्मा की शक्ति वीर्य-आत्मा के नाम से जानी जाती है।

आत्मा के उक्त आठ प्रकार अपेक्षा भेद से किये गये हैं। अनंत पर्यायों की दृष्टि से आत्मा के अनंत भेद हो सकते हैं। कौन सी आत्मा के साथ कौन सी आत्मा पाई जाती है, इसका ग्रंथ में विस्तार से विवेचन हुआ है।

जीव व पुद्गल का संबंध

लोक व्यवस्था के संचालन हेतु भगवतीसूत्र में मुख्य रूप से दो तत्त्व- जीव और अजीव स्वीकार किये हैं। ग्रंथ में अजीव के पुनः रूपी व अरूपी दो विभाग करने पर एकमात्र पुद्गल को रूपी तत्त्व तथा धर्म, अधर्म, आकाश व काल को अरूपी मानकर तत्त्वों की संख्या छः मान ली गई है। इन छः तत्त्वों में से जीव व पुद्गल ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो लोक व्यवस्था के संचालन में महत्वपूर्ण हैं। इनके संयोग व वियोग से यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत रूपी रंगमंच चलता है। लेकिन सम्पूर्ण जगत को चलाने वाले ये दोनों तत्त्व स्वभावतः सर्वथा ही भिन्न हैं। जहाँ जीव चैतन्य स्वरूप व अमूर्त है वहीं पुद्गल मूर्त व अचेतन है। दोनों एक साथ रहते व कार्य करते हुए भी कभी भी एक दूसरे के स्वभाव को ग्रहण नहीं करते हैं। जीव कभी अचेतन नहीं बन सकता है न ही पुद्गल कभी चेतन रूप बन सकता है। ऐसी स्थिति में जब हम यह कहते हैं कि जीव व अजीव दोनों के संयोग से ही इस दृश्यमान जगत की सृष्टि होती है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जीव व अजीव का संबंध कैसे होता है तथा उसका क्या स्वरूप है?

भगवतीसूत्र में जीव व अजीव के संबंध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है है–**अत्थि णं भंते! जीवा य पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा अन्नमन्नपुट्ठा अन्नमन्नमोगाढा अन्नमन्नसिहेणपडिबद्धा अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति? हंता, अत्थि** - (1.6.26)। अर्थात् जीव व पुद्गल परस्पर स्पृष्ट हैं, परस्पर गाढ़रूप से मिले हुए हैं, परस्पर स्निग्धता से प्रतिबद्ध हैं, परस्पर गाढ़ होकर रहे हुए हैं।

पुनः इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहा गया कि जैसे कोई तालाब हो, वह जल से पूर्ण हो, पानी से लबालब भरा हो, पानी से छलक रहा हो, पानी से पूर्ण भरे हुए घड़े के समान है। उस तालाब में यदि सौ छिद्रों वाली कोई नौका छोड़ी जाय तो वह नौका भी पानी से लबालब भरे हुए उस घड़े के समान ही हो जायेगी।

अर्थात् नौका व तालाब एकाकार हो जायेंगे। उसी प्रकार जीव व कर्म पुद्गल एकाकार होकर रहते हैं।[67]

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सभी जीवों का पुद्गल के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। यह कथन संसारी जीवों की दृष्टि से किया गया है। मुक्त जीव व पुद्गल का सम्बन्ध नहीं होता है। इसे स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र[68] में कहा है कि रूपी (कर्मयुक्त) जीव अरूपी (कर्ममुक्त) नहीं हो सकता है तथा अरूपी जीव रूपी नहीं हो सकता है। रूपी जीव सकर्म, सराग, सवेद, समोह, सलेश्यी व सशरीर होता है अत: वह अरूपी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अकर्मी, अरागी, अवेदी, अमोही, अलेश्यी, अशरीरी जीव जन्म-मरण से मुक्त हुआ सिद्ध हो जाता है वह जीव फिर पुन: रूपी नहीं हो सकता है। जीव व पुद्गल के परस्पर सम्बन्ध को हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर और अधिक स्पष्ट कर सकते हैं।

जीव व शरीर– आत्मा अमूर्त है, उसे हम देख नहीं सकते। मूर्त शरीर में रहने के कारण ही हम अदृश्य आत्मा का अनुभव कर सकते हैं। आत्मा की जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सभी शरीर के द्वारा होती हैं। भगवतीसूत्र[69] में शरीर के पाँच भेद बताये हैं–

1. औदारिक, 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4. तैजस, 5. कार्मण

जीव व शरीर में क्या सम्बन्ध है? क्या जीव व शरीर एक दूसरे से भिन्न हैं या सर्वथा अभिन्न? इस विषय में प्राय: सभी दर्शनों में चर्चा प्राप्त होती है। चार्वाक जैसा दर्शन तो शरीर को ही आत्मा स्वीकार करता है। औपनिषद में आत्मा व शरीर को अत्यंत भिन्न माना है। बौद्ध-दर्शन इस प्रश्न पर मौन ही हो जाता है।

भगवतीसूत्र में जीव व शरीर के सम्बन्ध को लेकर निम्न विचार प्रस्तुत किये गये हैं–

आया भन्ते! काये, अन्ने काये? गोयमा! आया वि काये, अन्ने वि काये। रूविं भंते! काये पुच्छा। गोयमा! रूविं पि काये, अरूविं पि काये। एवं सचित्ते वि काए, अचित्ते वि काए - (13.7.15-17) अर्थात् भगवन् शरीर आत्मा है अथवा आत्मा से भिन्न है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि शरीर आत्मा भी है और उससे भिन्न भी है। शरीर रूपी भी है अरूपी भी है। शरीर सचित्त भी है अचित्त भी है।

शरीर व आत्मा को लेकर आये इस प्रश्नोत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर ने भेदाभेदवाद को स्वीकार करते हुए आत्मा व शरीर के संबंधों की

व्याख्या की है। उन्होंने शरीर को आत्मा से भिन्न व अभिन्न दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है। जब आत्मा को नित्य, ध्रुव, अक्षय व शाश्वत[70] कहा तब शरीर आत्मा से भिन्न हो जाता है क्योंकि आत्मा की तरह शरीर ध्रुव, नित्य, अक्षय व शाश्वत नहीं है और जब जीव के दस परिणाम[71] बताये हैं तब शरीर आत्मा से अभिन्न हो जाता है क्योंकि ये परिणाम वास्तव में शरीर के हैं आत्मा के नहीं।

चैतन्य व शरीर के इस संबंध की व्याख्या करते हुए डॉ० समणी चैतन्य प्रज्ञाजी ने अपने लेख में लिखा है कि वस्तुतः चेतना के विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर की रचना के अनुरूप ही चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर निर्माणकाल में आत्मा उसका निमित्त बनती है और ज्ञान-काल में शरीर के ज्ञान तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शरीर व आत्मा दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। जब आत्मा शरीरधारी होता है तब शरीर उसके कार्यकलापों व विकास में साधक व बाधक दोनों ही रूपों में कार्य करता है, किन्तु जब आत्मा देह मुक्त या अशरीरी हो जाता है तब उस पर शरीर का कोई प्रभाव नहीं रहता है। इसी तरह जब तक शरीर में आत्मा का निवास होता है वह सजीव व चैतन्यरूप कहलाता है, आत्मा के अभाव में वह निर्जीव व अचेतन हो जाता है।

जीव व इन्द्रिय– ज्ञान आत्मा का अभिन्न गुण है, किन्तु कर्मों से संयुक्त होने के कारण आत्मा का ज्ञान आवृत्त रहता है। अतः उस ज्ञान को प्रकट करने का माध्यम इन्द्रियाँ हैं। भगवतीसूत्र[72] में पाँच इन्द्रियाँ स्वीकार की गई हैं। 1. श्रोत्रेन्द्रिय, 2. चक्षुरिन्द्रिय, 3. घ्राणेन्द्रिय, 4. रसेन्द्रिय, 5. स्पर्शेन्द्रिय। इन पुद्गलरूप इन्द्रियों को धारण करने के कारण आत्मा को भी अभेदोपचार से पुद्गल व पुद्गली दोनों कहा है– **जीवे पोग्गली वि पोग्गले वि** – (8.10.59) अर्थात् जीव पुद्गली भी है और पुद्गल भी है। इसके कारण को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि जैसे किसी पुरुष के पास छत्र हो तो उसे छत्री, दण्ड हो तो दण्डी, घट हो तो घटी व पट हो तो पटी कहा जाता है इसी प्रकार जीव श्रोत्रेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय (पुद्गल रूप होने) की अपेक्षा से पुद्गली कहलाता है। यहाँ आत्मा को पुद्गली कहने से तात्पर्य संसारी आत्मा से ही है। संसारी आत्मा के इन्द्रियाँ अवश्य ही होती हैं। चाहे उनकी न्यूनतम संख्या ही क्यों न हो और उन इन्द्रियों को धारण करने के कारण ही जीव को पुद्गली कहा गया है। मुक्त आत्माओं के इन्द्रियाँ नहीं होती हैं अतः उन्हें पुद्गली नहीं कहा है– **सिद्धे णं भंते! किं पोग्गली, पोग्गले? गोयमा! नो पोग्गली, पोग्गले** – (8.10.61)।

जीव व मन– मनोद्रव्य का जो समुदाय मनन-चिन्तन करने में उपकारी होता है तथा जो मनः पर्याप्ति नामकर्म के उदय से सम्पादित है, उसे मन कहते हैं। मन का भेदन मन का विदलन मात्र समझा जाना चाहिये। अर्थात् मन जब चिन्तन-मनन, स्मरण, निर्णय, संकल्प, विकल्प आदि करता है तब उसका विदलन होता है।[73]

जीव व मन के भेद को स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र[74] में मन को जीव से पृथक माना है। मन आत्मा नहीं है। मन आत्मा से भिन्न है, मन रूपी है, अचित्त है, अजीव है। मन जीवों के होता है, अजीवों के नहीं। मन के चार प्रकार बताये हैं– 1. सत्यमन, 2. मृषामन, 3. सत्यमृषा मन 4. असत्य मृषामन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव व पुद्गल के संबंधों की व्याख्या करते हुए भगवतीसूत्र में न सर्वथा भेदवाद का न ही सर्वथा अभेदवाद को स्वीकार किया गया है। अपितु उनके संबंध को भेदाभेदवाद से प्रकट किया गया है। संसार स्थित जीव व पुद्गल अभिन्न होकर रहते हैं। सन्मतिप्रकरण[75] में भी संसार स्थित आत्मा व पुद्गल को नीर-क्षीरवत् एकमेक बताया है। मुक्त आत्मा के साथ पुद्गल का कोई संबंध स्वीकार नहीं किया गया है।

जीव के भेद-प्रभेद

जैन दर्शन का आधारभूत तत्त्व जीव ही है। इसी तत्त्व की नींव पर सम्पूर्ण जैन-दर्शन खड़ा है। अचारांग[76] में जीव तत्त्व की महत्ता को बताते हुए कहा गया है कि जो एक आत्म-तत्त्व को जान लेता है वह सम्पूर्ण को जान लेता है। जीव तत्त्व के संबध में जितना विस्तृत विवेचन जैन-दर्शन में प्राप्त होता है, उतना अन्यत्र किसी भी दर्शन में नहीं प्राप्त होता है। जैन-दर्शन में जीव के स्वरूप पर ही नहीं उसके भेदों-प्रभेदों पर भी विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है। यों तो जैन दर्शन में जीवों की संख्या अनंत मानी है, किन्तु व्यवहार की दृष्टि से भिन्न-भिन्न आधारों से जीवों के अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। प्रायः मोटे तौर पर जैन-दर्शन में जीवों के तीन प्रकार से भेद प्राप्त होते हैं। संक्षेप में चैतन्य की दृष्टि से सभी जीवों में एकत्व है क्योंकि चैतन्य जीव का स्वभाव ही है। मध्यम रूप में जीव के दो, छः व चौदह भेद प्राप्त होते हैं तथा विस्तार से जीव के पाँच सौ तिरेसठ भेद भी हैं। जीवों के भेद-प्रभेद के संबंध में प्रज्ञापना सूत्र व जीवाजीवाभिगम सूत्र में विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है।

भगवतीसूत्र में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जीवों के भेद-प्रभेद किये गये हैं। समग्र रूप से उन्हें प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं है, किन्तु कुछ प्रमुख दृष्टिकोणों से जीव के भेद-प्रभेद को विवेचित किया जा रहा है।

जीव का एक भेद[77]– चैतन्य को जीव का स्वरूप मानते हुए जीव व चैतन्य को अभिन्न माना गया है। इस दृष्टि से सभी जीवों में एकत्व होने के कारण जीव का एक भेद चेतनामय जीव हुआ। यह भेद द्रव्य दृष्टि से किया गया है।

जीव के दो भेद– पर्याय की दृष्टि से जीव के मुख्य दो भेद किये हैं– **गोयमा! जीवा दुविहा पण्णत्ता; तं जहा–संसारसमावन्नगा य असंसारसमावन्नगा य** – (1.8.10, 1.7.7)।

1. संसारसमापन्नक (संसारी) 2. असंसारसमापन्नक (सिद्ध)

असंसारसमापन्नक (सिद्ध) जीव– जिसने संसार व संसार के प्रपंचों का निरोध कर लिया है, जिसका संसार-वेदनीय कर्म क्षीण व व्युच्छिन्न हो गया, जिसने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है वह निर्ग्रन्थ सिद्ध कहलाता है। भगवतीसूत्र[78] सिद्ध के लिए बुद्ध, मुक्त, पारगत, परम्परागत, परिनिर्वृत्त, अन्तकृत एवं सर्वदु:खप्रहीण आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। सिद्ध जीवों को अवीर्य व केवलज्ञान युक्त कहा है।[79] कर्मयुक्त सिद्ध जीवों में ऊर्ध्व गति को स्वीकार किया गया है।[80] सिद्ध जीवों की संख्या अनन्त मानी है।[81] साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि सिद्धों की संख्या घटती नहीं है अवस्थित रहती है या बढ़ती है।[82]

द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा से सिद्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि द्रव्य से एक सिद्ध अन्तसहित है। क्षेत्र से असंख्यप्रदेशी वाले होने के कारण अन्त सहित है। काल से एक सिद्ध आदि सहित व अन्तरहित है। भाव से सिद्ध अनन्तज्ञान-दर्शनपर्याय-रूप अनन्त-अगुरुलघुपर्यायरूप होने से अन्त रहित है।[83] आचारांग[84] और उत्तराध्ययन[85] आदि आगम ग्रंथों में भी सिद्ध के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में मुक्त-जीव की अवस्था को मरण-रहित, व्याधि-रहित, शरीर-रहित, अत्यन्तदुखाभावरूप, निरतिशयसुखरूप, शांत, क्षेमकर, ज्ञानरूप, दर्शनरूप और एकान्त अधिष्ठान-रूप बताया है।

संसार-समापन्नक (संसारी) जीव– जो जीव अपने कर्मों या संस्कारों के कारण नाना योनियों में शरीर को धारण करते हैं तथा मरण रूप से संसरण करते हैं, वे संसारी जीव कहलाते हैं। ग्रंथ में संसारी जीव के छ: भेद किये गये हैं– **छव्विहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णता** – (7.4.2)।

1. पृथ्वीकायिक, 2. अप्कायिक, 3. तेजस्कायिक, 4. वायुकायिक, 5. वनस्पतिकायिक, 6. त्रस कायिक।

स्थावर जीव

इनमें से पृथ्वीकायिक आदि प्रथम पाँच प्रकार के जीव चलने-फिरने की शक्ति से रहित होने के कारण स्थावर कहलाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर तथा तेजस्काय व वायुकाय के जीवों को द्वीन्द्रियादि के साथ त्रस की श्रेणी में रखा है- **तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसा** (2.14)। विवेचन में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यद्यपि स्थावर नाम कर्म के उदय के दृष्टिकोण से तो ये जीव असल में स्थावर ही हैं, किन्तु यहाँ द्वीन्द्रिय आदि के साथ सिर्फ गति का सादृश्य देखकर उन्हें त्रस कहा गया है। त्रस के दो भेदों में त्रस नाम-कर्म के उदय वाले को लब्धित्रस कहा गया है, वे ही मुख्य रूप से त्रस हैं; जैसे द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव। स्थावर नाम कर्म का उदय होने पर भी त्रस की सी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे गतित्रस हैं। ये उपचार मात्र से त्रस हैं, जैसे वायुकायिक व तेजस्कायिक।

भगवतीसूत्र[86] में एकेन्द्रिय स्थावर जीवों का विवेचन बहुत विस्तार से किया गया है। पन्द्रहवें शतक तथा तेतीसवें शतक में उनके विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। इसके आधार पर इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पृथ्वीकायिक- पृथ्वी ही जिन जीवों का शरीर है, वे पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं। यथा पृथ्वी, शर्करा, बालुका, उपल, शिला, लवण, सूर्यकांतमणि आदि। सूक्ष्म व स्थूल के भेद से पृथ्वीकायिक जीवों के भेद-प्रभेद किये गये हैं।

1. सूक्ष्मपृथ्वीकायिक, 2. बादरपृथ्वीकायिक

पुनः इनके पर्याप्त व अपर्याप्त की दृष्टि से दो-दो प्रभेद किये गये हैं-

1. पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक 2. अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक
3. पर्याप्त बादरपृथ्वीकायिक 4. अपर्याप्त बादरपृथ्वीकायिक

अप्कायिक जीव- जल ही जिन जीवों का शरीर है, वे अप्कायिक जीव कहलाते हैं। यथा- ओस का पानी, हिम, ओले, शीतोदक, उष्णोदक, खाई का पानी आदि। इसके चार भेद हैं-

1. पर्याप्त सूक्ष्मअप्कायिक 2. अपर्याप्त सूक्ष्मअप्कायिक
3. पर्याप्त बादरअप्कायिक 4. अपर्याप्त बादरअप्कायिक

तेजस्कायिक जीव- अग्नि ही जिन जीवों का शरीर है, वे जीव तेजस्कायिक कहलाते हैं। यथा- अंगार, ज्वाला, उल्का, विद्युत, शुद्धाग्नि, अलाव, सूर्यकांतमणि निःसृत अग्नि आदि। इसके भी चार भेद हैं।

1. पर्याप्त सूक्ष्मतेजस्कायिक 2. अपर्याप्त सूक्ष्मतेजस्कायिक
3. पर्याप्त बादरतेजस्कायिक 4. अपर्याप्त बादरतेजस्कायिक

वायुकायिक जीव- वायु ही जिन जीवों का शरीर है, वे वायुकायिक जीव कहलाते हैं। यथा पूर्ववायु, पश्चिमीवायु, ऊर्ध्ववायु, अधोवायु, झंझावत, तनुवात, घनवात, शुद्धवायु आदि। वायुकायिक के भी चार प्रकार हैं-

1. पर्याप्त सूक्ष्मवायुकायिक 2. अपर्याप्त सूक्ष्मवायुकायिक
3. पर्याप्त बादरवायुकायिक 4. अपर्याप्त बादरवायुकायिक

वनस्पतिकायिक- लतादि रूप वनस्पति ही जिनका शरीर है वे वनस्पतिकायिक जीव कहलाते हैं। यथा वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, कुहण आदि। वनस्पतिकायिक जीवों के भी चार भेद प्राप्त होते हैं-

1. पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक 2. अपर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक
3. पर्याप्त बादरवनस्पतिकायिक 4. अपर्याप्त बादरवनस्पतिकायिक

पर्याप्त बादरवनस्पतिकायिक को दो भागों में बांटा गया है।

1. साधारण शरीर 2. प्रत्येक शरीर

साधारण शरीर- जिनके शरीर में एक से अधिक जीवों का निवास रहता है और एक के आहार से सबका पोषण होता है, वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं। जैसे आलू, मूली, श्रृंगबेर, हरिली, सिरिली आदि।

निगोद[87]- साधारण वनस्पतिकाय का शरीर निगोद कहलाता है। इस विश्व में असंख्यक गोलक हैं। एक-एक गोलक में असंख्यात निगोद हैं और एक-एक निगोद में अनन्त जीव हैं। इनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त का होता है। निगोद के दो भेद किये गये हैं- 1. निगोद 2. निगोद जीव। निगोद के पुनः दो भेद किये गये हैं- 1. सूक्ष्मनिगोद 2. बादरनिगोद

असंख्य शरीर इकट्ठे होने पर भी जो आँखों से दिखाई न दे, वे सूक्ष्म-निगोद तथा जिनके असंख्य शरीर इकट्ठे होने पर आँखों को दिखाई दे जाते हैं वे बादर-निगोद कहे जाते हैं। जीवाजीवाभिगमसूत्र[88] में इसका विस्तृत विवेचन है।

प्रत्येक शरीर- जिनके शरीर में एक ही जीव का निवास रहता है या जिनके शरीर का स्वामी एक ही जीव होता है वे प्रत्येक शरीर कहलाते हैं। जैसे वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, चम्पा, वल्ली आदि। भगवतीसूत्र के इक्कीसवें, बाइसवें व तेइसवें शतक में वनस्पति के विविध प्रकारों पर अवगाहना, आहार, लेश्या, ज्ञान समुद्घात आदि विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है।

स्थावर जीवों की स्थिति, श्वास, आहार आदि का विवेचन

भगवतीसूत्र में स्थावर जीवों के आहार, स्थिति, श्वासोच्छ्वास, वेदना, क्रिया-कर्म, लेश्या आदि के विषय में विस्तार से निरूपण किया गया है।

स्थिति[89] – स्थावर जीवों की स्थिति की चर्चा करते हुए ग्रंथ में कहा है कि पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त व उत्कृष्ट बाइस हजार वर्ष, अप्कायिक की उत्कृष्ट स्थिति सात हजार वर्ष, तेजस्कायिक की तीन अहोरात्र, वायुकायिक की तीन हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक की दस हजार वर्ष है।

श्वास– द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवों की तरह पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों के आभ्यन्तर एवं बाह्य उच्छ्वास व नि:श्वास को हम जानते व देखते नहीं हैं फिर भी वे आभ्यन्तर व बाह्य उच्छवास व नि:श्वास लेते व छोड़ते हैं। भगवतीसूत्र में वायुकाय में भी श्वसन प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। वायुकायजीव वायुकायों को ही बाह्य व आभ्यन्तर उच्छ्वास व नि:श्वास के रूप में ग्रहण करते हैं व छोड़ते हैं।[90] स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के श्वासोच्छ्वास के काल का निरूपण करते हुए कहा है कि पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव विमात्रा से तथा विषम काल में श्वासोच्छ्वास लेते हैं।[91] अर्थात् इनके श्वासोच्छ्वास का समय नियत नहीं है।

आहार– भगवतीसूत्र[92] में पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों को आहारार्थी कहा गया है। उनकी आहार शैली का विस्तार से विवेचन करते हुए ग्रंथ में कहा गया है– वे प्रति समय, निरन्तर आहार की अभिलाषा रखते हैं। द्रव्य से अनन्त प्रदेशी द्रव्यों का, क्षेत्र से छ: दिशाओं से आहार लेते हैं, वर्ण की अपेक्षा काला, नीला, पीला, लाल, हारिद्र तथा श्वते वर्ण के द्रव्यों का आहार करते हैं। गंध की अपेक्षा से सुरभिगंध व दुरभिगंध वाले द्रव्यों का, रस की अपेक्षा से तिक्त आदि पाँचो रसों वाले द्रव्यों का, स्पर्श की अपेक्षा से कठोर आदि आठों स्पर्शों वाले द्रव्यों का आहार करते हैं। वे असंख्यातवें भाग का आहार करते हैं, अनन्तवें भाग का स्पर्श आस्वादन करते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय ही होती है, इसलिए स्पर्शेन्द्रिय द्वारा किये गये आहार पुद्गल को साता-असाता-रूप से बार-बार परिणमाते हैं। वनस्पति-कायिक जीवों की आहार-विवेचना में कहा है कि वनस्पतिकायिक जीव वर्षा ऋतु में सर्वाधिक आहार करते हैं। तदनंतर शरद ऋतु में वे सबसे कम आहार करते हैं, किन्तु बहुत से उष्णयोनि वाले जीव व पुद्गल वनस्पतिकाय के रूप में उग जाते हैं इसी कारण ग्रीष्म ऋतु में भी बहुत से वनस्पतिकायिक पत्तों, फलों व फूलों से सुशोभित होते हैं।[93]

कर्मबंध, क्रिया, वेदना, लेश्यादि– पृथ्वीकायिकादि स्थावर जीवों के कर्मबंध का विवेचन करते हुए कहा है कि इनके आठ कर्म-प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। ये सात या आठ कर्म प्रकृतियाँ बांधते हैं तथा 14 कर्म प्रकृतियाँ (8 मूल व 6 उत्तरकर्मप्रकृतियाँ) वेदते हैं।[94] सभी पृथ्वीकायिक जीव मायी व मिथ्यादृष्टि हैं, इसलिए उन्हें आरम्भिकी आदि पाँचों क्रियायें लगती हैं।[95] पृथ्वीकायिकादि स्थावर जीवों में वेदना का निरूपण करते हुए कहा है कि सभी पृथ्वीकायिक जीव असंज्ञी हैं अत: समान वेदना वाले होते हैं।[96] उन जीवों में ऐसा तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन नहीं होता कि हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कर रहे हैं, किन्तु वे उसका वेदन अवश्य करते हैं।[97] वे शारीरिक वेदना वेदते हैं, मानसिक नहीं।[98] वेदना का प्रमुख कारण 'करण' को बताते हुए कहा है कि इनके करण शुभाशुभ होने से ये करण द्वारा विमात्रा में विविध प्रकार से वेदना वेदते हैं। अर्थात् शुभकरण होने से सातावेदना वेदते हैं, अशुभकरण होने से असाता वेदना वेदते हैं।[99]

आचारांगसूत्र[100] के प्रथम अध्ययन में स्थावर जीवों पर सूक्ष्म चिंतन किया गया है। स्थावर जीवों में वेदना की अनुभूति को स्पष्ट करते हुए कहा है–जिस प्रकार का वेदना बोध जन्म से अंधे, बधिर, मूक, पंगु और मनुष्य को होता है, उसी प्रकार का व्यक्त वेदनाबोध पृथ्वीकाय के जीवों को भी होता है। वनस्पति को आचारांग में चेतना युक्त बताते हुए कहा गया है कि छिन्न होने पर मनुष्य और वनस्पति दोनों म्लान होते हैं। मनुष्य व वनस्पति दोनों आहार करते हैं। आधुनिक युग में जगदीशचन्द्र वसु ने अपने शोध यंत्र द्वारा सिद्ध कर दिया कि वनस्पति सजीव होती है। उसमें भोजन, वर्धन, श्वास, प्रजनन, विसर्जन, मरण, अनुकूलन आदि समस्त गुण विद्यमान होते हैं। 'जैन आगमों में वनस्पति विज्ञान' नामक अपनी पुस्तक में कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने प्रयोगों द्वारा स्पष्ट किया है कि श्वास की प्रक्रिया वनस्पति में पत्तों द्वारा सम्पन्न होती है।

त्रस जीव

दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों तक के जीवों का समावेश त्रस जीवों के अन्तर्गत किया गया है। त्रस जीवों की जैन ग्रन्थों में कर्म व क्रिया संबंधी दो परिभाषाएँ मिलती हैं। 1. जो चल फिर सके, वे त्रस जीव कहलाते हैं। 2. कर्म की दृष्टि से जिनके त्रस नाम कर्म का उदय हो वे त्रस जीव कहलाते हैं। ये ही जीव प्रधानत्रस होते हैं। त्रस जीवों में गति, भाषा, इच्छा आदि चैतन्य के लक्षण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। इनके चार प्रमुख भेद किये गये हैं।[101]

1. द्वीन्द्रिय, 2. त्रीन्द्रिय, 3. चतुरिन्द्रिय, 4. पंचेन्द्रिय

भगवतीसूत्र[102] में 15वें शतक में गोशालक के विभिन्न भवों के प्रसंग में त्रस जीवों के भेद-प्रभेद पर प्रकाश डाला गया है।

द्वीन्द्रिय जीव– जिन जीवों के रसना व स्पर्शन ये दो इन्द्रियाँ होती हैं, वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे– कृमि, पुलाकृमि, कुक्षिकृमि, गण्डोयलक, शंख, शंखनक, सिप्पिसंपुट, समुद्रलिक्षा आदि।

त्रीन्द्रिय जीव– जिन जीवों में रसना, स्पर्शन, घ्राण रूप तीन इन्द्रियाँ होती हैं। वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। यथा– कुंथु, ओपयिक, रोहिणीक, झींगर, गोम्ही, हस्तिशोण्ड आदि।

चतुरिन्द्रिय जीव– जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु रूप चार इन्द्रियाँ होती हैं, वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे– अंधिक पौत्रिक, मक्खी-मच्छर, कीट, पतंग, कुक्कुड़, दोला, भ्रमर, गोमयकीट आदि।

द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीव विकलेन्द्रिय भी कहे जाते हैं। ग्रंथ में इनकी स्थिति, श्वासोच्छ्वास, आहार आदि के संबंध में विवेचन प्राप्त होता है। इनकी स्थिति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है, व उत्कृष्ट द्वीन्द्रिय की बारह वर्ष की, त्रीन्द्रिय की 49 अहोरात्र की एवं चतुरिन्द्रिय की छः माह की है। इनका श्वासोच्छ्वास विमात्रा वाला (अनियत) बताया है। द्वीन्द्रिय जीवों का आहार दो प्रकार का होता है, रोमाहार एवं प्रक्षेपाहार। जिन पुद्गलों को वे रोम द्वारा ग्रहण करते हैं, उन सबका सम्पूर्ण रूप से आहार करते हैं तथा जिन पुद्गलों को प्रेक्षपाहाररूप से ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों में से असंख्यातवाँ भाग आहार रूप में ग्रहण होता है, शेष बिना आस्वादन किये नष्ट हो जाता है। द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल उनके विविधतापूर्वक जिह्वेन्द्रिय रूप में और स्पर्शेन्द्रिय रूप में बार-बार परिणत होते हैं। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय जीवों द्वारा किया गया आहार, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप में बार-बार परिणत होता है।[103] इसके अतिरिक्त ग्रंथ में द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों के कर्म, क्रिया, लेश्या, वेदना आदि के सम्बन्ध में भी विवेचन हुआ है।

पंचेन्द्रिय जीव– जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप पाँच इन्द्रियाँ होती हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में नारक, मनुष्य तिर्यंच-पंचेन्द्रिय व देव चारों ही समाहित हो जाते हैं– **पंचेन्दिया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा। णेरइय; तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा** -

(जीवाजीवाभिगम, 31) सभी जीवों में पंचेन्द्रिय जीवों की प्रधानता होने के कारण इनके चारों प्रकार का विशेष विवेचन किया जा रहा है।

पंचेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद

गति की दृष्टि से पंचेन्द्रिय जीवों को चार भागों में विभाजित किया गया है– 1. नैरयिक, 2. तिर्यंच, 3. मनुष्य, 4. देव।

नैरयिक– जो पाप कर्मों के कारण दु:ख झेलते हैं तथा अधोलोक में उत्पन्न होते हैं, उन्हें नारकी या नैरयिक जीव कहते हैं। जब पापों का पुंज अत्यधिक मात्रा में एकत्रित हो जाता है तब जीव नरक में जाकर उत्पन्न होता है। नरक गति के जीवों के परिणाम व लेश्या अशुभतर होती है। ये अधोलोक में निवास करते हैं। नारक जीव नपुंसक व उपपात जन्म वाले होते हैं। ग्रंथ में सात नरक पृथ्वियों के नाम व गोत्र इस प्रकार बताये हैं[104]

गोत्र–1. रत्नप्रभा, 2. शर्कराप्रभा, 3. बालुकाप्रभा, 4. पंकप्रभा, 5. धूमप्रभा, 6. तम:प्रभा, 7. महातमप्रभा

नाम– 1. धम्मा, 2. वंसा, 3. सीला, 4. अंजणा, 5. रिद्धा, 6. मघा, 7. माघवई

भगवतीसूत्र[105] में नारक जीवों के विषय में बहुत अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है। सातों नारकवासियों की संख्या, विशालता, विस्तार, अवकाश, स्थानरिक्तता, प्रवेश, संकीर्णता, व्यापकता, कर्म, क्रिया, आस्रव, वेदन, ऋद्धि, द्युति, आदि विषयों में एक दूसरे से तरतमता का वर्णन भी किया गया है। नारकों की वेदना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नैरयिकों के पापकर्म गाढ़ीकृत चिकने व श्लिष्ट होते हैं अत: वे महान वेदना को वेदते हैं, उनके निर्जरा कम होती है। उनके मन, वचन, काय व कर्म ये चार अशुभकरण होते हैं, जिससे ये असाता वेदना वेदते हैं।[106] उनके तीन शरीर होते हैं वैक्रिय, तैजस व कार्मण।[107] नारकों की लेश्या विवेचन में कहा गया है कि पहली व दूसरी नरक पृथ्वी में कापोत लेश्या, तीसरी नरक पृथ्वी में कापोत व नील लेश्या, चौथी में नील लेश्या, पाँचवी में नील व कृष्ण लेश्या, छठी में कृष्ण लेश्या व सातवीं नरक में परमकृष्ण लेश्या होती है।[108] नैरयिकों की स्थिति श्वासोच्छ्वास व आहर की प्ररूपणा करते हुए ग्रंथ[109] में कहा गया है कि नैरयिकों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की होती है। ये सतत, सदैव व निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेते व छोड़ते हैं। नैरयिकों के आहार को दो प्रकार का बताया गया है। आभोगनिर्वर्तित (खाने की बुद्धि से

किया जाने वाला आहार) अनाभोगनिर्वर्तित (आहार की इच्छा के बिना खाया जाने वाला आहार)। उत्तराध्ययन[110] में कहा गया है कि नैरयिक; जीवों के दु:ख मनुष्यों के दु:खों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं तथा नीचे-नीचे के नरकों के दु:ख पूर्व-पूर्व के नरकों की अपेक्षा कई गुने अधिक हैं।

तिर्यंच जीव- एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीव तथा पंचेन्द्रियों में पशु-पक्षी आदि तिर्यंच के जीव कहलाते हैं। नारक, मनुष्य व देव को छोड़कर सभी जीव तिर्यंच के अन्तर्गत आते हैं। तिर्यंच जीवों का विस्तार बहुत अधिक हैं। भगवतीसूत्र में इनके अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों की चर्चा की जा चुकी है। यहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के भेद-प्रभेदों का विवेचन प्रस्तुत है-

पंचेन्द्रिय तिर्यंच- पंचेन्द्रिय तिर्यंच के तीन भेद किये गये हैं[111]-

1. जलचर, 2. स्थलचर, 3. खेचर

1. जलचर तिर्यंच- जल में चलने-फिरने के कारण इन्हें जलचर कहते हैं। इनके पाँच भेद हैं- मत्स्य, कच्छप, मगर, ग्राह और सुंसुमार।

2. थलचर तिर्यंच- जमीन पर रहने वाले जीव थलचर कहलाते हैं। इनके तीन भेद किये गये हैं- 1. चतुष्पद, 2. उर:परिसर्प, 3. भुजपरिसर्प

चतुष्पद- चतुष्पद जीव से तात्पर्य है चार पैर वाले जीव। इनमें एक खुर वाले (अश्व), दो खुर वाले (गवाद), गोल पैर वाले (गंडीपद) तथा सनखपद अर्थात् नखयुक्त पैर वाले (सिंह आदि) सम्मिलित किये गये हैं।

उरपरिसर्प- पेट के बल रेंगने वाले जीव उरपरिसर्प कहलाते हैं। इनमें सर्प, अजगर, आशालिका, महारोग आदि को सम्मिलित किया गया है।

भुजपरिसर्प- भुजाओं व वक्षस्थल के सहारे से रेंगने वाले जीव भुजपरिसर्प कहे जाते हैं- छिपकली, गोंह, नकुल, सरट (गिरगिट) आदि।

नभचर तिर्यंच- आकाश में उड़ने वाले जीव नभचर या खेचर कहलाते हैं इनके चार भेद हैं। 1. चर्मपक्षी (चमड़े के पंख वाले जैसे- चमगादड़) 2. लोमपक्षी (हंस, चकवादि) 3. समुद्रगपक्षी (जिनके पंख अविकसित होते हैं और डब्बे के आकार सदृश्य सदा ढके रहते हैं) 4. वितत पक्षी (जिसके पंख सदा खुले रहते हैं)। योनि संग्रह की दृष्टि से खेचर जीवों के तीन भेद किये गये हैं 1. अंडज, 2. पोतज, 3. सम्मूर्च्छिम।[112] अंडे से उत्पन्न होने वाले जीव अंडज कहलाते हैं। जैसे- मोर, कबूतर, हंसादि। जरायु बिना उत्पन्न होने वाले जीव

पोतज कहलाते हैं जैसे– चमगादड़। माता-पिता के संयोग के बिना उत्पन्न होने वाले जीव संमूर्च्छिम कहलाते हैं। जैसे– मेंढ़क आदि। इन जीवों के विषय में जीवाजीवाभिगमसूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया है। इनमे छः लेश्या, तीन दृष्टि, तीन ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन योग व दो उपयोग पाये जाते हैं। सामान्यतया ये चारों गतियों से आकर जन्म लेते हैं इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है।

मनुष्य– मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से जीव मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है। मध्यलोक के अढ़ाई द्वीप प्रमाण क्षेत्र में मनुष्य जाति का निवास माना गया है। यद्यपि मनुष्यों के सुखादि वैभव देवों की तुलना में अनन्तगुणा हीन माने गये हैं, किन्तु अन्य सभी गतियों से मनुष्य गति को श्रेष्ठ व दुर्लभ माना गया है।[113] प्रत्येक जीव का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है और मनुष्य गति को प्राप्त करके ही जीव आत्मा के शुद्ध रूप को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य गति की प्राप्ति पुण्य विशेष अर्जन करने पर होती है।

मनुष्य के दो प्रमुख भेद किये गये हैं– 1. संमूर्च्छिम, 2. गर्भज। गर्भज के तीन भेद किये गये हैं– 1. कर्मभूमिक, 2. अकर्मभूमिक, 3. अन्तरद्वीपक

देव– देव गति जीवों के प्रशस्त पुण्यों के कारण प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि सामान्यतया पुण्य कर्मों का फल भोगने के लिए जीव देवपर्याय को प्राप्त करते हैं। कभी-कभी मिथ्या तपादि के प्रभाव से भी देव-पर्याय की प्राप्ति होती है। संभवतः उनकी स्थिति मनुष्य से भी निकृष्ट होती है। इस कारण ये निम्न श्रेणी के देव कहे जाते हैं। सर्वसामान्य देवों की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है; जो उपपात जन्म वाले तथा जन्म से ही इच्छानुकूल शरीर धारण करने की सामर्थ्य वाले (वैक्रियक शरीरधारी) स्त्री और पुरुष हैं वे देव कहलाते हैं। यद्यपि नारक जीव भी उपपात जन्म वाले तथा जन्म से ही वैक्रियक शरीरधारी होते हैं, किन्तु वे नपुंसक ही होते हैं। अतः देवों को उपपात जन्मवाले स्त्री या पुरुष इस रूप में परिभाषित किया जा सकता है।[114] देवों के विशेष गुण इस प्रकार हैं– देव अजर होते हैं, किन्तु अमर नहीं होते हैं, एक निश्चित आयु के पश्चात मनुष्य या तिर्यंचगति में जन्म लेकर अपने शेष कर्मों का फल अवश्य भोगते हैं। गीता[115] में भी इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि पुण्यकर्म के क्षीण हो जाने पर देव विशाल स्वर्गलोक से मनुष्यलोक में प्रवेश करते हैं। मनुष्यलोक में आकर विशुद्ध आचार व धर्म का पालन करने से मोक्ष प्राप्ति संभव

होती है अन्यथा ये अनन्त संसार में भटकते रहते हैं। देवों के तेजस, कार्मण व वैक्रिय शरीर होते हैं। चार कषाय, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रियाँ व पाँच समुद्घात होते हैं।

देवों के भेद-प्रभेद

देवों को प्रमुख रूप से चार भागों में विभक्त किया गया है–

1. भवनवासी, 2. वाणव्यन्तर, 3. ज्योतिष्क, 4. वैमानिक

भवनवासी देव– भवनों में रहने वाले देव भवनवासी कहलाते हैं। आहार-विहार, वेष-भूषा आदि में राजकुमारों के समान होने के कारण ये 'कुमार' भी कहे जाते हैं। इनके दस प्रकार इस प्रकार गिनाये गये हैं–

1. असुर कुमार, 2. नाग कुमार, 3. सुपर्णकुमार, 4. विद्युतकुमार, 5. अग्निकुमार, 6. द्वीपकुमार, 7. उदधिकुमार, 8. दिशाकुमार, 9. पवनकुमार, 10 स्तनित कुमार

इनका निवास स्थान अधोलोक की प्रथम 'रत्नप्रभा पृथ्वी' का मध्यभाग माना गया है। ग्रंथ[116] में असुरकुमार आदि देवों की स्थिति, आहार, श्वासोच्छ्वास आदि के संबंध में विवेचन किया गया है।

वाणव्यन्तर देव– नगरों, भवन, आवासों आदि विविध स्थानों में स्वेच्छापूर्वक विचरण करने तथा पर्वत, वृक्ष, वन आदि स्थलों पर निवास करने के कारण ये वाणव्यन्तर या वनचारी देव कहलाते हैं। ये तीनों लोकों में भ्रमण करते हैं। इनके आठ प्रकार बताये गये हैं– 1. किन्नर, 2. किम्पुरुष, 3. महोरग, 4. गन्धर्व, 5. यक्ष, 6. राक्षस, 7. भूत, 8 पिशाच। ये देव जिन पर प्रसन्न हो जाते हैं उनकी रक्षा व सेवा आदि भी करते हैं।

ज्योतिष देव– अपने ज्योतिष रूप से जगत को प्रकाशित करने के कारण ये ज्योतिष देव कहलाते हैं। इनके पाँच भेद हैं– 1. सूर्य, 2. चन्द्र, 3. ग्रह, 4. नक्षत्र, 5. तारा। इन देवों में से कुछ स्थिर हैं व कुछ गतिमान हैं। मनुष्य क्षेत्र में ज्योतिष देव गतिमान हैं। इनके गमन से ही घड़ी, घंटा आदि रूप से समय का ज्ञान होता है। मनुष्य क्षेत्र के बाहर ये देव अचर हैं। भगवतीसूत्र में सूर्य व चन्द्र को ज्योतिष देवों का इन्द्र स्वीकार किया गया है। उनके काम भोगों को अन्य देवों की तुलना में अनन्तगुणा विशिष्टत्तर बताया गया है।[117]

वैमानिक देव– विशेष सम्माननीय होने के कारण ये ऊर्ध्वलोक के विमानों में रहते हैं इसलिए 'वैमानिक' कहे जाते हैं। ये दो प्रकार के हैं–

1. कल्पोत्पन्न वैमानिक देव, 2. कल्पातीत वैमानिक देव।

कल्पोत्पन्न वैमानिक देव– जो अभिष्ट फल देने वाले कल्पों में उत्पन्न होते हैं, वे कल्पोत्पन्न देव कहलाते हैं। कल्पों की संख्या बारह है। इस दृष्टि से इनमें उत्पन्न होने वाले देव भी बारह प्रकार के होते हैं–

1. सौधर्म, 2. ईशान, 3. सनत्कुमार, 4. माहेन्द्र, 5. ब्रह्म, 6. लान्तक, 7. महाशुक्र, 8 सहस्त्रार, 9. आनत, 10. प्राणत, 11. आरण 12. अच्युत

कल्पातीत वैमानिक देव– कल्प के ऊपर रहने के कारण ये कल्पातीत वैमानिक देव कहे जाते हैं। ये दो प्रकार के हैं। 1. ग्रैवेयक, 2. अनुत्तर

ग्रैवेयक वैमानिक देव– जो पुण्यशाली जीव पुरुषाकार लोक के ग्रीवा स्थान पर निवास करते हैं उन्हें ग्रैवेयक कहते हैं। ये तीनों त्रिकों में विभक्त किये गये हैं। इनकी संख्या नौ बताई गई है–

1. अधस्तन–अधस्तन 2. अधस्तन–मध्यम, 3. अधस्तन–उपरिम, 4. मध्यम–अधस्तन, 5. मध्यम–मध्यम, 6. मध्यम–उपरिम, 7. उपरिम–अधस्तन, 8. उपरिम–मध्यम, 9. उपरिम–उपरिम

अनुत्तर वैमानिक देव– इनके ऐश्वर्य की तुलना किसी अन्य संसारी जीव के ऐश्वर्य से नहीं की जा सकती अतः ये अनुत्तर वैमानिक देव कहे जाते हैं। ये सबसे ऊपर निवास करते हैं। इनके ऊपर अन्य देवों का निवास नहीं है। इनके पांच भेद हैं– 1. विजय, 2. वैजयन्त, 3. जयन्त, 4. अपराजित, 5. सर्वार्थसिद्ध। इस देवलोक में उत्पन्न होने वाले जीव अगले भव में निश्चित रूप से मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं।

जीव के पर्याप्तक व अपर्याप्तक दृष्टि से चौदह भेद[118]

पर्याप्तक व अपर्याप्तक जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जन्म के प्रारंभ में जीवन–यापन के लिए आवश्यक पौद्गलिक शक्ति के निर्माण का नाम पर्याप्ति है। स्वयोग्य पर्याप्ति को जो पूर्ण कर लेता है वह पर्याप्तक है तथा जो पूर्ण न करे वह अपर्याप्तक है। एकेन्द्रिय जीव की चार पर्याप्तियाँ होती हैं– आहार, शरीर, इन्द्रिय व श्वासोच्छ्वास। विकलेन्द्रिय जीवों के और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं; उपरोक्त चार तथा भाषा। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन होने से छः पर्याप्तियाँ होती हैं। इस प्रकार जो एकेन्द्रिय जीव स्वयोग्य चारों पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है वह पर्याप्तक कहलाता है तथा जो पूर्ण नहीं करता है वह अपर्याप्तक कहलाता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा कर लेने पर पर्याप्तक तथा पूरा करने से पूर्व ही काल करने पर अपर्याप्तक श्रेणी में आते हैं। इस दृष्टि से संसारी जीव के चौदह भेद बताये गये हैं–

1. सूक्ष्म अपर्याप्तक, 2. सूक्ष्म पर्याप्तक, 3. बादर अपर्याप्तक, 4. बादर पर्याप्तक, 5. द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक, 6. द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, 7. त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, 8. त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, 9. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक, 10. चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक 11. असंज्ञी पंचेद्रिय अपर्याप्तक, 12. असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, 13. संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक, 14. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक

ज्ञानेन्द्रिय की अपेक्षा से– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण ये पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गई हैं। इनमे से जो जीव सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय से युक्त है वह एकेन्द्रिय जीव, स्पर्शन व रसना से युक्त जीव द्वीन्द्रिय, स्पर्शन, रसना व घ्राण से युक्त त्रीन्द्रिय, स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु से युक्त चतुरिन्द्रिय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण से युक्त पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

गति की दृष्टि से– जन्म संबंधी जीव की चार पर्यायें हैं, जिन्हें गति कहा गया है। यहाँ गति से तात्पर्य अवस्था विशेष में गमन करना है। इस गति भेद की दृष्टि से जीव के चार प्रकार बताये गये हैं। 1. देव, 2. मनुष्य, 3. नारक, 4. तिर्यंच। इनका विवेचन किया जा चुका है।

संदर्भ

1. मज्झिमनिकाय, 1.38
2. सांख्यकारिका, 19
3. डॉ. राधाकृष्णन.- भारतीय दर्शन (भाग-2), पृष्ठ 148-149
4. 'जीवे णं भंते! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे आयभावेण जीवभावं उवदंसेतीति'- व्या.सू. 2.10.9
5. षड्दर्शनसमुच्चय टीका, 49.120
6. 'यथा यंत्रप्रतिमाचेष्टितं...साधयति'- सर्वार्थसिद्धि, 5.19.563
7. गणधरवाद, 1560, 62
8. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि- जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 120
9. वही, पृ. 87-89
10. आचारांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.5.6.176
11. स्थानांग, मुनि मधुकर, 2.1.1 पृ. 24
12. णाणं च दंसण चेव चारित्तं च तवो तहा।
    वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं।।- उत्तराध्ययन, 28.11
13. पंचास्तिकाय, गा. 27
14. भावपाहुड, गा. 64 पृ. 167
15. 'गुणतो उवयोगगुणे'- व्या.सू. 2.10.5
16. 'सासए जीवे जमाली! जं णं न कयावि णासि जाव णिच्चे।' वही, 9.33.101

17. वही, 20.2.7
18. स्थानांग, 2.1.1
19. प्रवचनसार, अधिकार दो. गा. 35
20. अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा। - द्रव्यसंग्रह, गा. 10
21. व्या. सू. 2.10.9
22. वही, 3.3.11
23. वही, 7.1.13
24. द्रव्यसंग्रह, गा. 3
25. व्या. सू. 16.7.1
26. पंचास्तिकाय, गा. 48
27. 'जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति, नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति।' - व्या. सू. 16.2.17
28. वही, 1.6.7
29. वही, 17.2.17
30. वही, 7.7.5, 10
31. 'उदिण्ण वेदेंति, नो अनुदिण्णं वेदेंति'..... - वही 1.2.3
32. 'नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणूसस्स वा,
देवस्स वा जे कडे पाव कम्मे, णत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो।' वही, 1.4.6
33. वही, 25.8.7
34. 'जीवदव्वाणं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति.....। - वही, 25.2.4
35. उत्तराध्ययन, 3.2-4
36. समयसार, गा. 83
37. श्वेताश्वतर उपनिषद, 5.7
38. गीता, 2.20
39. डॉ. राधाकृष्णन्-भारतीय दर्शन (भाग-2) पृ. 652
40. व्या. सू. 7.8.2
41. व्या. सू. (भाग-2) विवेचना, मुनि मधुकर, पृ. 175
42. गणधरवाद, 1586
43. प्रवचनसार, 137 की टीका
44. व्या. सू. 8.3.6
45. 'हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जति।' - वही, 7.8.8
46. तत्त्वार्थसूत्र, 5.29
47. पंचास्तिकाय, गा. 17
48. व्या. सू. 9.33.101
49. मालवणिया, दलसुख - आगम युग का जैन दर्शन, पृ. 71-72
50. 'दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते
भावओ जीवे अणंते- व्या. सू. 2.1.24

51. वही, 8.3.6
52. वही, 1.9.1-3
53. वही, 14.4.10
54. वही, 20.3.1
55. वही, 20.2.7
56. भगवती वृत्ति, अभयदेव, पत्रांक, 776-77
57. व्या. सू., 2.1.8
58. तत्त्वार्थसूत्र, 5.7-8
59. 'जावतिया लोगागासपएसा एगमेगस्स णं जीवस्स एवतिया जीवपएसा पण्णत्ता' - व्या. सू. 8.10.29-30
60. तत्त्वार्थवार्तिक, 5.3.442
61. व्या. सू. 25.2.3
62. 'जीवा णो वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिता।' वही, 5.8.10
63. तत्त्वार्थसूत्र, 2.1
64. 'छव्विहे भावे पन्नते, तं जहा उदइए उवसमिए जाव सन्निवातिए।' व्या. सू. 17.1.28-29
65. अनुयोगद्वार, नामाधिकार, 251
66. 'अट्ठविहा आया पन्नत्ता, तं जहा-दवियाया...विरियाया।' व्या. सू. 12.10.1
67. वही, 1.6.26
68. वही, 17.2.18-19
69. वही, 16.1.18
70. वही, 9.33.101
71. वही, 14.4.10
72. वही, 17.1.16 2.4.1 16.1.19
73. भगवती वृत्ति, अभयदेव, पत्रांक, 622
74. व्या. सू. 13.7.10-14
75. सन्मति प्रकरण, 1.47
76. आचारांग, मुनि मधुकर, 1.3.4.129, पृ. 112
77. व्या. सू. 6.10.2
78. वही, 2.1.9
79. वही, 8.2.38, 1.8.10
80. वही, 7.1.11-13
81. 'अणंतासिद्धा.....' - वही, 25.2.3
82. 'सिद्धा वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिता वि।' वही, 5.8.13
83. वही, 2.1.24
84. आचारांग, सम्पां. मुनि मधुकर, 1.5.6.176, पृ. 188

85. उत्तराध्ययन, 36.66
86. व्या. सू. 15.1.138, 33.1
87. वही, 25.5.45-46
88. जीवाजीवाभिगमसूत्र, प्रतिपत्ति 5, उद्देशक 2, सूत्र 338-339
89. व्या. सू. 1.1.6
90. वही, 2.1.6
91. वही, 1.1.6
92. वही, 1.1.6
93. वही, 7.3.1-2
94. वही, 33.1.7-16
95. वही, 1.2.7
96. वही, 1.2.7
97. वही, 1.3.14
98. वही, 16.2.5
99. वही, 6.1.10
100. आचारांग, सम्पा. मुनि मधुकर 1.1.2.15-17, 1.1.5.45
101. तत्त्वार्थसूत्र, 2.14
102. व्या. सू. 15.1.138
103. वही, 1.1.6
104. वही, 12.3.2
105. व्या. सू. 13.4.1-5
106. वही, 6.1.4-7
107. वही, 1.5.12
108. वही, 1.5.28
109. वही, 1.1.6
110. उत्तराध्ययन, 19.48-50
111. व्या. सू. 15.1.138
112. 'तिविहे जोणीसंगहे पण्णत्ते, तं जहा-अंडया पोयया सम्मुच्छिमा - वही, 7.5.2
113. उत्तराध्ययन, 7.12.23
114. जैन, सुदर्शनलाल- उत्तराध्ययन एक परिशीलन, पृ. 110
115. गीता, 9.21
116. व्या. सू. 1.1.6
117. वही, 12.6.8
118. व्या. सू. 25.1.4

रूपी-अजीवद्रव्य (पुद्गल)

अजीवद्रव्य

साधारण भाषा में तो अजीव द्रव्य से तात्पर्य जीव द्रव्य के विपरीत लक्षण वाले द्रव्य से है। जैनागमों[1] में अजीव द्रव्य को जीव द्रव्य का प्रतिपक्षी कहा गया है। पंचास्तिकाय[2] में कहा गया है कि जीव द्रव्य चेतनामय व ज्ञान-दर्शन उपयोगवाला है। शरीर में जो ज्ञानवान पदार्थ है, जो सभी को देखता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है, वह जीव द्रव्य है और जिसमें चेतन गुण का पूर्ण अभाव है, वह अचेतन पदार्थ, अजीव द्रव्य है। द्रव्यसंग्रह टीका[3] में अजीव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि चेतना व उपयोग जहाँ नहीं है वह अजीव होता है। सर्वार्थसिद्धि[4] में अजीव का लक्षण बताते हुए कहा है कि धर्मादि द्रव्यों में जीव का लक्षण (चेतना) नहीं पाया जाता है इसलिए उनकी अजीव सामान्य संज्ञा है।

भगवतीसूत्र[5] में अजीव द्रव्य के दो भेद किये हैं; 1. रूपी-अजीवद्रव्य 2. अरूपी-अजीवद्रव्य। पुनः रूपी-अजीव द्रव्य के चार तथा अरूपी-अजीव द्रव्य के पाँच, सात व दस भेद भी किये हैं, किन्तु मुख्य रूप से रूपी-अजीव द्रव्य में पुद्गल तथा अरूपी-अजीवद्रव्य में धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य समाहित होते हैं। इसी क्रम में इनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

रूपी-अजीवद्रव्यः पुद्गल

जैन दर्शन में मान्य छः द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही एकमात्र ऐसा द्रव्य है जो रूपी है।[6] रूपी द्रव्य से तात्पर्य है, जिसमें रूपादि गुणों का सद्भाव हो। रूपी द्रव्य को 'मूर्त' भी कहा जाता है। वस्तुतः विज्ञान में जिसे 'मेटर' कहा है उसी को जैन दर्शन में 'पुद्गल' की संज्ञा दी गई है। जैन दर्शन का 'पुद्गल' शब्द आधुनिक विज्ञान के मेटर (जड़तत्त्व) के साथ सादृश्यता रखता है। दूसरे शब्दों में जैन दर्शन के इस पुद्गल की तुलना विज्ञान में मेटर से, न्याय-वैशेषिक के 'भौतिक तत्त्व' से अथवा सांख्य के 'प्रकृति तत्त्व' से की जा सकती है। बौद्ध दर्शन में पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान-चेतना सन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

जैन दर्शन में 'पुद्गल' की संख्या अनंत मानी गई हैं।[7] विश्व के छोटे-बड़े सभी दृश्य पदार्थों का समावेश पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत हो जाता है। पुद्गल द्रव्य एक ऐसा अनूठा द्रव्य है, जो जीव के सम्पर्क में आकर इस अद्भुत सृष्टि का निर्माण करता है। जीव या आत्मा पुद्गल का संसर्ग प्राप्त करके ही विभिन्न क्रिया-कलाप करती है।[8] अर्थात् हमारे सामने जो प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत है, वह मूर्तद्रव्य पुद्गल का ही परिणाम है।

यहाँ यह जानना अनिवार्य है कि पुद्गल द्रव्य का आकर्षण ही आत्मा को बन्धन में डालता है। पुद्गल के संयोग से आत्मा स्वभाव को छोड़कर विभाव में परिणत होती है। अतः आत्मा की मुक्ति के लिए यह पूर्णतः आवश्यक है कि पुद्गल द्रव्य (बंधन) को जाना जावे। पुद्गल द्रव्य के पूर्णज्ञान द्वारा ही आत्मा हेय के त्याग एवं उपादेय को ग्रहण करने में सक्षम होगा और इसी ज्ञान से वह अपने पूर्ण विकास (शुद्धात्मस्वरूप) के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

पुद्गल का अर्थ एवं परिभाषा

पुद्गल शब्द जैन दर्शन का विशेष पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों के मेल से बना है। पुद्+गल। 'पुद्' का अर्थ है; पूर्ण होना, मिलना या जुड़ना। 'गल' का अर्थ है; गलना, हटना या टूटना। अर्थात् जो द्रव्य निरंतर मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे वह पुद्गल द्रव्य है- ***पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः-(त.रा.वा. 5.1.24)।*** *स्कन्ध की अवस्था* में पुद्गल-परमाणु परस्पर मिलते या जुड़ते रहते हैं तथा स्कन्ध से परमाणु टूटकर अलग-अलग होते रहते हैं। अर्थात् इसमें टूट-फूट होती रहती है। इसे विज्ञान की भाषा में फ्युजन (टूटना) एवं फिजन (जुड़ना) कहा जा सकता है। छः द्रव्यों में पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है, जिसमें संश्लिष्ट व विश्लिष्ट होने की क्षमता है। अन्य पाँच द्रव्यों में नहीं।

यह तो पुद्गल द्रव्य की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा हुई। गुणात्मक दृष्टि से भी जैनागमों में पुद्गल की परिभाषा प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन[9] में पुद्गल की परिभाषा देते हुए शब्द, अंधकार, प्रकाश, प्रभा, छाया, वर्ण, रस, गंध, स्पर्शादि को पुद्गल के लक्षण माना है। प्रवचनसार[10] में आचार्य कुंदकुंद ने पुद्गल की गुणात्मक परिभाषा देते हुए कहा है कि सूक्ष्म परमाणु से लेकर महास्कंध पृथ्वी तक में पुद्गल के रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार गुण विद्यमान रहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने पुद्गल द्रव्य को स्पर्श, रस, गंध व वर्णयुक्त

माना है– **स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गला** – (5.23)। परवर्ती आचार्यों में आचार्य तुलसी[11] ने भी पुद्गल को रस, स्पर्श, गंध व वर्णवान कहा है।

प्राचीन जैनागमों में भगवतीसूत्र ही ऐसा ग्रंथ है जिसमे पुद्गल द्रव्य का सम्पूर्ण व विस्तृत विवेचन किया है। ग्रंथ में पुद्गल के स्वरूप, पर्यायवाची, प्रकार, भेद, परमाणु का बंध, गति आदि अनेक पहलुओं पर विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है।

भगवतीसूत्र में पुद्गल की परिभाषा इस प्रकार दी गई है– **पंचवण्णे पंचरसे, दुगंधे अट्ठफासे रूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे** – (2.10.6) अर्थात् पुद्गल पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और आठ स्पर्शों से युक्त है। वह रूपी है, अजीव द्रव्य है, शाश्वत है तथा अवस्थित लोक द्रव्य है। संक्षेप में पुद्गल द्रव्य को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व गुण की अपेक्षा से पाँच प्रकार का बताया गया है। द्रव्य की अपेक्षा से पुद्गलद्रव्य अनन्तद्रव्य रूप है, क्षेत्र की अपेक्षा से वह लोक प्रमाण है, काल की अपेक्षा से वह तीनों कालों में वर्तमान होने के कारण नित्य है। भाव की अपेक्षा से वह वर्ण, गंध, रस व स्पर्श से युक्त है। गुण की दृष्टि से ग्रंथ में पुद्गल का लक्षण 'ग्रहण' रूप स्वीकार किया है– **गहणलक्खणे णं पोग्गलऽत्थिकाए** – (13.4.28)।

पुद्गल की उक्त परिभाषा से उसका गुणात्मक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। छः द्रव्यों में पुद्गल ही ऐसा अजीव द्रव्य है जो वर्णादिगुणों से युक्त होने के कारण रूपी माना गया है। स्पर्श, रस, वर्ण तथा गंध ये चारों गुण पुद्गल द्रव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं चाहे वह पुद्गल हमारे लिए दृश्य हो या अदृश्य हो। इन चारों गुणों के कारण ही पुद्गल द्रव्य इन्द्रियगाह्य अर्थात् मूर्त व रूपी होता है। उक्त परिभाषा में पुद्गल को अवस्थित लोक द्रव्य कहा गया है। इससे तात्पर्य है कि पुद्गल द्रव्य लोक में ही अवस्थित है लोक के बाहर नहीं है। पुद्गल का लक्षण ग्रहण बताया गया है क्योंकि एक ओर तो पुद्गल द्रव्यों का परस्पर ग्रहण-बंध होता है दूसरी ओर औदारिकादि अनेक पुद्गलों के साथ जीव का ग्रहण (बंध) होता है।

वर्णादि गुणों के भेद-प्रभेद

भगवतीसूत्र में प्रतिपादित पुद्गल की परिभाषा में वर्ण, गंध, रस व स्पर्श को पुद्गल के प्रमुख गुण माने हैं। अर्थात् कोई भी पुद्गल द्रव्य चाहे वह दृश्यमान हो या अदृश्यमान ये गुण उसमें आवश्यक रूप से मौजूद रहते हैं। यह बात अवश्य

हो सकती है कि किसी पुद्गल द्रव्य में कोई गुण प्रकट न हो पर उसके अस्तित्व की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। इस तथ्य को ग्रंथ[12] में गुड़ (फणी), भ्रमर आदि के उदाहरण द्वारा समझाया गया है कि व्यवहार नय से गुड़ भले ही मधुर गुणवाला तथा भ्रमर काले गुण वाला हो, किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से सभी पदार्थ पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस व आठ स्पर्शवाले हैं। पुद्गल में पाये जाने वाले इन वर्णादि चार गुणों के अवान्तर बीस भेद निम्न हैं।

वर्ण– वर्ण से तात्पर्य द्रव्य में पाये जाने वाले रंग से है, जो हमें आँखों से दिखाई देता है। इसके मुख्य पाँच प्रकार हैं; काला, नीला, लाल, पीला व सफेद। शेष रंग जो हमें दिखाई देते हैं, वे इन पांच रंगों के समिश्रण से ही बनते हैं।

गंध– इसका बोध हमें नासिका इन्द्रिय के द्वारा होता है। गंध दो प्रकार की है; सुगंध (चंदनादि से आने वाली गंध) और दुर्गंध (सड़ी वस्तुओं से आने वाली गंध)।

रस– हमारी जिह्वा द्वारा हमें जिस स्वाद का बोध होता है, वह रस है। रस के पाँच प्रकार हैं; तीखा, कडुआ, कसैला, खट्टा और मीठा।

स्पर्श– छूने से होने वाली अनुभूति स्पर्श कहलाती है। इसके मुख्य रूप से आठ प्रकार बताये गये हैं; कठोर, कोमल, हल्का, भारी, ठंडा, गरम, चिकना और रूखा।

वर्णादि ये चारों गुण परस्पर सम्बद्ध हैं। जिस द्रव्य में वर्ण का कोई भी अवान्तर भेद होगा उसमें रसादि का कोई भी अवान्तर भेद भी अवश्य होगा। अर्थात् कोई भी गुण प्रकट रूप में हमें दिखाई दे या न दे, ये चारों गुण अनिवार्य रूप से पुद्गल में विद्यमान रहते हैं।

रूपीद्रव्य

छः द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है, जिसे हम देख सकते हैं या महसूस कर सकते हैं। भगवतीसूत्र[13] में भगवान् महावीर ने पुद्गल की रूपी अजीवकाय के रूप में प्ररूपणा करते हुए कहा है कि एक पुद्गलास्तिकाय ही रूपी अजीवकाय है, जिस पर कोई भी बैठने, सोने, खड़े रहने, नीचे बैठने, करवट बदलने आदि क्रियायें करने में समर्थ होता है।

संस्थान

संस्थान से तात्पर्य है आकार या आकृति। भगवतीसूत्र में पुद्गल की परिभाषा में वर्णादि गुणों का ही उल्लेख किया गया है। वहाँ उसके संस्थान का

उल्लेख नहीं है। किन्तु, जो द्रव्य वर्णादि गुणों से युक्त होगा उसका कोई आकार अवश्य ही होगा। उत्तराध्ययनसूत्र[14] व तत्त्वार्थसूत्र[15] में भी पुद्गल की परिभाषा में उसे वर्णादि चार गुण वाला ही बताया गया है। किन्तु, पुद्गल के स्वभाव वर्णन में उसे स्पष्ट रूप से पाँच गुणों से युक्त बताया है। भगवतीसूत्र[16] में भी पुद्गल परिणाम में संस्थान की चर्चा की गई है। संस्थान के छः भेद बताये गये हैं[17]–

1. परिमण्डल (चूडी की तरह गोल)
2. वृत (गेंद की तरह गोल)
3. त्र्यस्त (त्रिकोणाकार)
4. चतुस्त्र (चतुष्कोण)
5. आयत (लकड़ी के आकार का लम्बा)
6. अनिस्थंस्थ (अनियत आकार का)

आगे के सूत्र में संस्थान के पाँच प्रकार भी बताये हैं। वहां छठे संस्थान अनिस्थंस्थ का उल्लेख नहीं किया गया है। संभवतः अन्य आकारों का मिश्रण होने के कारण यहाँ उसका उल्लेख नहीं हुआ है।

पुद्गल की अनन्तता[18]

भगवतीसूत्र में पुद्गल द्रव्य को द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव दृष्टि से स्पष्ट करते हुए अनन्त माना है। द्रव्य की दृष्टि से परमाणु अनन्त हैं, द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं, अतः पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं। क्षेत्र की दृष्टि से एक आकाश प्रदेश पर ठहरे हुए पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं। काल की दृष्टि से एक समय की स्थिति वाले पुद्गल भी अनन्त हैं।

पुद्गल के चार भेद[19]

भगवतीसूत्र में रूपी-अजीवद्रव्य (पुद्गल) के चार प्रमुख भेद किये गये हैं।

1. स्कन्ध, 2. स्कन्धदेश, 3. स्कन्धप्रदेश, 4. परमाणु-पुद्गल

स्कन्ध– अनेक परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है।

स्कन्धदेश– स्कन्ध के किसी कल्पित भाग को (जो उससे पृथक् नहीं होता है) स्कन्ध देश कहते हैं।

स्कन्धप्रदेश– स्कन्ध के ऐसे सूक्ष्म अंश को जिसके और विभाग न हो सके स्कन्ध प्रदेश कहते हैं।

परमाणु– स्कन्ध से पृथक् हुए निरंश भाग को परमाणु कहते हैं।

उत्तराध्ययन[20] में तथा पंचास्तिकाय[21] में आचार्य कुंदकुंद ने पुद्गल के उक्त चार भेद किये हैं। किन्तु, नियमसार[22] में कुंदकुंदाचार्य ने स्कन्ध के निम्न छः भेद किये हैं।

1. अतिस्थूल, 2. स्थूल, 3. स्थूलसूक्ष्म,
4. सूक्ष्मस्थूल, 5. सूक्ष्म, 6. अतिसूक्ष्म

पुद्गल के पर्यायवाची[23]

भगवतीसूत्र में पुद्गल द्रव्य के अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। यथा- पुद्गल, पुद्गलास्तिकाय, परमाणु-पुद्गल, द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्त प्रदेशीस्कन्ध आदि सभी शब्द पुद्गल के पर्यायवाची हैं।

पुद्गल परिणाम

पुद्गल का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होना पुद्गल का परिणाम है। भगवतीसूत्र[24] में पाँच प्रकार का पुद्गल परिणाम बताया गया है।

1. वर्णपरिणाम, 2. गंधपरिणाम, 3. रसपरिणाम, 4. स्पर्शपरिणाम, 5. संस्थानपरिणाम

वर्ण परिणाम पांच प्रकार का है; काला, नीला, पीला, लाल व सफेद। गंध परिणाम दो प्रकार का है; सुगंध व दुर्गंध। रस परिणाम पाँच प्रकार का है; तीखा, कडुआ, कसैला, खट्टा और मीठा। स्पर्श परिणाम आठ प्रकार का है; कठोर, कोमल, हल्का, भारी, ठंडा, गरम, चिकना और रूखा। संस्थान परिणाम पांच प्रकार का है; परिमंडल संस्थान, वृत संस्थान, त्र्यस्त संस्थान, चतुस्त्र संस्थान व आयत संस्थान।

परिणाम की दृष्टि से जीव व पुद्गल की पारस्परिक परिणति को लेकर पुद्गल के तीन भेद किये गये हैं।[25]

1. प्रयोगपरिणत पुद्गल, 2. मिश्रपरिणत पुद्गल, 3. विस्रसापरिणत पुद्गल

प्रयोगपरिणत पुद्गल- जीव के व्यापार से शरीर आदि के रूप में परिणत पुद्गल प्रयोगपरिणत पुद्गल कहलाते हैं। जैसे- इन्द्रियाँ, शरीर, रक्त, मांस आदि के पुद्गल।

मिश्रपरिणत पुद्गल- ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा प्रयुक्त होकर मुक्त हो चुके हैं। जैसे- नाखून, मृत शरीर आदि।

विस्रसापरिणत पुद्गल- जिन पुद्गलों का परिणमन जीव की सहायता के बिना स्वाभाविक रूप से होता है। जैसे बादल, इन्द्रधनुष आदि। स्थानांगसूत्र[26] में भी पुद्गल परिणमन की दृष्टि से ये तीन भेद प्राप्त होते हैं।

पुद्गल का आकार प्रकार[27]

भगवतीसूत्र में परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध के आकार-प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। परमाणु-पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य एवं अप्रदेश होते हैं। द्विप्रदेशी-

स्कन्ध सार्द्ध, अमध्य एवं सप्रदेश होते हैं। त्रिप्रदेशी-स्कन्ध अनर्द्ध, समध्य एवं सप्रदेश होते हैं। इस प्रकार संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी व अनन्तप्रदेशी स्कन्धों में सभी समसंख्यक परमाणु-स्कन्धों की स्थिति द्विप्रदेशी-स्कन्धों के समान तथा विषमसंख्यक परमाणु-स्कन्धों की स्थिति त्रिप्रदेशी-स्कन्ध के समान होती है।

पुद्गल की चार प्रकार की स्थिति

भगवतीसूत्र[28] में पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति बताई गई है।

1. द्रव्य स्थानायु, 2. भाव स्थानायु, 3. क्षेत्र स्थानायु, 4. अवगाहना स्थानायु

द्रव्य स्थानायु- परमाणु का परमाणु रूप में तथा स्कंध का स्कंध रूप में अवस्थित रहना द्रव्य स्थानायु कहलाता है।

क्षेत्र स्थानायु- जिस आकाश प्रदेश में परमाणु या स्कंध द्रव्य अवस्थित रहते हैं, वह क्षेत्र स्थानायु है।

अवगाहना स्थानायु- परमाणु व स्कंध का नियत परिमाण में जो अवगाहन होता है, वह अवगाहना स्थानायु है।

भाव स्थानायु- परमाणु और स्कंध के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की परिणति भाव स्थानायु है।

शाश्वतता व अशाश्वतता

पुद्गल द्रव्य को भगवतीसूत्र में शाश्वत व अशाश्वत दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है- **सिय सासए सिय असासए** - (14.4.8)। इसे स्पष्ट करते हुए कहा है- द्रव्य दृष्टि से पुद्गल द्रव्य शाश्वत है परन्तु स्पर्श, वर्ण, रस, गंधादि पर्यायों की दृष्टि से अशाश्वत है। वस्तुतः द्रव्यदृष्टि से पुद्गल परमाणु को शाश्वत इस कारण से माना गया है कि वह भूतकाल में था, वर्तमान में है व अतीत में रहेगा। स्कंधों के साथ मिलने से उसकी सत्ता नष्ट नहीं होती वरन् वह उस स्कंध का प्रदेश कहलाता है। परन्तु उसकी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पर्यायें निरन्तर बदलती रहती हैं, एक गुण काला पुद्गल एक समय बाद ही दो गुण काला पुद्गल बन जाता है अतः पर्यायों में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के कारण उसे अशाश्वत रूप में भी स्वीकार किया है। पुद्गल की कथंचित् शाश्वतता व कथंचित् अशाश्वतता का भाव ही उसे सत् के रूप में प्रतिष्ठित करता है क्योंकि आचार्य उमास्वाति[29] ने सत् को उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य गुणों से युक्त माना है।

पुद्गलपरिवर्त्त[30]

पुद्गल द्रव्यों के साथ परमाणु का मिलना पुद्गलपरिवर्त्त कहलाता है। भगवतीसूत्र में यह स्पष्ट किया है कि परमाणु- पुद्गलों के संघात व भेद के

संबंध से होने वाले पुद्गलपरिवर्त्त अनंतानन्त होते हैं। पुद्गलपरिवर्त्त की अनंतता को भगवतीवृत्ति[31] में इस प्रकार समझाया गया है। एक ही परमाणु अनन्ताणुकांत, द्व्यणुकादि द्रव्यों के साथ संयुक्त होकर अनन्त परिवर्त्तों को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक परमाणु के अनंत परिवर्त्त होते हैं। चूंकि परमाणु भी अनंत हैं अतः इस दृष्टि से पुद्गलपरिवर्त्त भी अनंतानंत हो गये हैं। भगवतीसूत्र में 7 प्रकार के पुद्गलपरिवर्त्त बताये गये हैं–

1. औदारिक-पुद्गलपरिवर्त्त, 2. वैक्रिय-पुद्गलपरिवर्त्त, 3. तैजस-पुद्गलपरिवर्त्त, 4. कार्मण-पुद्गलपरिवर्त्त, 5. मन-पुद्गलपरिवर्त्त, 6. वचन-पुद्गलपरिवर्त्त, 7. आनप्राण-पुद्गलपरिवर्त्त। भगवतीसूत्र के बारहवें शतक के चौथे उद्देशक में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इन पर विस्तार से चर्चा की गई है।

परमाणु

जैन दर्शन का परमाणुवाद न केवल प्राचीनतम है वरन् अन्य दर्शनों की अपेक्षा मौलिक भी है। जैन परमाणुवाद का संबंध भगवान् पार्श्व के समय से ही माना जाता है। जैन परम्परा इस बात को स्वीकार करती है कि भगवान् महावीर ने द्रव्यविषयक किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया अर्थात् उन्होंने पार्श्व की परम्परा को ही आगे बढ़ाया है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया है। यूनान में परमाणुवाद के जन्मदाता डिमोक्रिट्स माने जाते हैं। डिमोक्रिट्स का समय ई. पू. 460-371 है जबकि पार्श्व का समय ई. पू. 850 माना गया है। इस दृष्टि से जैन परमाणुवाद प्राचीन सिद्ध होता है। शिवदत्त ज्ञानी का मत है कि परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन की विशेषता है। उसका प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन, आजीविक आदि द्वारा भी उनका उल्लेख किया गया है, किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया है।[32] तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन परमाणुवाद से पहले का प्रतीत नहीं होता है और न जैनों की तरह वैशेषिकों ने उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक प्रकाश भी डाला है। विद्वानों ने माना है कि भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैनदर्शन को मिलना चाहिये।[33] डॉ. महेन्द्रमुनि ने अपने लेख में परमाणु के ऐतिहासिक क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ	877-777 ई.पू.
तीर्थंकर महावीर	499-427 ई.पू.
डिमोक्रिट्स	420 ई. पू.
वैशेषिक	महर्षि कणाद

स्पष्ट है कि परमाणुवाद के जन्मदाता जैन ही रहे हैं।

परमाणु की परिभाषा एवं स्वरूप

प्राचीन दार्शनिक जैन ग्रंथों में परमाणु के स्वरूप आदि पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। परमाणु शब्द परम + अणु इन दो शब्दों से मिलकर बना है। परम का अर्थ है– अंतिम व अणु का अर्थ है– किसी पदार्थ का छोटा भाग। इस तरह शाब्दिक दृष्टि से अजीवद्रव्य पुद्गल का सबसे छोटा अंतिम भाग परमाणु कहलाता है। पंचास्तिकाय[34] में परमाणु की परिभाषा देते हुए आचार्य कुंदकुंद ने कहा है– समस्त स्कंधों का जो अन्तिम भेद है उसे परमाणु जानो। तत्त्वार्थसूत्र[35] में उमास्वाति ने परमाणु को अविभाजित मानते हुए कहा है कि अणु व परमाणु के प्रदेश नहीं होते हैं। आचार्य तुलसी[36] ने परमाणु की परिभाषा देते हुए परमाणु को अविभाज्य कहा है; अर्थात जो टूट न सके, जिसका विभाग न हो सके ऐसा अविभाजित पुद्गल परमाणु कहलाता है।

भगवतीसूत्र जैन दर्शन साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ है। पुद्गल के साथ-साथ इस ग्रन्थ में परमाणु के संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। परमाणु का स्वरूप, निर्माण, प्रकार, उनमें गति आदि सभी पहलुओं पर भगवतीसूत्र में विवेचन हुआ है। चूंकि भगवती का परमाणुवाद अत्यंत ही विस्तृत है अत: कुछ प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर भगवतीसूत्र के परमाणुवाद का आकलन यहाँ किया जा रहा है।

भगवतीसूत्र[37] में परमाणु को एक वर्ण, एक गंध, एक रस व दो स्पर्श वाला बताया है। एक वर्णवाला है तो कदाचित् काला, नीला, लाल, पीला या श्वेत होगा। एक गंध में या तो सुगंध वाला होगा या दुर्गंध वाला होगा। एक रस युक्त है तो तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा या मीठा होगा। यदि स्पर्शवाला है तो शीत व उष्ण में से एक तथा स्निग्ध व रूक्ष में से एक अर्थात् उष्ण-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध, शीत-रूक्ष या शीत-स्निग्ध स्पर्श से युक्त होगा। पंचास्तिकाय[38] में आचार्य कुंदकुंद ने भी परमाणु के इसी स्वरूप का समर्थन करते हुए कहा है कि जिसमें एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श गुण रहते हैं, जो शब्द की उत्पत्ति में कारण है, पर स्वयं अशब्द है, स्कंध रूप से परिणमन करते हैं, उसे द्रव्य परमाणु जानो।

परमाणु का स्वरूप

भगवतीसूत्र[39] में परमाणु का स्वरूप बताते हुए उसे अछेद्य, अभेद्य, अनार्द्र, अद्राह्य व अविभाज्य माना है। परमाणु पुद्गल तलवार या उस्तरे की धार पर बिना

छिन्न-भिन्न हुए ठहर सकता है। परमाणु पुद्गल में शस्त्र क्रमण (प्रवेश) नहीं कर सकता है। वह महामेघ में प्रवेश कर सकता है, अग्निकाय उसे नहीं जला सकता है, महागंगा नदी की धारा उसे नहीं बहा सकती है।

ग्रंथ[40] में परमाणु को आकार रहित बताते हुए कहा है– परमाणु पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेशी है। अर्थात् परमाणु का आदि, मध्य व अन्त एक ही है। इस दृष्टि से परमाणु एक विशुद्ध ज्योमितिक बिन्दु के रूप में जाना जा सकता है क्योंकि उसकी न लम्बाई है, न चौड़ाई है, न गहराई। वह अविम (Dimensionless) है। वह अन्तिम व शाश्वत इकाई है। परमाणु के इसी स्वरूप का समर्थन करते हुए तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा गया है– **अंतादि अन्तमज्झं अंतन्तं णेव इंदिए गेज्झं। जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि।** – (5.25.1) अर्थात् जो स्वयं अपना आदि, मध्य व अन्त हो वह अविभाज्य अंश परमाणु है।

भगवतीसूत्र में परमाणु को अभेद्य, अछेद्य व अविभाज्य रूप में स्वीकार किया है, किन्तु विज्ञान की दृष्टि से परमाणु टूटता है। इस समस्या का समाधान अनुयोगद्वारासूत्र में किया गया है। अनुयोगद्वारासूत्र[41] में परमाणु के दो प्रकार बताये गये हैं– 1. सूक्ष्म परमाणु, 2. व्यावहारिक परमाणु। सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप इसमें भगवतीसूत्र के समान ही वर्णित है। व्यवहारिक परमाणु को अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का समुदाय बताया गया है। यद्यपि वह स्वयं परमाणु-पिंड है, किन्तु साधारण दृष्टि से ग्राह्य न होने के कारण तथा अभेद्य व अछिन्न होने के कारण उसकी सूक्ष्म परिणति है अत: व्यवहार से उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से हो सकती है। भगवतीसूत्र[42] में परमाणु को एक द्रव्य व द्रव्य देश दोनों ही बताया है। परमाणु की सूक्ष्मता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि परमाणु-पुद्गल वायुकाय से स्पृष्ट है किन्तु वायुकाय परमाणु पुद्गल से स्पृष्ट नहीं है[43] अर्थात् वायुकाय बड़ा है और परमाणु सूक्ष्म व अप्रदेशी। वायुकाय उसमें प्रवेश नहीं कर सकता है।

परमाणु की शाश्वतता व अशाश्वता को बताते हुए कहा गया है कि द्रव्यार्थ रूप से परमाणु शाश्वत है, किन्तु वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि पर्याय रूप से वह अशाश्वत है क्योंकि पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। इसी तरह परमाणु की चरमता व अचरमता को बताते हुए भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं– परमाणु चरम भी है, अचरम भी है। द्रव्य की अपेक्षा से परमाणु पुद्गल अचरम है। क्षेत्र की अपेक्षा से कथंचित् चरम कथंचित् अचरम है। इसी तरह काल व

भाव की अपेक्षा से कथंचित् चरम व कथंचित् अचरम है।[44]

भगवतीसूत्र में दिये उपर्युक्त विवेचन से जैन परमाणु का स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। परमाणु द्रव्य का एक ऐसा अविभाज्य अंश है, जो स्वयं अपना आकार है क्योंकि परमाणु को हम निराकार नहीं कह सकते हैं। निराकार वस्तु द्रव्य नहीं हो सकती और भगवतीसूत्र में परमाणु को द्रव्य व द्रव्यदेश दोनों कहा है। यथा- **सिय दव्वं, सिय दव्वदेसे** - (व्या. सू. 8.10.23)। यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि निराकार वस्तु गुणों को धारण नहीं कर सकती जबकि परमाणु को भगवतीसूत्र में एक गंध, एक रस, एक वर्ण व दो स्पर्श युक्त बताया है। अतः वर्णादि गुणों को धारण करने के कारण ही परमाणु द्रव्य है तथा साकार होने के कारण परमाणु स्वयं अपना आकार है वह स्वयं अपनी लम्बाई, चौड़ाई व मौटाई है।

परमाणु के प्रकार[45]

भगवतीसूत्र में परमाणु के चार प्रकार बताये गये हैं-

1. द्रव्य परमाणु, 2. क्षेत्र परमाणु, 3. काल परमाणु, 4. भाव परमाणु।

द्रव्य परमाणु- वर्णादि की विवक्षा किये बिना एक परमाणु को द्रव्य परमाणु कहते हैं। भगवतीसूत्र में द्रव्य परमाणु चार प्रकार का बताया गया है- अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य व अग्राह्य।

क्षेत्र परमाणु- एक आकाश प्रदेश को क्षेत्र परमाणु कहते हैं। क्षेत्र परमाणु भी चार प्रकार का बताया गया है- अनर्द्ध, अमध्य, अप्रदेश व अविभाज्य।

काल परमाणु- एक समय को काल परमाणु कहते हैं। काल परमाणु के अवर्ण, अगंध, अरस व अस्पर्श ये चार प्रकार बताये हैं।

भाव परमाणु- वर्ण आदि धर्म की प्रधानता की दृष्टि से एक परमाणु की विवक्षा करना भाव परमाणु कहलाता है। इसके भी चार प्रकार बताये हैं- वर्णवान, गंधवान, रसवान व स्पर्शवान।

इन्द्रियातीत

परमाणु रूपी व मूर्त है क्योंकि वह वर्ण, रस, गंध व स्पर्श से युक्त होता है। लेकिन एक सूक्ष्म परमाणु रूपी होते हुए भी इन्द्रियातीत है। वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष से ही देखा जा सकता है। छद्मस्थ व्यक्ति परमाणु पुद्गल को जानता है, किन्तु देखता नहीं है। कोई-कोई तो न जानता है न देखता है। चूंकि परमाणु अपनी सूक्ष्मता के कारण इन्द्रियातीत होता है अतः भगवतीसूत्र[46] में स्पष्ट किया

गया है कि केवलज्ञानी व परमअवधिज्ञानी व्यक्ति ही परमाणु को जानते व देखते हैं। वे भी जिस समय जानते हैं उस समय देखते नहीं हैं और जिस समय देखते हैं उस समय जानते नहीं क्योंकि ज्ञान साकार व दर्शन निराकार होता है।

परमाणु में कंपन एवं गति

परमाणु में स्वभावत: सक्रियता व गतिशीलता पाई जाती है, लेकिन इससे यह तात्पर्य नहीं है कि परमाणु सदैव ही गतिशील रहता है कभी स्थिर नहीं होता है। परमाणु में गतिशीलता व स्थिरता दोनों पाई जाती हैं लेकिन उनमें कोई नियमितता नहीं होती है। भगवतीसूत्र में कहा गया है– **सिय सेए सिय निरए** (25.4.189) अर्थात् परमाणु कदाचित् सकंप होता है कदाचित् निष्कंप होता है। इसी तरह द्विप्रदेशी स्कंध से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी कदाचित् सकंप होते हैं कदाचित् निष्कंप होते हैं। यद्यपि परमाणु व स्कन्धों की सक्रियता व निष्क्रियता का काल निश्चित नहीं है, किन्तु यदि कोई परमाणु पुद्गल सकंप अवस्था में है तो वह जघन्य एक समय व उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग तक सकंप रहता है इसके बाद उसमें अवश्य परिवर्तन होगा। अर्थात् सक्रियता की अवस्था के एक निश्चित समय बाद उसमें निष्क्रियता की अवस्था अवश्य आयेगी। इसी प्रकार एक निष्कंप परमाणु जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक निष्कंप रहता है, इसके बाद उसमें सक्रियता अवश्य आयेगी। यही बात द्विप्रदेशी स्कन्धों से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्धों तक लागू होती है।[47]

एक परमाणु पुद्गल देशकंपक नहीं होता है, सर्वकंपक होता है या निष्कंपक होता है जबकि द्विप्रदेशी स्कन्धों से अनन्त प्रदेशी स्कन्धों को कदाचित् देशकंपक कदाचित सर्वकंपक व कदाचित् निष्कंपक बताया है।[48]

भगवतीसूत्र के पाँचवें शतक के सातवें उद्देशक में परमाणु में कंपन की प्रक्रिया को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि परमाणु कभी एजन करता है कभी वेजन करता है अर्थात् कभी कांपता है कभी विशेष रूप से कांपता है और विभिन्न भावों में परिणत होता है। इसी तरह द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर असंख्यात व अनन्तप्रदेशी स्कन्धों में एजन व वेजन को स्पष्ट किया गया है।[49]

परमाणु में गति की तीव्रता को स्पष्ट करते हुए ग्रंथ में कहा है– परमाणु पुद्गल एक समय में लोक के एक चरमान्त से दूसरे चरमान्त तक चला जाता है। अर्थात् वह एक समय में पूर्वीय चरमान्त से पश्चिमी चरमान्त में, पश्चिमी चरमान्त से पूर्वीय चरमान्त में, तथा उत्तरी चरमान्त से दक्षिणी चरमान्त में, दक्षिणी चरमान्त से उत्तरी

चरमान्त में, ऊपर के चरमान्त से नीचे के चरमान्त में तथा नीचे के चरमान्त से ऊपर के चरमान्त में चला जाता है। लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे की दूरी असंख्यात योजन होती है और परमाणु वह दूरी एक समय में तय कर लेता है।[50]

पुद्गल-परमाणु निर्माण की प्रक्रिया

भगवतीसूत्र में परमाणु निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह पुद्गल (परमाणु या स्कन्ध) तीनों (वर्तमान, भूत व अनागत) कालों में एक समय तक रूक्ष स्पर्श वाला, एक समय तक अरूक्ष (स्निग्ध) स्पर्शवाला और एक समय रूक्ष व स्निग्ध दोनों प्रकार के स्पर्श वाला रहा है। पहले करण (अर्थात् प्रयोगकरण और विस्रसाकरण) के द्वारा यही पुद्गल अनेक वर्ण और अनेक रूप वाले परिणाम से परिणत हुआ। फिर उन अनेक रूप वाले परिणामों के क्षीण होने पर वह एक वर्ण और एक रूप वाला हुआ। यहां कहने का तात्पर्य है कि एक समय में जो परमाणु रूप है वह दूसरे समय मे स्कन्ध रूप में परिणत हो जाता है तथा एक समय में जो स्कन्ध है वह दूसरे समय में एक वर्ण वाले परमाणु रूप में परिणित हो सकता है।[51]

तत्त्वार्थसूत्र में परमाणु निर्माण की प्रक्रिया इस प्रकार स्पष्ट की गई है- **संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते भेदादणुः** - (5.26, 27) अर्थात् स्कंध की उत्पत्ति भेद, संघात व संघात-भेद से होती है जबकि परमाणु भेद से ही बनता है। इस प्रकार पमाणुओं से स्कन्ध का निर्माण होता है तथा स्कन्ध भेद से परमाणु बनते हैं।

काल की अपेक्षा से एक परमाणु, परमाणु रूप में जघन्य एक समय तक रहता है तथा अधिक से अधिक संख्यात काल तक रहता है। इसी प्रकार स्कन्ध, स्कन्ध के रूप में कम से कम एक समय तथा अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रहता है। इसके पश्चात् उनमें अवश्य परिवर्तन होता है। क्षेत्र की दृष्टि से परमाणु और स्कन्ध एक क्षेत्र में कम से कम एक समय तक व अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं।[52]

परमाणु व स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया के अन्तरकाल को भी ग्रंथ में स्पष्ट किया गया है। एक परमाणु या स्कन्ध का अपनी अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में परिणत हो जाना तथा वापस उसी अवस्था को प्राप्त करने में लगा समय अन्तरकाल कहलाता है। एक परमाणु परमाणुपन छोड़कर स्कन्ध रूप में परिणत होकर पुनः परमाणु हो जाये तो उसे जघन्य एक समय लगता है तथा उत्कृष्ट असंख्यात समय लगता है और द्विप्रदेशी स्कंध, त्रिप्रदेशी स्कन्ध आदि का अन्तरकाल

जघन्य एक समय व उत्कृष्ट अनन्त काल होता है।[53]

परमाणु का बंध

परमाणुओं में आपस में बंध की प्रक्रिया के बारे में भगवतीसूत्र में भिन्न-भिन्न जगह चर्चा की गई है। दो परमाणु पुद्गल आपस में चिपक जाते हैं क्योंकि दो परमाणु पुद्गलों में चिकनापन है, तीन परमाणु-पुद्गल भी परस्पर चिपक जाते हैं। इसी प्रकार पांच परमाणु आदि भी चिपक जाते हैं और स्कंध का निर्माण करते हैं।[54] यहाँ स्नेहकाय या स्निग्धता को परमाणुबंध का कारण माना गया है।

परमाणुबंध की आगे व्याख्या करते हुए आठवें शतक में कहा है- परमाणु द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक से लेकर संख्यातप्रदेशिक, असंख्यातप्रदेशिक और अनन्तप्रदेशिक पुद्गल स्कन्धों का विमात्रा में स्निग्धता से, विमात्रा में रूक्षता से तथा विमात्रा में स्निग्धता-रूक्षता से बंधन-प्रत्येयिक बंध समुत्पन्न होता है। वह जघन्यत: एक समय और उत्कृष्टत: असंख्येय काल तक रहता है।[55] परमाणु बंध की इसी प्रक्रिया को समझाते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- **स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध:। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्व्यधिकादि गुणानां तु।** - (5.32-35) अर्थात् बंध स्निग्धता व रूक्षता के कारण होता है। जघन्य गुण वाले स्निग्ध व रूक्ष अवयवों का बंध नहीं होता है। समान अंश होने पर सदृश्य अर्थात् स्निग्ध से स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष से रूक्ष अवयवों का बंध नहीं होता है। दो अंश अधिक वाले अवयवों का बंध होता है।

पुद्गल-परमाणु का संयोग-वियोग

भगवतीसूत्र[56] में बंध की प्रक्रिया में परमाणु से स्कन्ध व स्कन्ध से परमाणु के निर्माण की बात को स्पष्ट किया गया है। भगवतीसूत्र के बारहवें शतक में दो परमाणुओं से लेकर अनन्त प्रदेशी परमाणुओं के संयोग व वियोग पर प्रकाश डाला गया है। दो परमाणु जब आपस में संयुक्त होते हैं तो द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है तथा उनका भेदन होने पर उसके दो विभाग होते हैं। एक तरफ एक परमाणु पुद्गल व दूसरी तरफ दूसरा परमाणु पुद्गल। तीन परमाणु एक रूप में इकट्ठे होकर त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का निर्माण करते हैं तथा उनके विभाग होने पर दो विकल्प बनते हैं। एक तरफ एक परमाणु व दूसरी तरफ द्विप्रदेशी स्कन्ध। उसके तीन पृथक्-पृथक् परमाणु भी हो सकते हैं। चार परमाणु मिलकर चतुष्कप्रदेशी स्कन्ध का निर्माण करते हैं। उनका भेदन होने पर चार विकल्प बनते हैं। दो विभाग होने पर एक ओर एक पुद्गल परमाणु व दूसरी ओर त्रिप्रदेशी स्कन्ध या

दोनों ओर द्विप्रदेशी स्कन्ध होगा। तीन विभाग होने पर एक तरफ पृथक्-पृथक् दो परमाणु व दूसरी तरफ द्विप्रदेशी स्कन्ध। चार विभाग होने पर चारों पुद्गल परमाणु पृथक्-पृथक् होते हैं। इस प्रकार असंख्यात व अनन्त प्रदेशी परमाणु-पुद्गलों के संयोग व वियोग से होने वाले विभागों के विकल्पों का वर्णन किया गया है।

प्राणी जगत के लिए पुद्गल का उपकार

जैन दर्शन षड्द्रव्यों को स्वीकार करता है। उन छः द्रव्यों में पांच द्रव्य अरूपी होने के कारण हमारी इन्द्रियों के विषय नहीं बन सकते हैं। छठा द्रव्य पुद्गल रूपी व मूर्त है अतः वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। हमारे इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत की लीलाओं का आधार यह मूर्त पुद्गल द्रव्य ही है।

पुद्गलास्तिकाय का लक्षण ग्रहण रूप है। अतः इसकी उपयोगिता को बताते हुए भगवतीसूत्र[57] में कहा है- पुद्गलास्तिकाय से ही जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस व कार्मण शरीर, श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग और श्वास-उच्छ्वास को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है।

भगवतीसूत्र के इस विवेचन से स्पष्ट है कि यह समस्त संसार ही नहीं वरन् इस संसार में होने वाली जीव की समस्त क्रियायें भी पौद्गलिक ही हैं। जीव का शरीर धारण करना, इन्द्रियाँ व उनकी प्रवृत्तियाँ सभी पुद्गल के निमित्त से हैं। जीव का श्वास लेना, निकालना सब पुद्गल के ही परिणमन हैं। जो भाषा या वचन हम बोलते हैं वे भी पुद्गल की ही पर्याय हैं। भगवतीसूत्र में कहा है- भाषा आत्मा नहीं अन्य (पुद्गल) है। भाषा जीव नहीं अजीव है। भाषा अरूपी नहीं रूपी है।[58] व्यक्ति का शारीरिक ही नहीं मानसिक चिन्तन भी पुद्गल सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन से पूर्व क्षण में मनोवर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण करता है उसकी चिन्तन के अनुकूल अनुकृतियाँ बन जाती हैं।

इस समूचे पौद्गलिक संसार में जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएँ पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य दृष्टि से देखा जाय तो यह जगत जीव और पुद्गल के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब मात्र है। जीव अपनी समस्त क्रियाएँ पुद्गल के सहयोग से ही करता है। पुद्गलास्तिकाय रूपी है जिस पर कोई भी सोने, उठने-बैठने, करवट लेने आदि क्रियाएँ करने में समर्थ होता है। संसारी आत्मा पुद्गल के बिना नहीं रह सकती है। जब तक जीव इस संसार में भ्रमण करता रहेगा उसका पुद्गल के साथ संबंध अविच्छेद है। इस संबंध में तत्त्वार्थसूत्र

में कहा गया है – **शरीरश्वांङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्। सुखदुःख-जीवितमरणोपग्रहाश्च** – (5.19-20) अर्थात् शरीर, वाणी, मन, निःश्वास व उच्छ्वास ये सभी पुद्गल के उपकार कार्य हैं तथा सुख-दुःख, जीवन व मरण ये भी पुद्गल के उपकार हैं।

संदर्भ

1. (क) स्थानांग, 2.1.1 (ख) प्रज्ञापना पद 1, टीका,
2. पंचास्तिकाय, 2.122, 124, 125
3. बृहत्द्रव्यसंग्रह, 15 की टीका, पृ. 39
4. सर्वार्थसिद्धि, 5.1.528, पृ. 202
5. व्या. सू., 25.2.1-2, 2.10.11, 10.1.8
6. (क) व्या. सू., 7.10.9 (ख) तत्त्वार्थसूत्र, 5.4
7. 'दव्वतो णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं' व्या. सू. 2.10.6
8. वही, 13.4.28
9. उत्तराध्ययन, 28.12
10. प्रवचनसार, अधिकार-2 गा. 40
11. स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः - जैन सिद्धान्त दीपिका, 1.11
12. 'वावहारियनयस्स गोड्डे फाणियगुले नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे अट्ठफासे पन्नते' - व्या. सू. 18.6.1
13. वही, 7.10.9
14. उत्तराध्ययन, 36.15
15. तत्त्वार्थसूत्र, 5.23, 24
16. 'पंचविहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा वण्णपरिणामे.....संठाणपरिणामे'- व्या. सू., 8.10.19
17. वही, 25.3.1, 7
18. वही, 25.4.87-95
19. 'जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा खंधा खंधदेसा खंधपदेसा परमाणु पोग्गला'- वही, 2.10.11
20. उत्तराध्ययन, 36.10
21. पंचास्तिकाय, गा. 74
22. नियमसार, गा. 21-24
23. व्या. सू. 20.2.8
24. वही, 8.10.19
25. वही, 8.1.3
26. स्थानांग, मुनि मधुकर, 3.1.401, पृ. 165

27. व्या. सू., 5.7.9-10
28. वही, 5.7.29
29. तत्त्वार्थसूत्र, 5.29
30. व्या. सू. 12.4.14-15
31. भगवतीवृत्ति, पत्रांक 568
32. भारतीय संस्कृति, पृ. 229
33. दर्शन साहित्य का इतिहास, पृ. 129
34. पंचास्तिकाय, गा. 77
35. तत्त्वार्थसूत्र 5.10-11
36. 'अविभाज्यः परमाणुः - जैन सिद्धान्त दीपिका, 114
37. 'एगवण्णे एगगंधे एगरसे दुफासे पन्नते' - व्या. सू. 18.6.6
38. 'एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं, खंधतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि' - पंचास्तिकाय, गा. 81
39. व्या. सू. 5.7.3-8
40. 'अणड्ढे अमज्झे अपदेसे' - व्या. सू. 5.7.9
41. अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वार
42. 'सिय दव्वं, सिय दव्वदेसे' - व्या. सू. 8.10.23
43. 'परमाणुपोग्गले वाउयाएणं फुडे, नो वाउयाए परमाणुपोग्गलेणं फुडे' - वही, 18.10.4
44. वही, 14.4.8-9
45. वही, 20.5.15-19
46. वही, 18.8.16-23
47. वही, 25.4.189-206
48. वही 25.4.211-212
49. वही 5.7.1-3
50. व्या. सू. 16.8.13
51. वही, 14.4.1
52. वही, 5.7.14-21
53. 'जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेणं अखंसेज्जं कालं' - वही, 5.7.22
54. वही, 1.10.1
55. व्या. सू. 8.9.9
56. वही, 12.4.1-13
57. वही, 13.4.28
58. वही, 13.7.2-5

अरूपी-अजीवद्रव्य

(धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल)

धर्मास्तिकाय

भगवतीसूत्र में धर्मास्तिकाय की गणना अरूपी अजीव द्रव्य के पाँच, सात तथा दस भेदों के अन्तर्गत की गई है। (व्या. सू. 2.10.11, 10.1.8, 25.2.1-2) धर्मास्तिकाय या धर्म-द्रव्य में जुड़ा धर्म शब्द किसी नैतिक अर्थ का सूचक नहीं है। जैसा कि प्रायः कहा जाता है कि **आत्मशुद्धि साधनं धर्मः** अर्थात् आत्मा की शुद्धि का साधन धर्म है। न ही धर्म शब्द यहां वस्तु के स्वभाव या गुण को सूचित कर रहा है। जैन द्रव्य-मीमांसा में धर्मास्तिकाय का विशेष अर्थ है। भगवतीसूत्र में गति में सहायक द्रव्य को धर्म-द्रव्य कहा गया है- **गतिलक्खणे णं धम्मत्थिकाए** (13.4.24)। उत्तराध्ययन में भी **गई लक्खणो उ धम्मो** - (28.9) कहकर धर्मास्तिकाय का लक्षण गति स्वीकार किया गया है। आगे चलकर तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने भी धर्म-द्रव्य को गति के उपकारक के रूप में स्वीकार किया है- **गतिस्थित्युपग्रहो धर्मोधर्मयोरुपकारः** - (5.17) आचार्य तुलसी ने अपनी पुस्तक जैन सिद्धान्त दीपिका में धर्मद्रव्य को गति के असाधारण माध्यम के रूप में विवेचित किया है- **गत्यसाधारणसहायो धर्मः** - (1.4) गति को लक्षण के रूप में स्वीकार करने वाली धर्म द्रव्य की यह मौलिक परिभाषा केवल जैन-ग्रंथों में ही उपलब्ध है।

भगवतीसूत्र में धर्मास्तिकाय का स्वरूप बताते हुए कहा गया है- **अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे** - (2.10.2) अर्थात् धर्मास्तिकाय वर्णरहित, गंधरहित, रसरहित व स्पर्शरहित है अर्थात् अरूपी है, अजीव है; शाश्वत है तथा अवस्थित लोक प्रमाण द्रव्य है। धर्मास्तिकाय अमूर्त द्रव्य है। धर्मास्तिकाय पर कोई व्यक्ति न बैठ सकता है, न सो सकता है, न उठ सकता है, न करवट बदल सकता है।[1] गति धर्मास्तिकाय का लक्षण है।[2]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व गुण की अपेक्षा से भगवतीसूत्र[3] में धर्मास्तिकाय के पाँच प्रकारों की चर्चा की गई है। द्रव्य की दृष्टि से धर्मास्तिकाय को एक द्रव्य

रूप, क्षेत्र की अपेक्षा से लोक प्रमाण, काल की अपेक्षा से तीनों कालों भूत, भविष्य व वर्तमान में उसका अस्तित्व होने के कारण नित्य तथा भाव की अपेक्षा से वर्ण, गंध, रस व स्पर्श से रहित होने के कारण अरूपी बताया गया है। गुण की अपेक्षा से उसे गति गुण वाला कहा है अर्थात् धर्मास्तिकाय गतिपरिणत जीवों व पुद्गलों के गमन में सहायक है। आचार्य कुंदकुंद ने भी पंचास्तिकाय[4] में धर्मास्तिकाय के इसी स्वरूप का समर्थन किया है– धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य पाँच प्रकार के रसों से रहित है, पाँच प्रकार के वर्णों, दो प्रकार की गंध से रहित है, शब्दरूप नहीं है, आठ प्रकार के स्पर्श से रहित है, समस्त लोक में व्याप्त है, अखंड प्रदेश वाला है, स्वभाव से ही सब जगह फैला हुआ है व असंख्यात प्रदेशी है।

भगवतीसूत्र एवं अन्य जैनागमों द्वारा दी गई धर्मद्रव्य की परिभाषाओं से धर्मद्रव्य के स्वरूप को अच्छी तरह समझा जा सकता है। वस्तुतः यह धर्म द्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श व वर्ण से रहित होने के कारण अरूपी कहा गया है। लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं जहां धर्मद्रव्य न हो इसी कारण इसे लोक व्याप्त माना गया है। संक्षेप में धर्मद्रव्य लोक अवस्थित ऐसा अरूपी निष्क्रिय द्रव्य है, जो स्वयं तो गतिमान नहीं है, किन्तु जीव व अजीव की गति में सहायक का कार्य करता है।

धर्मद्रव्य गति में किस प्रकार सहायक होता है इसको समझाते हुए द्रव्यसंग्रह[5] में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है– जैसे पानी के अभाव में मछली गति नहीं कर सकती, यद्यपि उसमें गति करने की क्षमता विद्यमान है। उसी प्रकार जीव व पुद्गल में गति करने की क्षमता तो विद्यमान है पर धर्म द्रव्य उस गति का सहायक कारण बनता है।

जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी अन्य भारतीय दर्शन में धर्म द्रव्य को इस रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। यह जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। जैन-दर्शन में जिस गति सहायक पदार्थ को धर्म-द्रव्य कहा गया है, उसी से मिलते-जुलते द्रव्य को आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने 'ईथर' कहा है। सर्वप्रथम न्यूटन ने 'ईथर' तत्त्व की व्याख्या कर उसे सम्पूर्ण आकाश व ब्रह्मांड में व्याप्त माना। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन ने गति तत्त्व की संस्थापना करते हुए कहा है कि लोक परिमित है, लोक से परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य या शक्ति लोक से बाहर नहीं जा सकती है। लोक के बाहर उस शक्ति या द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होता है।[6]

बाद में प्रसिद्ध वैज्ञानिक ए.ए. माइकेलसन और ई.डब्लू मोरले ने क्लीवलेण्ड में सन् 1881 में ईथर के संबंध में भव्य परीक्षण किये, जिससे यह परिणाम सामने आया कि ईथर का प्रभाव प्रकाश की गति पर नहीं पड़ता है। इस निष्कर्ष के कारण ही बाद में आइंस्टीन ने इसके अस्तित्व का निरासन किया। इसके बाद के वैज्ञानिकों ने भी अपने प्रयोगों में भौतिक ईथर तत्त्व की आवश्यकता को पुनः स्वीकार नहीं किया।

इस संबंध में भौतिक विज्ञानवेत्ता डॉ. ए. एस. एंडिंगटन[7] लिखते हैं कि

Now a days it is agreed that ETHER is not a kind of matter, being non material its properties are quite unique characters such as mass and regidily which we meet with in matter will naturaly be absent in ETHER but the ETHER will have new difinite characters of its own now material ocean of ETHER. अर्थात् आजकल यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'ईथर' भौतिक द्रव्य नहीं है। भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है। भौतिक में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा, परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे। स्पष्ट है कि विज्ञान चाहे गति के माध्यम तत्त्व के रूप में ईथर तत्त्व को स्वीकार करे, चाहे उसका निरासन करे अथवा उसके स्वरूप को भौतिक या अभौतिक किसी भी रूप में मान्यता प्रदान करे, किन्तु जैन-दर्शन धर्मद्रव्य की मान्यता को स्वीकृति प्रदान करता है। क्योंकि गति में सहायक धर्म-द्रव्य के अभाव में जीव, पुद्गलादि पदार्थ अनन्त में भटक जायेंगे, सारी लोक-व्यवस्था ही चरमरा जायेगी तथा एक दिन ऐसा आयेगा जब सम्पूर्ण विश्व शून्य हो जायेगा। अतः धर्म-द्रव्य लोक-व्यवस्था का अनिवार्य द्रव्य है।

धर्मास्तिकाय के पर्यायवाची

भगवतीसूत्र[8] में धर्मास्तिकाय के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए कहा गया है- धर्म, धर्मास्तिकाय, प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण आदि परिग्रहविरमण अथवा क्रोध-विवेक आदि निक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्त्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिकासमिति अथवा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति या कायगुप्ति; ये सब तथा इनके समान जितने भी दूसरे इस प्रकार के शब्द हैं, वे धर्मास्तिकाय के अभिवचन हैं। भगवतीवृत्ति[9] में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि धर्मशब्द के साधर्म्य से अस्तिकायरूप धर्म के प्राणातिपातविरमणादि चारित्रधर्म भी पर्यायवाची हैं।

परिमाण

भगवतीसूत्र[10] में धर्मास्तिकाय के परिमाण की चर्चा करते हुए कहा है– धर्मास्तिकाय लोकरूप है, लोकमात्र है, लोक प्रमाण है, लोक स्पृष्ट है और लोक को ही स्पर्श किये हुए है अर्थात् धर्मास्तिकाय के उतने ही प्रदेश हैं जितने लोक के प्रदेश हैं। धर्मास्तिकाय अपने समस्त प्रदेशों द्वारा लोक के समस्त प्रदेशों को स्पृष्ट किये हुए है। जीव व पुद्गल की गति इस लोक में ही नियंत्रित हो वे अनंत अलोक में न भटक जायें, अतः लोक के आकार के समान ही भगवतीसूत्र में धर्मास्तिकाय के आकार को स्वीकार किया गया है।

अवगाहना एवं प्रदेश

अवगाहना की दृष्टि से धर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण है, अलोक प्रमाण नहीं। अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, उसी तरह धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं। धर्मास्तिकाय के एक-एक प्रदेश लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर अवगाढ़ हैं। धर्मास्तिकाय की अवगाहना को समझाते हुए भगवतीसूत्र[11] में कहा गया है कि जहाँ धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाढ़ होता है वहाँ धर्मास्तिकाय का दूसरा प्रदेश अवगाढ़ नहीं हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक आकाश-प्रदेश पर धर्मास्तिकाय का एक ही प्रदेश ठहर सकता है, अन्य नहीं। लेकिन वहां पर अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय का एक-एक प्रदेश तथा अनंत जीवास्तिकाय व अनंत पुद्गलास्तिकाय ठहर सकते हैं।

ग्रंथ में धर्मास्तिकाय के मध्य के प्रदेशों की भी चर्चा की गई है। किसी भी आकार का मध्य एक बिन्दु होता है, किन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भगवतीसूत्र में धर्मास्तिकाय के मध्य के प्रदेश आठ माने गये हैं– **अट्ठ धम्मत्थिकायस्स मज्झपएसा पन्नता** - (25.4.246)।

स्पर्शना

तीनों लोकों द्वारा धर्मास्तिकाय की स्पर्शना स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र[12] में कहा है कि अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग को स्पर्श करता है। तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्श करता है। ऊर्ध्व लोक धर्मास्तिकाय के देशोन (कुछ कम) अर्धभाग को स्पर्श करता है। इसके अतिरिक्त रत्नप्रभादि सात पृथ्वियाँ, उन सातों के घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तर, सौधर्मकल्प ईषत्प्राग्भारा-पृथ्वी तक धर्मास्तिकायादि की स्पर्शना का विवेचन भी ग्रंथ में किया गया है।

इस पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए मधुकर मुनि ने लिखा है कि धर्मास्तिकाय चतुर्दशरज्जुप्रमाण समग्र लोकव्यापी है और अधोलोक का परिमाण सात रज्जु से कुछ अधिक है। इसलिए अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग का स्पर्श करता है। तिर्यग्लोक का परिमाण 1800 योजन है और धर्मास्तिकाय का परिमाण असंख्येय योजन का है। इसलिए तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग का स्पर्श करता है। ऊर्ध्वलोक देशोन सात रज्जु परिमाण है और धर्मास्तिकाय चौदह रज्जु-परिमाण है। इसलिए ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन अर्धभाग का स्पर्श करता है।[13]

धर्मास्तिकाय अखंड द्रव्य रूप में

धर्मास्तिकाय एक अखंड-द्रव्य है। जीव व पुद्गल की तरह अलग-अलग रूप में नहीं रहता है। अर्थात् जैसे पुद्गल के स्कंध, देश, परमाणु आदि भाग होते हैं उसी तरह धर्मास्तिकाय के अलग-अलग भाग संभव नहीं हैं। सम्पूर्ण अखंडरूप से पूरे धर्मास्तिकाय को ही धर्मास्तिकाय माना जायेगा।

इसे स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र[14] में कहा गया है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को या दो, तीन, दस, संख्यात या असंख्येय प्रदेशों को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जायेगा। एक प्रदेश कम होने पर भी वह धर्मास्तिकाय नहीं कहा जायेगा। इसे चक्र के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। जैसे चक्र का कोई भाग चक्र नहीं कहलाता है, किन्तु सम्पूर्ण चक्र ही चक्र कहलाता है। उसी प्रकार धर्मास्तिकाय में जो असंख्येय प्रदेश हैं, जब वे सब पूरे परिपूर्ण निरवशेष तथा एकग्रहणगृहीत अर्थात् एक शब्द से कहने योग्य हो जाऐ तब उस असंख्येय प्रदेशात्मक सम्पूर्ण द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है।

भगवतीवृत्ति[15] में इसे समझाते हुए कहा गया है निश्चयनय के मन्तव्य से एक प्रदेश कम धर्मास्तिकाय को धर्मास्तिकाय नहीं कह सकते हैं, जब सभी प्रदेश परिपूर्ण हों, तभी वे धर्मास्तिकाय आदि कहे जा सकते हैं। अर्थात् जब वस्तु पूरी हो तभी वह वस्तु कहलाती है, अधूरी वस्तु, वस्तु नहीं कहलाती है। परन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से तो थोड़ी-सी अधूरी या विकृत वस्तु को भी पूरी वस्तु कहा जा सकता है, उसी नाम से पुकारा जाता है।

अधर्मास्तिकाय

जिस प्रकार जैन-दर्शन में जीव व पुद्गल की गति के माध्यम के लिए उदासीन कारण के रूप में धर्म-द्रव्य को स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार

उनकी स्थिति के माध्यम के लिए उदासीन कारण के रूप में जैन-दर्शन अधर्म-द्रव्य को स्वीकार करता है।[16] यदि लोक में सिर्फ गति तत्त्व को ही स्वीकार किया जाये तो जीव व पुद्गल गति ही करते रहेंगे, उनकी स्थिति कैसे संभव होगी। अतः उनकी संतुलित स्थिति के लिए अधर्म-द्रव्य को प्रतिष्ठापित किया है। लोक व्यवस्था के सन्दर्भ में 'अधर्म' शब्द का प्रयोग पाप के पर्यायवाची के रूप में नहीं होकर गतिशील जीव व पुद्गल के ठहरने के माध्यम के रूप में हुआ है। भगवतीसूत्र में अधर्मास्तिकाय का लक्षण स्थिति स्वीकार किया गया है- **ठाणलक्खणे णं अहम्मत्थिकाये** - (13.4.25)। उत्तराध्ययन में भी अधर्म-द्रव्य का लक्षण स्थिति बताया है- **अहम्मो ठाण लक्खणो** - (28.9)।

भगवतीसूत्र[17] में अधर्म-द्रव्य की परिभाषा करते हुए उसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि से रहित, शाश्वत, अवस्थित व लोक प्रमाण बताया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व गुण की अपेक्षा से अधर्म-द्रव्य के पाँच भेद किये गये हैं। द्रव्य की दृष्टि से अधर्म-द्रव्य एक द्रव्य रूप है, क्षेत्र की दृष्टि से अधर्म-द्रव्य लोक प्रमाण माना गया है, काल की दृष्टि से अधर्म-द्रव्य कभी नहीं था, ऐसा नहीं; कभी नहीं है, ऐसा नहीं; और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं; वह नित्य है। भाव की अपेक्षा से अधर्म-द्रव्य वर्ण, गंध, रस व स्पर्श रहित है। गुण की अपेक्षा से स्थिति गुण वाला है।

भगवतीसूत्र में दी गई अधर्म-द्रव्य की उपर्युक्त परिभाषा से अधर्म-द्रव्य का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है। धर्म-द्रव्य की तरह वह लोक प्रमाण, रस, वर्ण, गंध, स्पर्श से रहित होने के कारण अरूपी व तीनों कालों में विद्यमान होने के कारण नित्य रूप है। गुण की दृष्टि से स्थिति गुण वाला है। यहाँ यह जानना अनिवार्य है कि स्थूल ठहरना तो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, परन्तु सूक्ष्म ठहरना पदार्थ के मुड़ने के समय होता है। चलता-चलता ही पदार्थ यदि मुड़ना चाहे तो उसे मोड़ पर जाकर क्षणभर ठहरना पड़ेगा। यद्यपि रुकना दृष्टिगत नहीं हुआ पर होता अवश्य है। इस सूक्ष्म तथा स्थूल रुकने में जो सहायक तत्त्व है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।[18]

पंचास्तिकाय[19] में आचार्य कुंदकुंद ने अधर्म-द्रव्य का यही स्वरूप बताते हुए कहा है कि जैसा धर्म-द्रव्य है वैसा ही अधर्म-द्रव्य जानो। किन्तु, वह ठहरते हुए जीव और पुद्गलों के ठहरने में पृथ्वी की तरह निमित्त कारण है। पुनः इस संबंध में आचार्य कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय[20] में प्रकाश डालते हुए कहा है-

जिसका गमन होता है, स्थिति भी उन्हीं की संभव है अर्थात् जो चलते हैं, वे ही ठहरते भी हैं। किन्तु, वे चलने और ठहरने वाले जीव और पुद्गल अपने परिणामों से ही गति और स्थिति करते हैं। अर्थात् उन्हें कोई जबरदस्ती चलाता या ठहराता नहीं है। गमन करने की शक्ति उन्हीं में ही है और ठहरने की शक्ति उन्हीं में ही है, धर्म व अधर्म तो सहायक मात्र हैं। तत्त्वार्थसूत्र[21] में आचार्य उमास्वाति ने अधर्म-द्रव्य को जीव व पुद्गल की स्थिति में उदासीन कारण के रूप में स्वीकार किया है। द्रव्यसंग्रह[22] में अधर्म-द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्थित होते हुए जीवों और पुद्गलों को जो स्थिर होने में सहकारी कारण है, उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं, जैसे छाया यात्रियों को स्थिर होने में सहकारी है, परन्तु वह गमन करते जीव और पुद्गल को स्थिर नहीं करती।

वस्तुतः अधर्म-द्रव्य जीव व पुद्गल पदार्थों में संतुलन का माध्यम है। जो जीव व पुद्गल चलते-चलते ठहरना चाहते हैं, वह उन्हें उसमें सहायता प्रदान करता है। किन्तु, यहाँ हमें यह नहीं समझना चाहिये कि जो द्रव्य स्थिर हैं, उन्हें अधर्मास्तिकाय ठहराता है। जैसे आकाश अपने स्वरूप की अपेक्षा से ही स्थिर है तो अधर्मास्तिकाय उसकी स्थिति में निमित्त कारण नहीं है।

भगवतीसूत्र में धर्म-द्रव्य की तरह ही अधर्म-द्रव्य का स्वरूप विवेचित हुआ है। अधर्मास्तिकाय को परिमाण की दृष्टि से लोक-प्रमाण, लोक-रूप, लोक-मात्र व लोक-स्पृष्ट माना है। अर्थात् अधर्मास्तिकाय के भी उतने ही प्रदेश स्वीकार किये हैं, जितने लोक के प्रदेश हैं। अधर्मास्तिकाय की अवगाहना को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जहाँ अधर्मास्तिकाय का एक-प्रदेश अवगाढ़ होता है वहाँ अधर्मास्तिकाय का अन्य दूसरा प्रदेश नहीं ठहर सकता है।[23] अर्थात् धर्मास्तिकाय की तरह एक आकाश-प्रदेश पर अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश ही ठहर सकता है। अधर्मास्तिकाय की स्पर्शना के संबंध में वही विवेचन प्राप्त होता है जैसा कि धर्मास्तिकाय के संबंध में मिलता है।[24] अधर्मास्तिकाय को भी एक अखंड द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है।[25]

अधर्म के पर्यायवाची[26]

भगवतीसूत्र में अधर्मास्तिकाय के अनेक अभिवचन कहे गए हैं, यथा- अधर्म, अधर्मास्तिकाय, अथवा प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य, अथवा ईर्यासंबंधी असमिति, यावत् उच्चार-प्रस्त्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिकासम्बन्धी असमिति; अथवा मन-अगुप्ति, वचन-अगुप्ति और काय-

अगुप्ति; ये सब और इसी प्रकार के जो अन्य शब्द हैं, वे सब अधर्मास्तिकाय के अभिवचन हैं।

धर्म एवं अधर्म-द्रव्य की उपयोगिता

भगवतीसूत्र[27] में जब गौतम भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते हैं, धर्मास्तिकाय से जीवों की क्या प्रवृत्ति होती है? इसके प्रत्युत्तर में भगवान् महावीर कहते हैं– धर्मास्तिकाय से जीवों के आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग और काययोग प्रवृत्त होते हैं। ये और इस प्रकार के जितने भी गमनशील भाव हैं, ये सभी धर्मास्तिकाय द्वारा ही प्रवृत्त होते हैं। धर्मास्तिकाय का लक्षण गति रूप है।

भगवतीसूत्र के उक्त कथन से धर्मास्तिकाय की उपयोगिता गति के सहयोगी कारण के रूप में उभर कर आती है। जीव व पुद्गल जो भी गति करते हैं, धर्मास्तिकाय उसमें सहयोगी कारण रहता है। धर्मास्तिकाय के अभाव में हमारा पलकें झपकाना, चलना, उठना, बैठना कुछ भी संभव नहीं है। धर्मास्तिकाय इन सबकी गति में निमित्त कारण है। धर्मास्तिकाय गति का नियंत्रक तत्त्व भी है। छः द्रव्यों में से जीव व पुद्गल ये दो द्रव्य गतिशील हैं और इन दो द्रव्यों की गति में धर्मास्तिकाय सहायक बनता है। अतः ये दोनों (जीव व पुद्गल) द्रव्य वहीं गति कर सकते हैं, जहां धर्म-द्रव्य है। धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव व पुद्गल की गति अव्यवस्थित हो जाती। वे लोक व अलोक दोनों में यात्रा करते रहते। फिर तो लोक व अलोक का विभाजन ही समाप्त हो जाता।

भगवतीसूत्र[28] में अधर्म द्रव्य की उपयोगिता बताते हुए भगवान् महावीर कहते हैं– अधर्म-द्रव्य से जीवों के स्थान (स्थित रहना), निषीदन (बैठना), त्वग्वर्त्तन (करवट लेना, लेटना या सोना) और मन को एकाग्र करना तथा इस प्रकार के जितने भी स्थिर भाव हैं, वे सब प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि अधर्मास्तिकाय का लक्षण स्थिति रूप है। भगवतीसूत्र में वर्णित इस सूत्र से लोक व्यवस्था के संचालन में अधर्म-द्रव्य की उपयोगिता भी पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है।

प्रज्ञापनासूत्र[29] में धर्म व अधर्म के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि जीव व पुद्गल ये दोनों गतिशील हैं, गति और स्थिति का उपादान कारण जीव व पुद्गल स्वयं है और निमित्त कारण धर्म व अधर्म द्रव्य हैं। गति व स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है इसलिए ऐसी शक्तियों की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य हो और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो किन्तु, अलोक में न हो। धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि इनके बिना लोक की व्यवस्था

नहीं चल सकती है। लोक व अलोक की सीमा का निर्धारण करने के लिए कोई स्थिर व व्यापक तत्त्व होना चाहिये। धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय ये दोनों ही तत्त्व व्यापक व स्थिर हैं तथा ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। ये दो द्रव्य जिस आकाश खंड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये अपनी गति, स्थिति के द्वारा सीमा-निर्धारण के उपयुक्त बनते हैं। ये जहाँ तक हैं, वहीं तक जीव और पुद्गल की गति व स्थिति होती है। उससे आगे उन्हें गति एवं स्थिति का सहायक नहीं मिलता इसलिए वे अलोक में नहीं जा सकते। गति के बिना स्थिति का प्रश्न ही क्या? इससे उनकी नियामकता अधिक पुष्ट हो जाती है।[30] इस प्रकार धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण होने के कारण लोक-अलोक की विभाजक शक्ति का कार्य करते हैं।

धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय की उपयोगिता न केवल लोक व अलोक की विभाजक शक्ति के रूप में उभर कर आती है वरन् लोक का जो आकार भगवतीसूत्र में बताया गया है उसके लिए भी वे ही उत्तरदायी हैं। भगवतीसूत्र[31] में लोक का आकार बताते हुए कहा गया है- लोक सुप्रतिष्ठिक (सकोरे) के आकार का है। यथा वह नीचे विस्तीर्ण है। मध्य में संक्षिप्त है, ऊपर ऊर्ध्व मृदंग के आकार का है। लोक का यह आकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय के कारण ही है। क्योंकि धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय कहीं पर संकुचित हैं तो कहीं पर विस्तृत। जहाँ धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय संकुचित हैं वहाँ लोक का आकार कृश तथा जहाँ धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय विस्तृत हैं, वहाँ लोक का आकार विस्तृत है। आकाश एक अखंड द्रव्य होने पर भी धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय के कारण लोक और अलोक इस रूप में दो भागों में विभक्त हो जाता है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के कारण ही लोकाकाश में ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ बनती हैं। ऊर्ध्व लोक में धर्म, अधर्म द्रव्य विस्तृत होते चले गये हैं, इसलिए ऊर्ध्वलोक का आकार ऊर्ध्वमुख मृदंग की तरह है। मध्यलोक में धर्म, अधर्म द्रव्य संकुचित हैं अतः वहाँ लोक का आकार बिना किनारी वाली झालर के समान बनता है। फिर पुनः अधोलोक में धर्माधर्म द्रव्य विस्तृतता को प्राप्त हुए हैं अतः अधोलोक का आकार औंधे किए हुए सकोरे के समान बनता है।

भगवतीसूत्र व अन्य जैनागमों में प्राप्त इन उल्लेखों से गति-तत्त्व धर्म व स्थिति-तत्त्व अधर्म का स्वरूप व उसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

किन्तु, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर[32] धर्म व अधर्म द्रव्य को स्वतंत्र रूप से न मानकर उन्हें द्रव्य की पर्याय मात्र मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन के अतिरिक्त भी कई ऐसे दार्शनिक हैं, जो यह प्रश्न उठाते हैं कि जब आकाश सर्वगत है तो उसे ही गति व स्थिति में सहायक मान लेना चाहिये। धर्म व अधर्म द्रव्य को मानने का क्या तुक है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आकाश यद्यपि सर्वगत है और उसका गुण पदार्थों को अवगाहना देना है, किन्तु यदि गति व स्थिति में भी आकाश को ही सहायक मान लिया जाय तो जीव व पुद्गल की गति अलोकाकाश में भी होने लगेगी। इस तरह तो हमारी सम्पूर्ण लोक व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी। सारे पदार्थ अनंत आकाश में भटकने लगेंगे और हो सकता है किसी दिन यह वर्तमान विश्व ही खाली हो जाये। गति व स्थिति सहायक धर्म-अधर्म द्रव्य की पृथक् महत्ता को बताते हुए तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा गया है कि जिस प्रकार मछली की गति जल में ही संभव है, जल रहित पृथ्वी पर नहीं, उसी तरह आकाश की उपस्थिति होने पर भी धर्म-अधर्म हो तो जीव और पुद्गल की गति और स्थिति हो सकती है।[33]

आकाशास्तिकाय

आकाश शब्द का अर्थ हम प्रायः 'स्काई' से ग्रहण करते हैं, किन्तु जैन परंपरा में षड्द्रव्य विवेचन में जिस 'आकाश' द्रव्य की चर्चा हैं, उसका अर्थ 'स्काई' से न होकर 'स्पेस' से है। 'स्काई' वह है, जो पुद्गल रूप में विवेचित है और रंग-बिरंगा दिखाई देता है। खाली जगह को आकाश कहते हैं। भगवतीसूत्र में इसे एक सर्वव्यापक अखण्ड व अमूर्त द्रव्य रूप में स्वीकार किया गया है, जो अपने अन्दर सर्वद्रव्यों को अवगाहित करने की शक्ति रखता है- **गुणओ अवगाहणागुणे** - (व्या. सू. 2.10.4)। भगवतीवृत्ति[34] में आकाश शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है- '**आ** मर्यादापूर्वक अथवा अभिविधिपूर्वक सभी अर्थ जहाँ **काश** को यानी अपने-अपने स्वभाव को प्राप्त हों, वह 'आकाश' है। यद्यपि यह अखंड है पर इसका अनुमान कराने के लिए इसमें प्रदेशों के रूप में खण्डों की कल्पना कर ली जाती है। यह स्वयं तो अनन्त है, परन्तु इसके मध्यवर्ती असंख्य भाग में अन्य द्रव्य अवस्थित हैं। इसके इस भाग का नाम लोक है और उससे बाहर शेष सर्व आकाश का नाम अलोक है। अवगाहना शक्ति की विचित्रता के कारण छोटे-से छोटे लोक के भाग में अथवा इसके एक प्रदेश पर अनन्तानन्त द्रव्य स्थित हैं।'[35]

आकाश का स्वरूप

विभिन्न जैनागमों में आकाश के स्वरूप का निरूपण किया गया है। उत्तराध्ययन में आकाश का स्वरूप बताते हुए कहा गया है– **भायणं सव्वदव्वायं नहं ओगाहलक्खणं** - (28.9) अर्थात् आकाश सब द्रव्यों का भाजन है तथा इसका लक्षण अवगाहन है। पंचास्तिकाय[36] में आकाश की परिभाषा इस प्रकार दी गई है– जो सब जीवों को, पुद्गलों को, और शेष बचे धर्म, अधर्म और काल द्रव्य को पूरा स्थान देता है, उसे लोक में आकाश द्रव्य कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र[37] में आकाश का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि आकाश द्रव्य नित्य, अवस्थित व अरूपी है। यह एक अखंड द्रव्य है व निष्क्रिय है। अवगाहना देना इसका उपकार है। सर्वार्थसिद्धि[38] में कहा है– अवगाहन करने वाले जीव और पुद्गलों को अवकाश देना आकाश का उपकार जानना चाहिये। जैन सिद्धान्त दीपिका में आचार्य तुलसी ने आकाश का लक्षण अवगाहना स्वीकार किया है– **अवगाहलक्षण आकाशः**। - (1.6)।

प्रायः जैनागमों में जो आकाश की परिभाषा दी गई है वह उसके अवगाहना लक्षण को स्पष्ट करती है। भगवतीसूत्र[39] में विस्तृत रूप से आकाश की परिभाषा दी गई है, जिससे उसका पूर्ण स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आकाशास्तिकाय वर्णरहित, गंधरहित, रसरहित और स्पर्शरहित है अर्थात् अरूपी है। शाश्वत है। अवस्थित है। लोक-अलोक प्रमाण है अर्थात् अनन्त है। अन्य पाँच द्रव्य लोक-प्रमाण होने से असंख्यात हैं, आकाश लोक-अलोक प्रमाण होने से अनन्त है। गुण की अपेक्षा अवगाहना गुण वाला है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से आकाश का स्वरूप बताते हुए कहा है कि द्रव्य दृष्टि से आकाश एक द्रव्य है, क्षेत्र की दृष्टि से लोक-अलोक प्रमाण है, काल की दृष्टि से तीनों कालों में वर्तमान होने के कारण नित्य है। भाव की दृष्टि से वर्णरहित, गंधरहित, रसरहित व स्पर्शरहित है तथा गुण की दृष्टि से अवगाहना गुण वाला है। इस प्रकार भगवतीसूत्र में अन्य द्रव्यों की तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव से आकाश का स्वरूप बताया गया है।

आकाश के पर्यायवाची

भगवतीसूत्र[40] में आकाश के निम्न पर्यायवाची शब्दों का निरूपण हुआ है– यथा– आकाश, आकाशास्तिकाय, अथवा गगन, नभ, अथवा सम, विषम, खह (ख), विहायस, वीचि, विवर, अम्बर, अम्बरस, छिद्र, शुषिर, मार्ग, विमुख, अर्द,

व्यर्द, आधार, व्योम, भाजन, अन्तरिक्ष, श्याम, अवकाशान्तर, अगम, स्फटिक और अनन्त; ये सब तथा इनके समान और भी अनेक अभिवचन आकाशास्तिकाय के हैं। भगवतीवृत्ति[41] में इनके निर्वचन को भी समझाया गया है।

आकाश के भेद

आकाश दो प्रकार का है लोकाकाश व अलोकाकाश। **दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा-लोयाकासे य अलोयाकासे य** - (2.10.10)। लोकाकाश व अलोकाकाश में अन्तर स्पष्ट करते भगवतीसूत्र में कहा गया है कि लोकाकाश में जीव भी हैं, जीव के देश भी हैं, जीव के प्रदेश भी हैं, अजीव भी हैं, अजीव के देश भी हैं, अजीव के प्रदेश भी हैं। जो जीव हैं, वे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं। जो जीव के देश हैं, वे नियमत; एकेन्द्रिय से लेकर अनिन्द्रिय तक के देश हैं। जो जीव के प्रदेश हैं, वे एकेन्द्रिय से लेकर अनिन्द्रिय तक के प्रदेश हैं। जो अजीव हैं, वे दो प्रकार के हैं- रूपी व अरूपी। रूपी चार प्रकार के हैं। स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश व परमाणु-पुद्गल। अरूपी के पाँच भेद हैं- धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नोअधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश व अद्धासमय आदि हैं। अलोकाकाश में न जीव हैं, न अजीव, न जीव के देश, न ही अजीव के प्रदेश। वह एक अजीव द्रव्य देश है। अगुरुलघु है तथा अनन्त कम सर्वाकाश रूप है।[42] बृहद्द्रव्यसंग्रह[43] में भी लोकाकाश व अलोकाकाश का भेद करते हुए कहा गया है कि धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल को जो अवकाश प्रदान करे वह लोकाकाश है तथा उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।

आकाश की उपयोगिता

भगवतीसूत्र में आकाश द्रव्य की उपयोगिता अवगाहना गुण के कारण मानी गई है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है आकाशद्रव्य जीवों व अजीवों का भाजनभूत होता है अर्थात् आकाश जीव-द्रव्यों व अजीव-द्रव्यों को आश्रय देता है। एक परमाणु से परिपूर्ण या दो परमाणु से परिपूर्ण एक आकाश प्रदेश में सौ परमाणु भी समा सकते हैं। सौ करोड़ परमाणु से परिपूर्ण एक आकाश प्रदेश में एक हजार करोड़ परमाणु भी समा सकते हैं। आकाशास्तिकाय का लक्षण अवगाहना रूप है।[44]

उत्तराध्ययन[45] में भी आकाश को सर्वद्रव्यों का भाजन कहा है। परन्तु यहां प्रश्न उठता है कि आकाश धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को तो अवगाहना देता है,

परन्तु क्या आकाश का अपना कोई आधार नहीं है, जिसका आकाश आधेय बन सके? इसका उत्तर देते हुए राजवार्तिक[46] में कहा गया है 'आकाश अपने आधार पर ठहरा हुआ है। उससे अधिक प्रमाण वाले दूसरे द्रव्य का अभाव होने के कारण भी उसका आधारभूत कोई दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता। यदि किसी दूसरे आधार की कल्पना की जाये तो उससे अनावस्था दोष का प्रसंग आयेगा, परन्तु आकाश स्वयं अपना आधारभूत होने से वह दोष नहीं आ सकता है। एवंभूतनय की दृष्टि से सारे द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं। इनमें आधार-आधेय भाव नहीं है। व्यवहार नय से आधार-आधेय की कल्पना होती है। व्यवहार से ही वायु का आकाश, जल का वायु, पृथ्वी का जल, सभी जीवों का पृथ्वी, जीव का अजीव, अजीव का जीव, कर्म का जीव और जीव का कर्म, धर्म, अधर्म तथा काल का आकाश आधार माना जाता है। परमार्थ से तो वायु आदि समस्त स्वप्रतिष्ठित हैं।'

दिक्

आकाश का विवेचन करते समय दिशाओं की चर्चा करना भी आवश्यक हो जाता है। जैनदर्शन आकाश की तरह दिशाओं को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानता है। जैनागमों में दिशा की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है वह दिक् या दिशा कहलाती है।[47] आचारांग[48] का प्रारंभ दिशा विवेचन से ही हुआ है। आचारांग में छः दिशाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं- पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः दिशा। स्थानांग[49] में छः दिशाओं तथा एक अन्य अपेक्षा से दस दिशाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

भगवतीसूत्र[50] में दिशाओं का स्वरूप बताते हुए उन्हें 'जीव-अजीव रूप' बताया गया है। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए भगवतीवृत्ति[51] में कहा है कि पूर्वादि छः दिशाएँ जीवरूप इसलिए हैं कि उनमें एकेन्द्रियादि जीव रहे हुए हैं और अजीव रूप इसलिए हैं कि उनमें धर्मास्तिकायादि अजीव पदार्थ रहे हैं। भगवतीसूत्र में छः दिशाओं तथा प्रकारान्तर से दस दिशाओं के नामों का उल्लेख है। छः दिशाओं के नाम इस प्रकार बताये हैं- 1. पूर्व, 2. दक्षिण, 3. पश्चिम, 4. उत्तर, 5. ऊर्ध्वदिशा, 6. अधोदिशा।

दस दिशाओं के नाम इस प्रकार हैं- 1. पूर्व, 2. पूर्व-दक्षिण, 3. दक्षिण 4. दक्षिण-पश्चिम, 5. पश्चिम, 6. पश्चिमोत्तर, 7. उत्तर, 8. उत्तरपूर्व 9. ऊर्ध्वदिशा, 10. अधोदिशा।

इस प्रकार छः दिशाओं में चार विदिशाओं के 4 कोणों को जोड़कर दस दिशाएँ बताई गई हैं। इन दस दिशाओं के नामान्तर को भी बताया गया है।[52]

1. ऐन्दी (पूर्व), 2. आग्नेयी(अग्निकोण), 3. याम्या (दक्षिण), 4. नैर्ऋती (नैर्ऋत्यकोण), 5. वारुणी (पश्चिम) 6. वायव्या (वायव्वकोण), 7. सौम्या (उत्तर) 8. ऐशानी (ईशानीकोण), 9. विमला (ऊर्ध्वदिशा), 10. तमा (अधोदिशा)

इन दिशाओं के नामान्तर का कारण स्पष्ट करते हुए भगवतीवृत्ति[53] में कहा गया है कि पूर्व दिशा ऐन्द्री इसलिए कहलाती है क्योंकि उसका स्वामी इन्द्र है। इसी प्रकार अग्नि, यम, नैर्ऋती, वरुण, वायु, सोम और ईशान देवता स्वामी होने से इन दिशाओं को क्रमशः आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, सौम्या और ऐशानी कहते हैं। प्रकाश युक्त होने से ऊर्ध्वदिशा को विमला व अन्धकार युक्त होने से अधोदिशा को तमा कहते हैं।

ऐन्द्री आदि दस दिशा-विदिश का स्वरूप[54]

ऐन्द्री- ऐन्द्री दिशा के प्रारंभ में रूचक प्रदेश हैं। वह रूचक प्रदेशों से निकली है। उसके प्रारंभ में दो प्रदेश होते हैं। आगे दो-दो प्रदेशों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। वह लोक अपेक्षा से असंख्यात प्रदेशवाली है और अलोक की अपेक्षा से अनंत प्रदेशवाली है। लोक-आश्रयी वह सादि-सान्त है। अलोक आश्रयी वह सादि-अनंत है। लोक-आश्रयी वह मुरज (मृदंग) के आकार की है, और अलोक-आश्रयी वह ऊर्ध्वशकटाकार की है।

आग्नेयी- आग्नेयी दिशा के आदि में रूचक प्रदेश हैं। उसका उद्गम भी रूचक-प्रदेश से है। उसके आदि में एक प्रदेश है। वह अन्त तक एक-एक प्रदेश के विस्तार वाली है। वह अनुत्तर है। वह लोक की अपेक्षा असंख्यात प्रदेश वाली है और अलोक की अपेक्षा अनन्त प्रदेश वाली है। वह लोक-आश्रयी सादि-सान्त है, अलोक-आश्रयी सादि अनन्त है। उसका आकार टूटी हुई मुक्तावली के समान है। याम्या, वारुणी व सौम्या दिशाओं का स्वरूप ऐन्द्री के समान है। शेष नैऋती, वायव्या व ऐशानी विदिशाओं का स्वरूप आग्नेयी की तरह है।

विमला- विमला दिशा के आदि में रूचक-प्रदेश हैं। वह रूचक प्रदेशों से निकली है। उसके आदि में चार प्रदेश हैं। वह अन्त तक दो प्रदेशों के विस्तार वाली है। वह अनुत्तर है। लोक-आश्रयी व असंख्यात प्रदेश वाली है, जबकि अलोक आश्रयी अनन्त प्रदेश वाली है, आकार की दृष्टि से रूचकाकार है। प्रदेश विस्तार की दृष्टि से तमा दिशा का स्वरूप विमला दिशा की तरह ही है।

काल द्रव्य

लोक की संरचना में जैन-दर्शन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल इन छः द्रव्यों को स्वीकार करता है। काल द्रव्य का अस्तित्व है इस बात से तो प्रायः सभी जैन दार्शनिक सहमत हैं, किन्तु काल की स्वतंत्र सत्ता व उसके स्वरूप को लेकर आचार्यों में मतभेद है। काल द्रव्य की स्वतंत्रता को लेकर जैन परंपरा में दो दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं। एक दृष्टि काल को स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करती है जबकि दूसरी विचारधारा उसे जीव-अजीव की पर्याय के रूप में स्वीकार करती है। इस संबंध में मधुकर मुनि[55] ने व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र की प्रस्तावना में विवचेन किया है।

आगमों में काल की मान्यता

प्राचीन आगमग्रंथ उत्तराध्ययनसूत्र में लोक का स्वरूप बताते हुए उसे छः द्रव्यों का समूह कहा है-

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसेहिं।। - (28.7)

अर्थात् जिनवरों द्वारा यह लोक धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल व जीव का समूह रूप कहा गया है। उत्तराध्ययन के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जैन आगमों में काल के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

प्रज्ञापनासूत्र[56] में प्रज्ञापना के दो प्रमुख भेद जीव-प्रज्ञापना व अजीव-प्रज्ञापना किये गये हैं। पुनः अजीव-प्रज्ञापना के रूपी व अरूपी भेद किये हैं। अरूपी के दस भेदों में एक भेद अद्धासमय किया गया है, जो काल का ही पर्यायवाची है। राजवार्तिक में अद्धासमय को कालवाची कहा है- **अद्धाशब्दो निपातः कालवाची** - (5.1.16/433.22) अर्थात् अद्धाशब्द एक निपात है, वह कालवाची है। स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि - **समयाति वा आवलियाति वा जीवति या अजीवति या पवुच्चति** - (2.4.387-389) अर्थात् समय व आवलिका आदि जीव रूप भी हैं व अजीव रूप भी हैं। इसी प्रकार आन, प्राण, स्तोक, क्षण, लव, मुहूर्त्त सभी को जीवरूप व अजीव रूप दोनों कहा है। इसका विवेचन करते हुए मधुकर मुनि[57] ने लिखा है कि 'यद्यपि काल को एक स्वतंत्र द्रव्य माना गया है, तो भी वह चेतन जीवों के पर्याय परिवर्तन में सहकारी है, अतः उसे यहाँ पर जीव कहा है और अचेतन पुद्गलादि द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है, अतः उसे अजीव कहा गया है। स्थानांग के इस सूत्र के कारण कुछ विद्वानों ने काल

द्रव्य को जीव-अजीव की पर्याय माना है। यह स्पष्ट रूप नहीं है। हमारे मत से यहाँ काल को जीव-अजीव की पर्याय कहना सूत्रकार का मन्तव्य नहीं प्रतीत होता है अपितु उनका मन्तव्य जीव व अजीव पर काल के प्रभाव को विवेचित करना है। जब काल जीव-द्रव्य के परिवर्तन में सहायक होता है उस दृष्टि से वह जीव रूप है तथा जब काल द्रव्य अजीव द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक होता है तब उसे अजीव रूप स्वीकृत किया है।

भगवतीसूत्र में काल की मान्यता व स्वरूप

भगवतीसूत्र में काल के अस्तित्व को लेकर दोनों मान्यताएँ प्राप्त होती हैं। संभवतः उस समय काल के अस्तित्व को लेकर मतभेद था और उसी का प्रभाव है कि ग्रंथ में जब लोक का स्वरूप वर्णित किया गया है तब काल को सम्मिलित न करते हुए उसे पंचास्तिकाय रूप कहा गया है- **गोयमा! पंचास्थिकाया एस णं एवतिए लोए त्ति पवुच्चइ, तं जहा- धम्मऽत्थिकाए, अधम्मऽत्थिकाए जाव पोग्गलऽत्थिकाए** - (13.4.23) अर्थात् यह लोक पांच अस्तिकायों का समूह है; वे हैं धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय व जीवास्तिकाय। ग्रंथ में जहाँ सर्वद्रव्यों का प्रतिपादन किया गया है वहां द्रव्यों की संख्या छः बताई गई है- **गोयमा! छव्विहा सव्वदव्वा पन्नता तं जहा- धम्मत्थिकाये, अधम्मत्थिकाए जाव अद्धासमये** - (25.4.8) अर्थात् सर्वद्रव्य छः प्रकार के हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय व अद्धासमय।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि लोक की संरचना में जहाँ उसे पंचास्तिकाय रूप कहा है वहाँ काल-द्रव्य को सम्मिलित नहीं किया गया जबकि सर्वद्रव्यों की गणना करते समय काल-द्रव्य को स्वीकार किया है? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है कि लोक की संरचना में जिन पाँचद्रव्यों का उल्लेख किया है, वे सभी द्रव्य अस्तिकाय हैं अर्थात् प्रदेशप्रचय हैं जबकि काल-द्रव्य अस्तिकाय नहीं है अतः पंचास्तिकायरूप लोक मान्यता में काल द्रव्य का उल्लेख नहीं किया गया है। जहाँ सर्वद्रव्य की बात कही वहाँ छः द्रव्यों में अद्धासमय को सम्मिलित कर द्रव्य रूप में मान्यता दी है। वस्तुतः द्रव्य का लक्षण सत् रूप कहा गया है, अर्थात् द्रव्य उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यता युक्त है, काल भी द्रव्य है क्योंकि वह भी इन लक्षणों से युक्त है। काल में ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय है ही क्योंकि वह स्वभाव में सदा व्यवस्थित रहता है। व्यय और उत्पाद अगुरुलघुगुणों की

हानि-वृद्धि की अपेक्षा स्वप्रत्यय है तथा पर द्रव्यों में वर्तना हेतु होने से पर प्रत्यय भी है। स्पष्ट है कि द्रव्यों के गुणों से युक्त होने के कारण भगवतीसूत्र में उसे छः द्रव्यों में सम्मिलित किया गया है तथा अस्तिकायरूप न होने के कारण पंचास्तिकायरूप लोक में उसका उल्लेख नहीं है। भगवतीसूत्र[58] में छः द्रव्यों के अल्पत्व व बहुत्व का निरूपण करते समय भी अद्धासमय का उल्लेख किया गया है। धर्मास्तिकायादि की स्पर्शनादि में भी काल-द्रव्य का उल्लेख किया गया है[59] तथा ग्रंथ में अरूपी अजीव द्रव्यों के पाँच, सात व दस प्रभेदों में अद्धासमय को सम्मिलित किया गया है।[60]

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने प्रथमतः अजीव द्रव्यों के साथ काल द्रव्य को नहीं स्वीकार किया है- **अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः** - (5.1) किन्तु, बाद में **कालाश्चेत्ये**-(5.38) सूत्र द्वारा काल द्रव्य को मान्यता देते हुए कहा है कि कोई आचार्य काल को भी द्रव्य रूप में स्वीकार करते हैं। यह सूत्र श्वेताम्बर परम्परा में मान्य है। दिगम्बर परंपरा 'कालाश्य' सूत्र को स्वीकार करती है अर्थात् काल भी द्रव्य है।

दिगम्बर परंपरा

दिगम्बर परंपरा में कुंदकुंद, अकलंक, पूज्यपाद आदि आचार्य काल द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते हैं। पंचास्तिकाय[61] में आचार्य कुंदकुंद ने कालद्रव्य के अस्तित्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि काल परिणाम से उत्पन्न होता है और परिणाम निश्चय कालाणु रूप द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से व्यवहार काल क्षण-प्रतिक्षण विनाशी व निश्चयकाल अविनाशी है। प्रवचनसार[62] में आचार्य कुंदकुंद द्वारा काल द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अकलंक[63] ने **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** इन लक्षणों से युक्त होने के कारण काल द्रव्य को मानते हुए कहा है कि काल में अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण और वर्तना, हेतुत्व आदि असाधारण गुण पाये जाते हैं। व्यय व उत्पाद पर्यायें भी काल में बराबर होती हैं, अतः वह द्रव्य है पर वह कायरूप नहीं है।

आधुनिक विद्वानों के मत

ऊपर काल के संबंध में जैनागमों व उसके व्याख्यासाहित्य में प्रतिपादित भिन्न-भिन्न मतों का विवेचन किया गया है। काल की स्वतंत्र सत्ता को लेकर मतभेद ही रहा है अतः आधुनिक विद्वानों ने भी इस पर अपने विचार व्यक्त किये

हैं। आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में 'कालाश्च' सूत्र द्वारा काल को द्रव्यरूप में स्वीकार किया है तथा लोक को छः द्रव्यों का समूह कहा है- षड्द्रव्यात्मको लोकः - (1.8)। कालद्रव्य के अस्तित्व की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के संबंध में पं. सुखलाल[64] जी लिखते हैं कि प्रथम मत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य हैं, वे सभी पर्याय-विशेष के संकेत हैं। पर्याय, जीव-अजीव की क्रिया-विशेष है, जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के बिना होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्याय रूप में स्वतः ही परिणत हुआ करते हैं अतः जीव-अजीव के पर्याय-पुँज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने-आप में कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। द्वितीय मत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं और स्वयं ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं, वैसे ही जीव और अजीव में पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्तकरण रूप काल-द्रव्य को मानना चाहिए।

मधुकर मुनि[65] ने व्याख्याप्रज्ञप्ति की प्रस्तावना में लिखा है कि उक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी नहीं, किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व ये काल के उपकारक हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। उसका व्यवहार पदार्थों की स्थिति आदि के लिए होता है।

ऊपर काल के संबंध में आगमों से लेकर आधुनिक विद्वानों व आचार्यों के मतों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उक्त विवेचन से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि काल की स्वतंत्र सत्ता को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा है। दिगम्बर परंपरा काल की स्वतंत्र द्रव्य सत्ता स्वीकार करती है जबकि श्वेताम्बर परंपरा में दो मत मिलते हैं एक मत काल को स्वतंत्र स्वीकार करता है तथा दूसरा मत उसे जीवाजीवात्मक रूप में स्वीकार करता है। वस्तुतः स्थानांग में जहां काल को जीव व अजीव रूप कहा है वहाँ तात्पर्य सिर्फ यही है कि जीव व अजीव दोनों ही काल से प्रभावित होते हैं लेकिन यहाँ काल की स्वतंत्र सत्ता का निषेध नहीं किया गया है। अन्य आगम उत्तराध्ययन जो कि सर्वाधिक प्राचीन आगम है काल की स्वतंत्र सत्ता को मानता है। प्रज्ञापनासूत्र व भगवतीसूत्र भी अद्धासमय

को द्रव्य में सम्मिलित कर कालद्रव्य को मान्यता दे देते हैं अत: यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि काल-द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र रूप से है, किन्तु उसे भिन्न-भिन्न ढंग से विवेचित करने का प्रयत्न किया है।

आधुनिक विज्ञान भी यह आवश्यक मानता है कि इस जगत में होने वाली घटनाओं को जानने के लिए उनका संबंध आकाश व समय से होना चाहिये। समय को छोड़कर हम किसी भी घटना को पूर्णरूप से नहीं जान सकते हैं। इस शताब्दी के आरंभ में प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन तथा उससे पूर्व न्यूटन ने आकाश व काल के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया है। 'प्रिंसिपिया' में काल की विवेचना करते हुए न्यूटन ने लिखा है कि 'निरपेक्ष, वास्तविक और गणितिक काल अपने आप और स्वभावत: किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा बिना सदा समान रूप से बहता है।' स्पष्ट है कि न्यूटन ने काल को स्वतंत्र वस्तु सापेक्ष वास्तविक तत्त्व माना है।

आइंस्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार आकाश की तीन विमितियाँ और काल की एक विमिति मिलकर एक चतुर्वैमितिक अखण्डता का निर्माण करती है और हमारे वास्तविक जगत में होने वाली सभी घटनाएँ इस चतुर्वैमितिक सतत्ता की विविध अवस्थाओं के रूप में सामने आती हैं।

वर्तमान समय में प्रसिद्ध लेखक स्टेफन हॉकिंग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ब्रिफ हिस्ट्री ऑफ टाइम'[66] में काल का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए काल के संबंध में कई प्रश्न उठाये हैं। यथा- हम अनागत काल को क्यों नहीं जानते? तथा जो भव बीत गये उसे हम क्यों नहीं जानते? इन प्रश्नों का उत्तर कुछ हद तक जैन दर्शन के संदर्भ में दिया जा सकता है। यथा जैन परंपरा में जातिस्मरणज्ञान पूर्वगत काल को जानना ही है। अर्थात् काल पीछे भी गति करता है। यह तभी संभव है जब काल स्वतंत्र-द्रव्य हो। इसी प्रकार भगवान् महावीर द्वारा ग्रंथ में कई जगह (अतिमुक्त कुमार, गोशालक आदि के प्रसंग में) आने वाले भवों का कथन किया गया है। यह अनागत काल को जानना ही तो है। इस संबंध में विशेष शोध की आवश्यकता है, जिससे जैन सम्मत कालद्रव्य को आधुनिक विज्ञान के समक्ष खड़ा किया जा सके।

काल का स्वरूप व लक्षण

जो वस्तु मात्र के परिवर्तन में सहायक होता है, वह काल द्रव्य है, यद्यपि परिणमन की शक्ति सभी पदार्थों में वर्तमान होती है, किन्तु बाह्य निमित्त के अभाव

में वह शक्ति अभिव्यक्त नहीं होती है। उत्तराध्ययन में काल का लक्षण वर्तना माना है - **वत्तणा लक्खणो कालो** - (28.10)। आचार्य उमास्वाति[67] ने काल के लक्षण वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व व अपरत्व माने हैं। द्रव्यसंग्रह[68] में आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने काल को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यद्यपि काल कायरूप नहीं है तथापि रत्नराशी की तरह आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। श्वेताम्बर परंपरा में काल मनुष्य-क्षेत्रमान में ज्योतिष चक्र के गति क्षेत्र में ही वर्तमान है। वह मनुष्य क्षेत्र प्रमाण होकर के भी सम्पूर्ण लोक के परिवर्तनों का निमित्त बनता है। वह अपना कार्य ज्योतिषचक्र की गति की सहायता से करता है।

भगवतीसूत्र में अद्धाकाल का स्वरूप बताते हुए अतीतकाल, अनागतकाल व समस्तकाल को वर्ण, रस, गंध व स्पर्श रहित बताया है। एक समय की व्याख्या काल परमाणु के रूप में करते हुए कहा गया है कि काल परमाणु चार-प्रकार का है- अवर्ण, अगंध, अरस व अस्पर्श।[70] एक समय को काल परमाणु कहते हैं अत: एक समय में उसके लिए वर्णादि की विवक्षा नहीं होती है। काल के सबसे छोटे रूप को 'समय' कहा है अर्थात् जिसका दो भागों में छेदन-भेदन न हो सके वह समय है।[71]

लक्षण

वर्तना- प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक पर्याय में प्रति समय जो स्वसत्ता की अनुभूति करता है, उसे वर्तना कहते हैं।

परिणाम- द्रव्य में अपनी स्वद्रव्यत्व जाति को नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है, उसे परिणाम कहते हैं अपनी मौलिक सत्ता को न छोड़ते हुए पूर्वपर्याय का विनाश व उत्तरपर्याय का उत्पन्न होना ही परिणमन है।

क्रिया- बाह्य व आभ्यंतर निमित्तों से द्रव्य में होने वाला परिस्पंदात्मक परिणमन क्रिया है। क्रिया दो प्रकार की होती है- प्रायोगिक और स्वाभाविक। बैलगाड़ी का चलना प्रायोगिक क्रिया है तथा बादल का गरजना, वर्षा होना स्वाभाविक क्रिया है।

परत्व-अपरत्व- परत्व व अपरत्व क्षेत्रकृत भी हैं और गुणकृत भी हैं। क्षेत्र की दृष्टि से परत्व का तात्पर्य दूरवर्ती एवं अपर का समीपवर्ती है। काल की दृष्टि से सौ साल का वृद्ध 'पर' तथा सोलह साल का युवक 'अपर' है।

काल के प्रकार

भगवतीसूत्र[72] में काल के चार प्रकार बताये गये हैं;

1. प्रमाणकाल, 2. यथायुर्निर्वृत्तिकाल, 3. मरणकाल, 4. अद्धाकाल

प्रमाणकाल– जिससे रात्रि, दिवस, वर्ष, शतवर्ष आदि का प्रमाण जाना जाये, उसे प्रमाण काल कहते हैं। प्रमाणकाल दो प्रकार का है, दिवसप्रमाणकाल व रात्रिप्रमाणकाल।

यथायुर्निर्वृत्तिकाल– चारों गतियों में भ्रमण करने वाले नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य या देव में से जो जैसी आयुष्य बांधता है उस आयुष्य का पालन करना या भोगना यथायुर्निर्वृत्तिकाल कहलाता है।

मरणकाल– जीव का शरीर से या शरीर का जीव से पृथक होना मरणकाल कहलाता है। मरणशब्द काल का पर्यायवाची है, अतः मरण ही काल है।

अद्धाकाल– समय, आवलिका आदि काल अद्धाकाल कहलाता है। भगवतीसूत्र में अद्धाकाल अनेक प्रकार का बताया गया है। वह समयरूप प्रयोजन के लिए है, आवलिका रूप प्रयोजन से लेकर उत्सर्पिणी रूप प्रयोजन के लिए है।

गणनीयकाल[73]– जिस काल की संख्या में गणना हो वह गणनीय काल है। दो भागों में जिसका छेदन-भेदन न हो सके वह समय है। असंख्य समयों के समुदाय की एक आवलिका, संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास, संख्येय उच्छ्वास का एक निःश्वास, स्वस्थ व्यक्ति का एक उच्छ्वास व एक निःश्वास मिलकर एक प्राण, सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव, 77 लवों का एक मुहूर्त्त, तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयन का एक संवत्सर, पंच संवत्सर का एक युग, बीस युग का एक वर्षशत, दसवर्षशत का एक वर्ष सहस्त्र, सौ वर्ष सहस्त्रों का एक वर्षशत सहस्त्र, चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांगों का एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्व का एक त्रुटितांग, चौरासी लाख त्रुटितांग का एक त्रुटित होता है। इस प्रकार पहले की राशि को 84 से गुणा करने से उत्तरोत्तर राशियाँ बनती हैं। यथा– अट्टांग, अट्ट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। यहाँ तक का काल गणित का विषय है। इसके बाद का काल औपमिक विषय है।

औपमिककाल[74]– जिसकी गणना न की जा सके वह काल औपमिक काल कहा जाता है। औपमिककाल दो प्रकार का बताया गया है– 1. पल्योपम 2. सागरोपम। नैरयिक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्यों तथा देवों का आयुष्य पल्योपम व सागरोपम द्वारा मापा जाता है। इनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन ग्रंथ[75] में किया गया है।

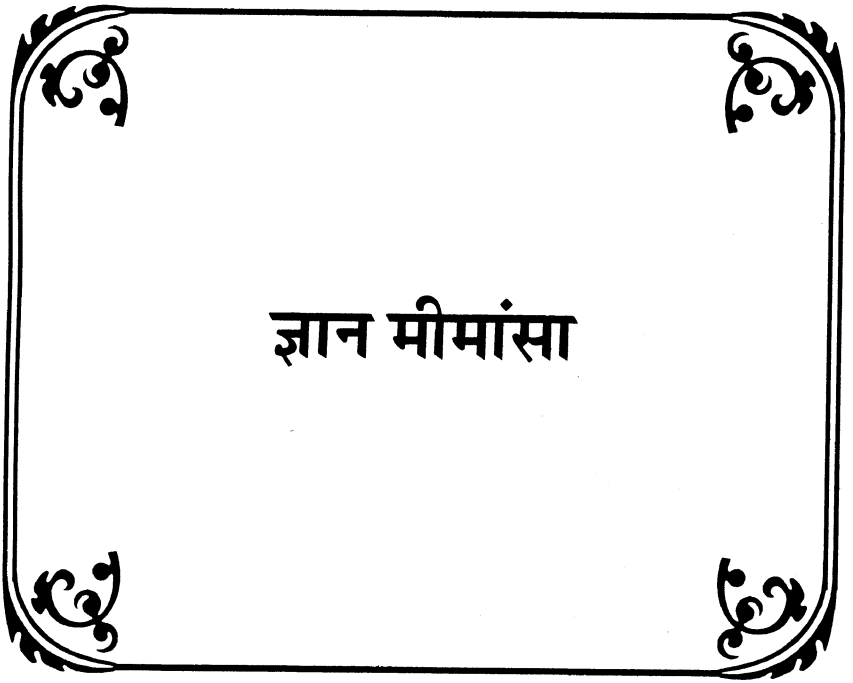
संदर्भ

1. व्या. सू. 13.4.66
2. 'गतिलक्खणे णं धम्मत्थिकाए' वही, 13.4.24
3. व्या. सू. 2.10.2
4. पंचास्तिकाय, गा. 83
5. द्रव्यसंग्रह, गा. 17
6. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि, जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 132
7. The Nature of the Physical world, P, 31
8. वही, 20.2.4
9. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक 776
10. 'लोए लोयमत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठइ' - वही, 2.10.13
11. वही, 13.4.52
12. वही, 2.10.14-21
13. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भाग-1), विवेचन, पृ. 251
14. 'एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया' - व्या. सू. 2.10.7-8
15. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक 149
16. (क) व्या. सू. 2.10.3 (ख) द्रव्यसंग्रह, 18 (ग) तत्त्वार्थसूत्र, 5.17
17. व्या. सू. 2.10.3
18. वर्णी, जिनेन्द्र-पदार्थ विज्ञान, पृ. 190
19. पंचास्तिकाय, गा. 86
20. पंचास्तिकाय, गा. 89
21. तत्त्वार्थसूत्र, 5.17
22. द्रव्यसंग्रह, गा. 18
23. व्या. सू. 13.4.53
24. वही, 2.10.22
25. वही, 2.10.8
26. वही, 20.2.5
27. व्या. सू. 13.4.24
28. व्या. सू. 13.4.25
29. प्रज्ञापनावृत्ति, पद 1
30. मुनि नथमल- जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 189
31. व्या. सू. 11.10.10
32. निश्चयद्वात्रिंशिक, 24
33. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.17.20-21, पृ. 462

34. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक 776
35. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग-1) पृ. 219
36. पंचास्तिकाय, गा. 90
37. तत्त्वार्थसूत्र 5.1.3, 5, 6, 18
38. सर्वार्थसिद्धि, 5.18.561 पृ. 216
39. व्या. सू. 2.10.4
40. व्या. सू. 20.2.6
41. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक 776
42. व्या. सू. 2.10.11-12
43. द्रव्यसंग्रह, गा. 20
44. व्या. सू. 13.4.26
45. उत्तराध्ययन, 28.9
46. राजवार्तिक, 5.12.2-6 पृ. 454-455
47. 'दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वादितया व्स्तवनयेति दिक'- स्था. वृत्ति
48. आचारांग, मुनि मधुकर, 1.1.1
49. स्थानांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 6.37, 10.31
50. 'जीव चेव अजीव चेव' - व्या. सू. 10.1.3-5
51. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक 493
52. व्या. सू. 10.1.6, 7
53. 'इन्दो देवता यस्याः सैन्द्री.....भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक 493
54. व्या. सू. 13.4.16-22
55. व्या. सू. (भाग-4), प्रस्तावना, पृ. 63
56. प्रज्ञापनासूत्र, 1.5
57. स्थानांगसूत्र, मुनि मधुकर विवेचन, 2.4.387-389, पृ. 81
58. व्या. सू. 25.4.17
59. वही, 13.4.48-49
60. वही, 25.2.1-2, 10.1.8, 2.10.11
61. 'कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो।। पंचास्तिकाय, गा. 100
62. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गा. 36.43, 44
63. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.39.1-2 पृ. 501
64. दर्शन और चिन्तन, पृ. 331-332
65. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भाग-4), प्रस्तावना, पृ. 64
66. A Brief History of time, P. 15-37
67. वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' तत्त्वार्थसूत्र, 5.22

68. द्रव्यसंग्रह, गा. 22
69. 'तीयद्धा अवण्णा जाव अफासा पन्नता। एवं अणागयद्धा वि। एवं सव्वद्धा वि।'- व्या. सू. 12.5.35
70. 'चउव्विधे पन्नते, तं जहा - अवण्णे अगंधे अरसे अफासे।' - वही 20.5.18
71. 'अद्धा दोहारच्छेदेणं छिज्जमाणी जाहे विभागं नो हव्वामागच्छति से त्तं समाए समयट्ठताए'- वही 11.11.16
72. (क) वही, 11.11.7-16
73. वही, 6.7.5
74. वही, 11.11.17
75. वही, 6.7.7, 8





ज्ञान मीमांसा

ज्ञान एवं प्रमाण विवेचन

ज्ञानवाद

जैन-दर्शन ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण स्वीकार करता है। स्वाभाविक गुण वह होता है, जो अपने आश्रयभूत द्रव्य का त्याग नहीं करता है। अतः जैन परम्परा ज्ञान से विमुक्त आत्मा की कल्पना ही नहीं कर सकती है। इस परंपरा में ज्ञान व आत्मा के अभेद की चर्चा बहुत पुरानी है। सर्वाधिक प्राचीन जैन आगम ग्रंथ आचारांग में ज्ञान व आत्मा के एकत्व को स्थापित करते हुए कहा गया है- **जे आता से विण्णाता, जे विण्णाता से आया** - (1.5.5.171) अर्थात् जो आत्मा है वह ज्ञान रूप है तथा जो ज्ञान है वह भी आत्मरूप है। यहाँ आत्मा व ज्ञान में पूर्णरूप से तादात्म्य स्थापित कर ज्ञान को आत्मा का निज गुण मान लिया गया है। भगवतीसूत्र में भी ज्ञान को आत्मा से अभिन्न मानते हुए कहा गया है- **आया सिय णाणे सिय अन्नाणे, णाणे पुण नियमं आया** - (12.10.10) अर्थात् आत्मा कथंचित् ज्ञानरूप है, कथंचित अज्ञान रूप है, किन्तु ज्ञान तो नियम से ही आत्मरूप है। यहाँ द्रव्यदृष्टि से ज्ञान व आत्मा की अभिन्नता को स्पष्ट किया गया है। चूंकि ज्ञान आत्मा का परिणाम है, जो कि बदलता रहता है। इस दृष्टि से ग्रंथ में ज्ञान व आत्मा में भेद भी स्वीकार किया गया है। पर्याय दृष्टि से ज्ञान व आत्मा में भेद करते हुए आत्मा के आठ प्रकारों में एक भेद ज्ञानात्मा किया गया है।[1]

1. द्रव्यात्मा, 2. कषायात्मा, 3. योगात्मा, 4. उपयोगात्मा, 5. ज्ञानात्मा, 6. दर्शनात्मा, 7. चारित्रात्मा, 8. वीर्यात्मा।

आचार्य कुंदकुंद[2] ने भी व्यवहार व निश्चयनय के माध्यम से ज्ञान व आत्मा के संबंध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्यवहारनय से ज्ञान व आत्मा में भेद है, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से ज्ञान व आत्मा में कोई भेद नहीं है। उक्त कथन में आचार्य कुंदकुंद ने आत्मा के अन्य गुणों को भी ज्ञानान्तर्गत कर लिया है क्योंकि आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त और भी कई गुण हैं। लेकिन इस विरोध का

प्रवचनसार[3] में परिहार करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि अनन्तसुख, अनन्तज्ञान है। सुख और ज्ञान अभिन्न है। आत्मा व ज्ञान के अभेद की चर्चा कुंदकुंद द्वारा नियमसार[4] में करते हुए पुनः कहा गया है, व्यवहारिक दृष्टि से केवली सभी द्रव्यों को जानता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह आत्मा को जानता है। आत्मा व ज्ञान के अभेद को स्वीकार करने पर उक्त वाक्य का यही अर्थ लिया जा सकता है कि केवली अपने ज्ञान (आत्मा) को जानता है। प्रश्न उठता है, अपने ज्ञान को किसी दूसरे ज्ञान की सहायता बिना कैसे जाना जा सकता है? इसका भी जैन-दर्शन में उत्तर देते हुए ज्ञान को दीपक की तरह स्व-पर प्रकाशक कहा है। अर्थात् ज्ञान अपने को जानता हुआ दूसरे पदार्थों को भी जानता है।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान सत्य को जानने का साधन है। सत्य ज्ञेय है अतः जैनागम ग्रंथों में पहले ज्ञान को स्थान दिया गया है तत्पश्चात् ज्ञेय को। प्रवचनसार, अनुयोगद्वार, नंदीसूत्र आदि में पहले ज्ञान का ही प्रारंभ किया गया है।[5] विभिन्न जैन ग्रंथों में ज्ञान की परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। स्थानांगवृत्ति[6] में कहा गया है 'जिसके द्वारा अर्थ जाने जाते हैं या अर्थ का ज्ञान किया जाता है, उसका नाम ज्ञान है।' स्थानांग की इसी वृत्ति में 'ज्ञाति' मात्र को ज्ञान कहा है। अनुयोगद्वार की मलयवृत्ति[7] में कहा है- 'जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाय अथवा जो निज स्वरूप का प्रकाशक है, वह ज्ञान कहलाता है।' आवश्यकनिर्युक्ति[8] में ज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी गई है- 'यथावस्थित वस्तु के स्वरूप को जिससे जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं।' वस्तुतः जिसके द्वारा जाना जाता है तथा जो जानता है वह ज्ञान है अर्थात् ज्ञान जानने मात्र का साधन है।[9]

भगवतीसूत्र में ज्ञान की कोई व्यवस्थित परिभाषा तो नहीं मिलती है। उपयोग की चर्चा में उपयोग के दो भेद किये गये हैं; साकारोपयोग व निराकारोपयोग।[10] साकारोपयोग ज्ञान है तथा निराकारोपयोग दर्शन है।

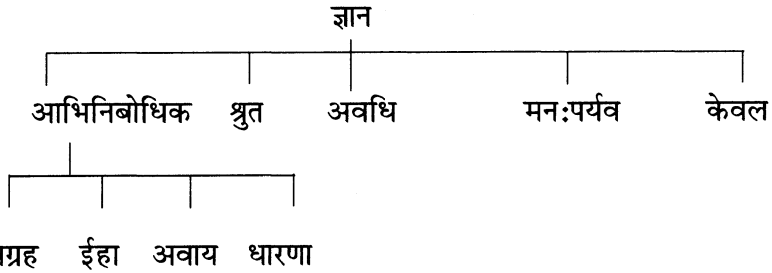
ज्ञानवाद की विकास परंपरा

जैन-परंपरा में पाँच ज्ञान की चर्चा भगवान् महावीर से पहले भी विद्यमान थी, जिसे भगवान् महावीर ने अपनी वाणी में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। इस विषय में राजप्रश्नीयसूत्र में एक वृत्तांत मिलता है। पार्श्वपरम्परा के अनुयायी केशीकुमार श्रमण कहते हैं- **एवं खलु पएसी अम्हं समणाणं निग्गंथाणं**

पंचविहे नाणे पण्णत्ते-तंजहा आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्ज्वणाणे केवलणाणे - (मधुकर मुनि, 241) अर्थात् हम श्रमण निर्ग्रन्थ पाँच प्रकार के ज्ञान को मानते हैं– आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान व केवलज्ञान। उत्तराध्ययन[11] में केशी और गौतम के संवाद से यह स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्व और महावीर के शासन में आचार-विषयक कुछ मतभेद थे, किन्तु तत्त्वज्ञान में कुछ भी मतभेद नहीं था अन्यथा उसका उल्लेख प्रस्तुत संवाद में अवश्य होता। इस सम्बन्ध में मालवणिया जी ने लिखा है– आगमों में पाँच ज्ञानों के भेद-प्रभेद का जो वर्णन है, कर्मशास्त्र में ज्ञानावरणीय के जो भेद-प्रभेद का वर्णन है, जीवमार्गणाओं में पाँच ज्ञानों की जो घटना वर्णित है, तथा पूर्वगत में ज्ञानों का स्वतंत्र निरूपण करने वाला जो ज्ञानप्रवाद-पूर्व है, इन सबसे यही फलित होता है कि पंच-ज्ञान की चर्चा भगवान् महावीर ने नयी नहीं शुरु की है, किन्तु पूर्व परंपरा से जो चली आ रही थी, उसको ही स्वीकार कर आगे बढ़ाया है। स्पष्ट है कि भगवान् महावीर ने ज्ञान के विषय में पार्श्व की परंपरा में उल्लेखित पाँच ज्ञानों को ही स्वीकार कर विकसित किया है।[12]

विकासक्रम की दृष्टि से जैनागमों में ज्ञानविभाजन की तीन भूमिकाएँ प्राप्त होती हैं। मालवणियाजी ने इस पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।[13]

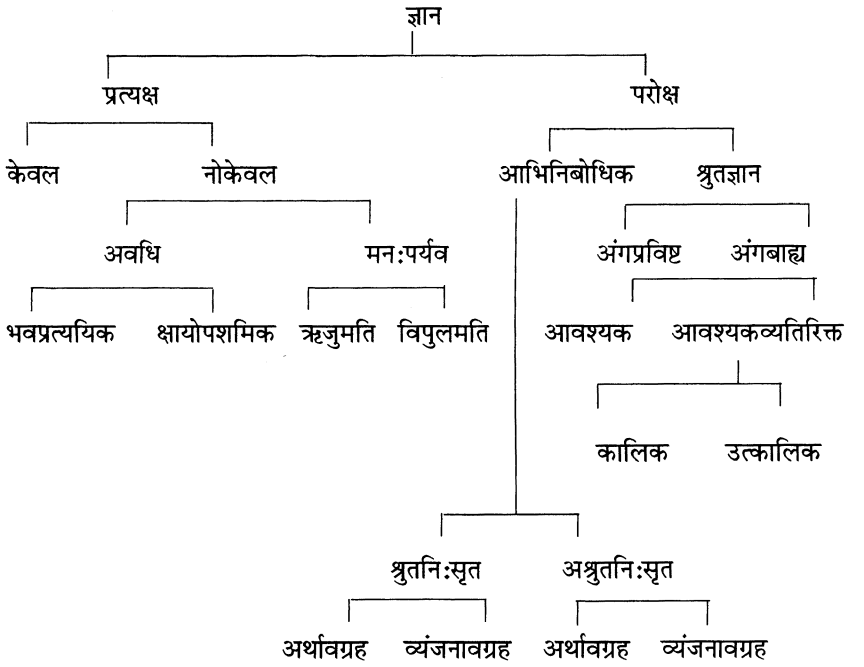
प्रथमभूमिका– प्रथमभूमिका में ज्ञान को पाँच भेदों में ही विभक्त किया गया है। यह विभाजन भगवतीसूत्र[14] में प्राप्त होता है।



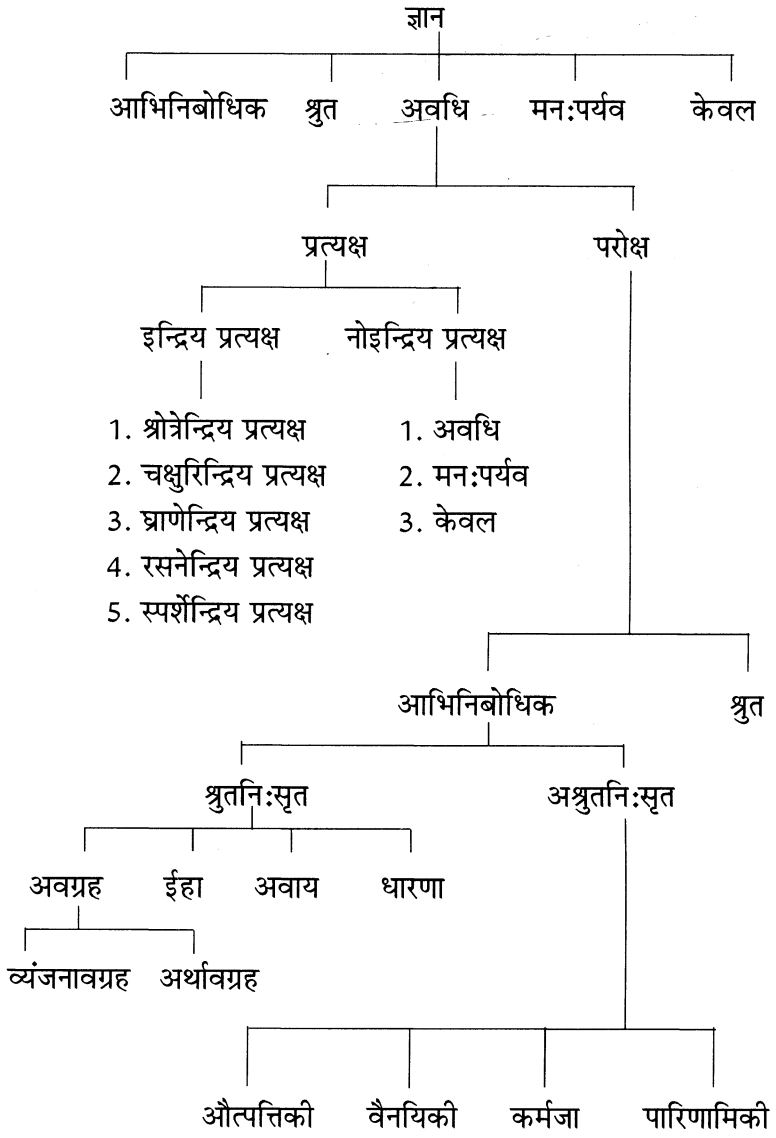
सूत्रकार ने उक्त विभाजन का शेष वर्णन राजप्रश्नीयसूत्र से पूर्ण करने की सूचना दी है।

द्वितीयभूमिका– द्वितीयभूमिका स्थानांग[15] में प्राप्त होती है। यहाँ ज्ञान को प्रत्यक्ष व परोक्ष दो भेदों में विभक्त कर पाँचों ज्ञानों में से मति व श्रुत ज्ञान को परोक्ष के अन्तर्गत रखा तथा अवधि, मन:पर्यव व केवलज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा है।

इस विभाजन में इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष में स्थान दिया गया है क्योंकि जैन मतानुसार आत्मसापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है जबकि सभी जैनेतर दार्शनिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष में स्थान दिया है। स्थानांग में वर्णित ज्ञान का यह विभाजन भगवतीसूत्र में वर्णित विभाजन का विकसित रूप प्रतीत होता है। यहाँ पाँचों ज्ञान को प्रत्यक्ष व परोक्ष के प्रभेद के रूप में गिनाया गया है। बाद के जैनाचार्यों ने इसी के आधार पर ज्ञान का विभाजन किया है। यह विभाजन इस प्रकार है;



तृतीयभूमिका– ज्ञान-विभाजन की तृतीय भूमिका में लौकिक मान्यता के साथ कुछ और परिवर्तन हुए। यहाँ इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों में स्थान दिया गया है। यह भूमिका नंदीसूत्र में ज्ञान चर्चा में मिलती है। यह विभाजन इस प्रकार है–



इस विभाजन से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि यहाँ ज्ञान के पाँच भेद कर उनको प्रत्यक्ष व परोक्ष में समाहित किया गया है तथा अन्य जैनेतर दार्शनिकों की तरह इन्द्रियजन्य पाँच ज्ञानों को प्रत्यक्ष तथा मनोजन्य मतिज्ञान को परोक्ष माना है। यहाँ लोक-व्यवहार के अनुरोध से ही इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को प्रत्यक्ष माना है अन्यथा वह परोक्ष ही है। इसी आधार पर आगे चलकर आचार्य अकलंक तथा अन्य आचार्यों ने ज्ञान के भेद-प्रभेद के क्रम को आगे बढ़ाया है।

भगवतीसूत्र में ज्ञान-विभाजन

भगवतीसूत्र में ज्ञान-विभाजन के स्वरूप को प्रथम भूमिका में स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ सूत्रकार द्वारा आगे का वर्णन राजप्रश्नीयसूत्र से पूर्ण करने की सूचना दी गई है। राजप्रश्नीयसूत्र[16] में इस विभाजन के पश्चात् अवग्रह के दो भेदों का उल्लेख मात्र करके शेष वर्णन नन्दीसूत्र से पूरा करने की सूचना दी गई है। नन्दीसूत्र में प्राप्त ज्ञान के विभाजन को देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वहाँ प्रारंभ में ज्ञान के पाँचों भेदों को प्रत्यक्ष व परोक्ष में समाहित किया गया है तथा आभिनिबोधज्ञान के श्रुतनि:सृत तथा अश्रुतनि:सृत ये दो भेद किये गये हैं। भगवतीसूत्र में वर्णित विभाजन में ये भेद नहीं मिलते हैं। भगवतीसूत्र में ज्ञान के पाँचभेद करके आभिनिबोधिकज्ञान के अवग्रहादि चार भेदों को गिनाया गया है। इससे यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि भगवतीसूत्र में प्राप्त ज्ञान का विभाजन प्राचीन है, आगे इसी परंपरा का विकास हुआ है।

नन्दीसूत्र व अन्य जैन ग्रंथों के अनुसार पाँचों ज्ञानों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है: सर्वप्रथम ज्ञान के पाँच भेद किये गये हैं फिर उन्हें संक्षेप में दो भागों में विभक्त किया गया है; प्रत्यक्ष व परोक्ष।

प्रत्यक्ष ज्ञान

प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद किये गये हैं; (क) इन्द्रियप्रत्यक्ष (ख) नोइन्द्रियप्रत्यक्ष,

(क) इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान पाँच प्रकार का बताया है–

1. श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष- जो कान से होता है
2. चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष- जो आँख से होता है
3. घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष- जो नाक से होता है
4. जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष- जो जिह्वा से होता है
5. स्पर्शेन्द्रिय प्रत्यक्ष- जो त्वचा से होता है

(ख) नोइन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान तीन प्रकार का बताया गया है;

1. अवधिज्ञानप्रत्यक्ष, 2. मन:पर्यवज्ञानप्रत्यक्ष, 3. केवलज्ञानप्रत्यक्ष

अवधिज्ञानप्रत्यक्ष

जिस ज्ञान की सीमा होती है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थों को ही जानता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं– 1. भवप्रत्ययिक, 2. क्षायोपशमिक। भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान जन्म के साथ उत्पन्न होने वाला तथा देवों व नारकों को ही होता है। क्षायोपशमिक अवधिज्ञान, अवधिज्ञानावरणीय कर्मों

में से उदयगत का क्षय होने से तथा अनुदित कर्मों का उपशम होने से उत्पन्न होता है। यह ज्ञान मनुष्यों व तिर्यंचों को होता है। अवधिज्ञान छः प्रकार का बताया गया है;

1. आनुगमिक – जो साथ चलता है,
2. अनानुगमिक – जो साथ नहीं चलता,
3. वर्द्धमान – जो वृद्धि पाता है,
4. हीयमान – जो क्षीण होता है,
5. प्रतिपातिक – जो एकदम लुप्त हो जाता है,
6. अप्रतिपातिक – जो लुप्त नहीं होता। केवलज्ञान की प्राप्ति तक विद्यमान रहता है

मनःपर्यव ज्ञान

मनुष्यों के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है, नारक व तिर्यंचों को नहीं। मनःपर्यवज्ञान दो प्रकार से उत्पन्न होता है– ऋजुमति और विपुलमति।[17] ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान अधिक शुद्ध होने के कारण मन के सूक्ष्म परिणामों को भी जान सकता है। ऋजुमतिज्ञान उत्पन्न होने के बाद नष्ट हो जाता है, किन्तु विपुलमतिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक बना रहता है।

केवलज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या सहाय रहित है। ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने से ज्ञान के अवान्तर भेद मिट जाते हैं और ज्ञान एक हो जाता है, उसके पश्चात् इन्द्रिय या मन की भी आवश्यकता नहीं रहती है अतः वह केवल (अकेला) ज्ञान कहलाता है। भगवतीसूत्र[18] में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि केवलज्ञानी इन्द्रियों से न देखते हैं व न जानते हैं। केवलज्ञान के दो भेद किये गये हैं– भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। आगे इनके भेद-प्रभेद का विवचेन किया गया है।

परोक्ष ज्ञान

नन्दीसूत्र में परोक्ष ज्ञान के दो भेद किये गये हैं; आभिनिबोधिक ज्ञान व श्रुतज्ञान।

आभिनिबोधिकज्ञान

आभिनिबोधिकज्ञान के दो भेद हैं– अश्रुतनिश्रित और श्रुतनिश्रित। अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान चार प्रकार का है;

औत्पत्तिकी– क्षयोपशम भाव के कारण, शास्त्र अभ्यास के बिना ही सहसा जिसकी उत्पत्ति हो, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहते हैं।

वैनयिकी– गुरु आदि की विनय-भक्ति से उत्पन्न बुद्धि वैनयिकी है।

कर्मजा– शिल्पादि के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा होती है।

पारिणामिकी– चिरकाल तक पूर्वापर पर्यालोचन से अथवा उम्र के परिपाक से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं।

श्रुतनिश्रितमतिज्ञान चार प्रकार का है– 1. अवग्रह, 2. ईहा, 3. अवाय, 4. धारणा।

अवग्रह– जो ज्ञान नाम, जाति, विशेष्य, विशेषण आदि विशेषताओं से रहित मात्र सामान्य को जानता है, वह अवग्रह कहलाता है। अवग्रह के पुनः दो भेद किये गये हैं; 1. अर्थावग्रह, 2. व्यंजनावग्रह।

ईहा– छानबीन के बाद असत् को छोड़कर सत् रूप को ग्रहण करना ईहा का कार्य है।

अवाय– निश्चयात्मक या निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं।

धारणा– जब अवायज्ञान अत्यन्त दृढ़ हो जाता है, उसे धारणा कहते हैं।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तनमनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के लिए शब्द श्रवण आवश्यक है। वस्तुतः आप्त पुरुषों द्वारा रचित आगम व अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। नन्दीसूत्र में इसके 14 भेद किये गये हैं।

तीन अज्ञान

भगवतीसूत्र[19] में ज्ञान के पाँच भेदों के अतिरिक्त तीन प्रकार के अज्ञान की भी चर्चा प्राप्त होती है; 1. मतिअज्ञान (मिथ्यामतिज्ञान) 2. श्रुतअज्ञान (मिथ्याश्रुतज्ञान) 3. विभंगज्ञान (मिथ्याअवधि-ज्ञान)।

ज्ञान व दर्शन

जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं– साकारोपयोग और अनाकारोपयोग।[20] ग्रन्थ में साकारोपयोग को दर्शन व निराकारोपयोग को ज्ञान कहा गया है।अनाकार का अर्थ निर्विकल्पक व साकार का अर्थ सविकल्पक है। जो उपयोग सामान्य का ग्रहण करता है, वह निर्विकल्पक है। जो विशेष को ग्रहण करता है वह सविकल्पक है।

भगवतीसूत्र[21] में ज्ञान व दर्शन दोनों को ही आत्मस्वरूप माना है। ग्रंथ में ज्ञान के लिए 'जाणइ' व दर्शन के लिए 'पासइ' शब्द का प्रयोग हुआ है। ज्ञान व दर्शन युगपत् होते हैं या नहीं इस बात की विवेचना करते हुए भगवतीसूत्र[22] में कहा गया

है कि ज्ञान व दर्शन युगपत् नहीं होते हैं। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। परमअवधिज्ञानी या केवलज्ञानी जिस समय परमाणु-पुद्गल को जानता है, उसी समय देखता नहीं है तथा जिस समय देखता है, उसी समय जानता नहीं है। ज्ञान साकार व दर्शन निराकार होता है, और परस्पर विरुद्ध दो धर्म वालों का एक ही काल में एक ही स्थान में होना संभव नहीं होता अतः ज्ञान व दर्शन दोनों की क्रिया एक ही समय में नहीं होती है। आवश्यकनिर्युक्ति[23] में भी कहा गया है कि केवली के दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते हैं। दिगम्बर परम्परा[24] केवली में ज्ञान व दर्शन दोनों को युगपत स्वीकार करती है।

प्रमाण

जैन-दर्शन में ज्ञान के साथ प्रमाण की चर्चा भी जुड़ी हुई है। पाँचों ज्ञान में से कौनसा ज्ञान प्रमाण है, कौनसा ज्ञान अप्रमाण यह प्रमाण के स्वरूप को समझने के पश्चात् ही निश्चित किया जा सकता है। प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है- **प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो वह प्रमाण है। प्रमाण समग्र वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करता है। वह भले ही किसी एक गुण द्वारा पदार्थ को जानने का उपक्रम करे, परन्तु उस गुण के द्वारा वह सम्पूर्ण वस्तु को ही ग्रहण करता है। इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी कहा गया है।[25]

प्रमाण की परिभाषा व स्वरूप

जैन ग्रंथों में प्रमाण की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। आचार्य उमास्वाति ने ज्ञान को ही प्रमाण कहा है[26]। जैन न्याय के प्रस्थापक आचार्य अकलंक के अनुसार प्रमाण ज्ञान वही होता है जो अविसंवादी हो एवं अज्ञात अर्थ को जानने वाला हो।[27] आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहा है कि पदार्थ का यथार्थ निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है। अन्य सभी विशेषण व्यर्थ हैं।[28] आचार्य सिद्धसेन[29] ने स्व और पर को प्रकाशित करने वाले अबाधित ज्ञान को प्रमाण कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने जैन प्रमाण की अन्तिम व परिष्कृत परिभाषा इस प्रकार दी है- अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है।[30]

उपर्युक्त परिभाषाओं से प्रमाण का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः जैन परम्परा ज्ञान को ही प्रमाण मानती है। विपर्यय आदि प्रमाण न हो जाय अतः अबाधित शब्द का प्रयोग भी जैनाचार्यों ने किया है। दूसरे शब्दों में जैनाचार्यों के अनुसार वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है जो निश्चयात्मक हो, व्यवसायात्मक हो, निर्णयात्मक हो, सविकल्पक हो।[31]

ज्ञान व प्रमाण की स्वतंत्रता

जैनागमों में ज्ञान के विकास की तीनों भूमिकाओं के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन-आगम ग्रंथों में ज्ञानचर्चा को प्रमाण से स्वतंत्र रखा है। वहाँ ज्ञानचर्चा के साथ प्रमाणचर्चा का कोई संबंध स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। पाँचों ज्ञानों में ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के भेद के द्वारा जैन आगमकारों ने वही प्रयोजन सिद्ध किया है जो दूसरे दार्शनिकों ने प्रमाण व अप्रमाण के विभाग द्वारा किया है। अर्थात् आगमग्रंथों में प्रमाण व अप्रमाण इन विशेषणों का प्रयोग किये बिना ही प्रथम तीन ज्ञानों (मति, श्रुत व अवधि) में विपर्यय-मिथ्यात्व व सम्यक्त्व की संभावना मानी है तथा अंतिम दो ज्ञान (मनपर्यव: व केवल) में एकान्त सम्यक्त्व बताया है।

इस संबंध में मालवणिया जी लिखते हैं- जब भी आगमों में ज्ञान का वर्णन आता है तब प्रमाणों या अप्रमाणों से उन ज्ञानों का क्या संबंध है, उसे बताने का प्रयत्न नहीं किया है और जब प्रमाणों की चर्चा आती है तब किसी प्रमाण को ज्ञान कहते हुए भी आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञानों का समावेश और समन्वय उसमें किस प्रकार है, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। इससे यही फलित होता है कि आगमकारों ने जैनशास्त्र प्रसिद्ध ज्ञानचर्चा और अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध प्रमाणचर्चा का समन्वय करने का प्रयत्न नहीं किया। दोनों चर्चा का पार्थक्य ही रखा।[32]

जैनागमों में प्रमाणचर्चा

जैनागमों में प्रमाण का किसी ना किसी रूप में विवेचन अवश्य मिलता है। सूत्रकृतांगसूत्र[33] में प्राय: दार्शनिक तत्त्वों को महत्त्व दिया गया है। इसमें 363 विचारधाराओं का प्रमाण की दृष्टि से नाम निर्देश किया गया है। प्रथम अध्ययन में स्वसमय-परसमय के प्रमाणों को महत्त्व दिया गया है। स्थानांगसूत्र में निक्षेप पद्धति की दृष्टि से प्रमाण के चार भेद किये गये हैं- द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण।[34] स्थानांग में प्रमाण के लिए हेतु व व्यवसाय शब्द का प्रयोग मिलता है। ज्ञप्ति के साधनभूत होने से प्रत्यक्षादि को हेतु शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। जहाँ हेतु शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ प्रमाण के चार भेद किये गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।[35] स्थानांग में प्रमाण के तीन भेद भी प्राप्त होते हैं। वहाँ प्रमाण के स्थान पर व्यवसाय शब्द का प्रयोग हुआ है- **तिविहे ववसाये पण्णत्ते तं जहा - पच्चक्खे पच्चइए आणुगामिए** - (3.3.395) अर्थात् व्यवसाय तीन प्रकार के हैं; प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और अनुगमिक। वस्तुत: सांख्य दर्शन ने तीन प्रमाण माने हैं और

न्यायदर्शन ने चार। ये दोनों परंपराएँ अनुयोगद्वार में प्रमाण की चर्चा में विस्तार से प्राप्त होती हैं। इसमें जैन व्याख्यापद्धति से प्रमाण की चर्चा की गई है। अनुयोगद्वार के रचयिता ने शब्द के व्याकरण, कोषादि प्रसिद्ध सभी संभावित अर्थों का समावेश करके, व्यापक अर्थ में प्रमाण शब्द प्रयुक्त किया है।

भगवतीसूत्र में प्रमाण चर्चा

भगवतीसूत्र यद्यपि दर्शन का ग्रंथ है, किन्तु इसमें व्यापक रूप से प्रमाण की चर्चा प्राप्त नहीं होती है। प्रमाण चर्चा को एकसूत्र द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है– **जहा णं भंते! केवली अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासति तधा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासति? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा।** – (5.4.26) अर्थात् केवली मनुष्य जिस प्रकार अन्तकर या अन्तिम शरीर को जानता-देखता है। उसी प्रकार से छद्मस्थ नहीं जानता व देखता है, वह सुनकर या प्रमाण द्वारा जानता व देखता है।

स्पष्ट है कि यहाँ पाँचों ज्ञान की दृष्टि से उत्तर न देकर मुख्य रूप से प्रमाण की दृष्टि से उत्तर दिया गया है। यह प्रयोग इस बात को सिद्ध करता है कि जैनेतर अन्य दर्शनों की तरह जैन आगमकार प्रमाण व्यवस्था से अनभिज्ञ नहीं थे। वे स्वसंमत ज्ञानों की तरह प्रमाणों को भी ज्ञप्ति में स्वतंत्र साधन मानते थे।

प्रमाण के प्रकार

भगवतीसूत्र में प्रमाण के चार प्रकार बताये गये हैं– **पणामे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे। जहा अणुयोगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं जाव तेण परं नो अत्तागमे, नो अणंतरागमे, परंपरागमे** – (5.4.26) अर्थात् प्रमाण चार प्रकार के हैं; प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य व आगम। इनका विवेचन अनुयोगद्वारसूत्र से पूरा करने का निर्देश दिया गया है। अनुयोगद्वारसूत्र[36] के अनुसार इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किये गये हैं; इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष के पाँच भेद किये गये हैं– 1. श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, 2. चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष, 3. घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, 4. जिह्वेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, 5. स्पर्शेन्द्रिय-प्रत्यक्ष। जैन परम्परा में ज्ञान चर्चा में इन्द्रियजन्य ज्ञानों को परोक्षज्ञान के अन्तर्गत रखा गया है, किन्तु प्रमाण की चर्चा परसंमत प्रमाणों के ही आधार से है, अतएव यहाँ उसी के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा गया है। यहाँ मानसइन्द्रिय को

स्वतंत्र स्थान नहीं देकर इन्द्रियप्रत्यक्ष में ही मानस प्रत्यक्ष का समावेश कर लिया गया है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण में तीन प्रत्यक्ष ज्ञानों का समावेश किया गया है– 1. अवधि-ज्ञानप्रत्यक्ष, 2. मनःपर्यव-ज्ञानप्रत्यक्ष, 3. केवल-ज्ञानप्रत्यक्ष। ये तीनों प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य नहीं होकर आत्मसापेक्ष हैं अतः नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाते हैं।

अनुमान

अनुमान प्रमाण के तीन भेद किये गये हैं– 1. पूर्ववत्, 2. शेषवत्, 3. दृष्टसाधर्म्यवत्।

पूर्ववत् अनुमान

पूर्ववत् की व्याख्या करते हुए अनुयोगद्वार में कहा गया है कि पूर्व परिचित किसी लिंग के द्वारा पूर्व परिचित वस्तु का ज्ञान करना पूर्वगत् अनुमान है। जैसे माता बाल्यकाल से गुम हुए और युवा होकर वापस आये हुए पुत्र को किसी पूर्व निश्चित चिह्न (घाव, लांछन, मस, तिल आदि) से पहचानती है कि यह पुत्र मेरा है।

शेषवत् अनुमान

शेषवत् अनुमान पाँच प्रकार का है– 1. कार्येण, 2. कारणेन, 3. गुणेन, 4. अवयवेन, 5. आश्रयेण।

कार्येण– कार्य से कारण का अनुमान करना। जैसे– शंख या भेरी के शब्द को सुनकर शंख व भेरी का अनुमान करना।

कारणेण– कारण से कार्य का अनुमान करना। जैसे– तंतु, पट का कारण है। पट तंतु का कारण नहीं है।

गुणेण– गुण से गुणी का अनुमान करना। यथा– गंध से पुष्प का, कसौटी से स्वर्ण का अनुमान करना।

अवयवेन– अवयव से अवयवी का अनुमान करना। जैसे सींग से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दाँत से हाथी का आदि।

आश्रयेन– आश्रित वस्तु से आश्रय का अनुमान। यथा– धूम से अग्नि का, बकपंक्ति से पानी का आदि।

दृष्टसाधर्म्यवत्

दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के दो भेद किये गये हैं। 1. सामान्यदृष्ट, 2. विशेषदृष्ट।

सामान्यदृष्ट– किसी एक पुरुष से बहुत से पुरुषों का ज्ञान इसी प्रकार बहुत से पुरुषों से एक पुरुष का ज्ञान सामान्यदृष्ट अनुमान है। दूसरे शब्दों में किसी एक वस्तु के दर्शन से सजातीय सभी वस्तुओं का तत्साधर्म्य करना या बहुवस्तु देखकर किसी विशेष में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है।

विशेषदृष्ट– अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पृथक् करके उसका ज्ञान करना विशेषदृष्ट अनुमान है। जैसे अनेक पुरुषों में खड़े हुए एक पूर्वदृष्ट पुरुष को पहचानना कि यह वह पुरुष है।

काल की दृष्टि से अनुमानग्रहण तीन प्रकार का है।

अतीतकालग्रहण– तृणयुक्तवन, निष्पन्नशस्यापृथ्वी, जलपूर्ण-कुंड-सर-नदी-तालाब देखकर अच्छी वर्षा का अनुमान।

प्रत्युत्पन्नकालग्रहण– भिक्षाचर्या में प्रचुर भिक्षा मिलती देख सुभिक्ष का अनुमान करना।

अनागतकालग्रहण– मेघ की निर्मलता, काले पहाड़, मेघ गर्जन आदि देखकर अच्छी वृष्टि का अनुमान करना।

इन तीनों लक्षणों की विपरीत प्रतीति से विपरीत अनुमान किया जा सकता है। जैसे सूखे चनों आदि को देखकर कुवृष्टि का, भिक्षा प्राप्त न होने पर दुर्भिक्ष का तथा खाली बादल देखकर वर्षा न होने का अनुमान करना।

अनुमान के अवयव

अनुमान के अवयवों के संबंध में मूल आगमों में चर्चा प्राप्त नहीं होती है। किन्तु, आचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिकनिर्युक्ति में इसकी चर्चा की है। उनके मत के अनुसार अनुमान वाक्य के दो, तीन, पाँच या दस अवयव होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

दो अवयव	–	प्रतिज्ञा, उदाहरण
तीव अवयव	–	प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण
पाँच अवयव	–	प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार, निगमन
दस अवयव (क)	–	प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन, निगमनविशुद्धि
दस अवयव (ख)	–	प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, विपक्ष-प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंकाप्रतिषेध, निगमन।

उपमान

उपमान प्रमाण दो प्रकार का है; 1. साधर्म्योपनीत, 2. वैधर्म्योपनीत।

साधर्म्योपनीत

जिन पदार्थों की सदृश्यता उपमा द्वारा सिद्ध की जाय, उसे साधर्म्योपनीत कहते हैं। इसके तीन भेद हैं;

1. किंचितसाधर्म्योपनीत– जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है।

2. प्राय:साधर्म्योपनीत– जैसा गौ है वैसा गवय है, जैसा गवय है वैसा गौ है।

3. सर्वसाधर्म्योपनीत– अरिहंत ने अरिहंत जैसा ही किया।

वैधर्म्योपनीत

इसके भी तीन भेद हैं;

1. किंचितवैधर्म्योपनीत– जैसा शाबलेय है वैसा बाहुलेय नहीं। जैसा बाहुलेय है वैसा शाबलेय नहीं है।

2. प्राय:वैधर्म्योपनीत– जैसा वायस है वैसा पायस नहीं है। जैसा पायस है वैसा वायस नहीं है।

3. सर्ववैधर्म्योपनीत– दास ने दास जैसा नहीं किया।

आगम निरूपण

आगम के दो भेद किये गये हैं; 1. लौकिक आगम, 2. लोकोत्तर आगम

लौकिक आगम– जिसे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टिजनों ने अपनी स्वच्छन्द बुद्धि और मति से रचा हो, वह लौकिक आगम है। यथा रामायण, महाभारत आदि।

लोकोत्तर आगम– ज्ञान-दर्शनधारक, अतीत, वर्तमान और अनागत के ज्ञाता, त्रिलोकवर्ती जीवों द्वारा सहर्ष वंदित, पूजित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहंत भगवन्तों द्वारा प्रणीत जैसे– आचारांग आदि बारह द्वादशांग, गणिपिटक, लोकोत्तरिक आगम हैं। एक अन्य दृष्टि से लोकोत्तर आगम के तीन भेद किये गये हैं– 1. सूत्रागम, 2. अर्थागम, 3. परम्परागम।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भगवतीसूत्र में ज्ञान व प्रमाण दोनों पर प्रचुर मात्रा में विवेचन हुआ है। संकलनकर्ता ने मूलग्रंथ में इसका वर्णन न करके नन्दीसूत्र व अनुयोगद्वारसूत्र से पूरा करने का निर्देश दिया है। इन दोनों सूत्रों के अध्ययन के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि ज्ञान, प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में भगवतीसूत्र में अच्छी सामग्री है, जिसे बाद के आचार्यों ने तर्क के आधार पर विकसित किया है और जैन प्रमाणशास्त्र की नींव को सुदृढ़ किया।

संदर्भ

1. व्या. सू., 12.10.1
2. 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तं-दंसणं णाणं।
   ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो- समयसार, गा. 7
3. प्रवचनसार, 1.60

4. नियमसार, शुद्धोपयोगाधिकार, 159
5. जैन न्याय का विकास, पृ. 1
6. स्थानांगवृत्ति, अभयदेव, 2.1
7. अनुयोगद्वार, मुनि मधुकर, 1 विवेचन, पृ. 4
8. आवश्यकनिर्युक्ति, 1073
9. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग-2, पृ. 257
10. व्या. सू., 16.7.1
11. उत्तराध्ययन, अध्ययन 23
12. आगमयुग का जैन दर्शन, पृ. 129
13. वही, पृ. 129-135
14. व्या. सू., 8.2.22-23
15. स्थानांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 2.1.86-106, पृ. 36-37
16. राजप्रश्नीयसूत्र, मुनि मधुकर, 241, पृ. 161
17. 'ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः' - तत्त्वार्थसूत्र, 1.24
18. व्या. सू., 6.10.14
19. वही, 8.2.24
20. वही, 16.7.1
21. व्या. सू. 12.10, 16
22. जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ- वही 18.8.21
23. सव्वस्स केवलिस्स जुगवं दो नत्थि उवओगा- आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 979
24. (क) द्रव्यसंग्रह, 44 (ख) गोम्मटसार(जीवकाण्ड) 730 (ग) नियमसार, गा. 160
25. चोक्तं 'सकलादेशः प्रमाणाधीनो - सर्वार्थसिद्धि, 1.6.24
26. तत्त्वार्थसूत्र, 1.9-10
27. अष्टशती, पृ. 175
28. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.10.77 पृ. 174
29. प्रमाणं स्वपरभासिज्ञानं बाधविवर्जितम - न्यायावतार, 1
30. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् - प्रमाणमीमांसा, 1.1.2, पृ. 2
31. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 385
32. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ. 135-136
33. सूत्रकृतांगवृत्ति, 7
34. स्थानांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 4.1.125, पृ. 240
35. 'अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे' स्थानांग, 4.3.504
36. अनुयोगद्वार, प्रमाणाधिकार

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं नयवाद

अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है। यद्यपि भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य[1] में और उसके समकालीन बौद्ध साहित्य[2] में अनेकान्त-दृष्टिगर्भित विचार बिखरे हुए मिल जाते हैं। तथापि जैन दर्शन ने इस सिद्धान्त का व्यवस्थित ढंग से निरूपण किया है। इस संबंध में विद्वानों ने आधुनिक ग्रंथ भी लिखे हैं।[3]

अनेकान्त का अर्थ

अनेकान्त शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो किसी भी पदार्थ को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु का दर्शन करना ही 'सत्य-दर्शन' का वास्तविक मार्ग है और वही अनेकान्त है। शाब्दिक दृष्टि से अनेकान्त शब्द 'अनेक' व 'अंत' इन दो शब्दों के मेल से बना है। अनेक का अर्थ है- एक से अधिक या नाना। अन्त का अर्थ है- धर्म। इस दृष्टि से अनेकान्त का अर्थ हुआ वस्तु में नाना धर्मों का होना। किन्तु, यह शाब्दिक अर्थ अनेकान्त के पूर्ण स्वरूप को व्यक्त नहीं करता है। जैन दर्शन के अनुसार किसी वस्तु में अनेक धर्मों का होना अनेकान्तवाद नहीं है, क्योंकि ऐसा तो प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। किन्तु, प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है, इसी सत्य को प्रतिपादित करना जैन अनेकान्तवाद का लक्ष्य है।

जैन तत्त्व व्यवस्था के क्षेत्र में भगवान् महावीर का महत्त्वपूर्ण योगदान अनेकांतवाद की प्ररूपणा के रूप में जाना जा सकता है। इस संबंध में मालवणिया जी लिखते हैं- आगम ग्रंथों का अध्ययन करने के पश्चात् तो यही सिद्ध होता है कि लोक-व्यवस्था, जीव-अजीव के भेदोपभेद, परमाणु-विवेचन, तप, चार प्रकार के ध्यान, गुणस्थान आदि के विषय में तो भगवान् महावीर ने कोई नया मार्ग नहीं दिखाया। ये सब तो पार्श्व की परंपरा में भी विद्यमान थे। लेकिन तत्कालीन

दार्शनिक क्षेत्र में तत्त्व के स्वरूप के विषय में जो नये-नये प्रश्न उठते रहते थे, उन प्रश्नों का स्पष्टीकरण भगवान् महावीर ने अन्य दार्शनिकों के विचारों का समन्वय करते हुए किया, यही उनकी दार्शनिक क्षेत्र को महान् देन थी। यही कारण है कि ईसा के बाद होने वाले जैन-दार्शनिकों ने जैन तत्त्व विचारों को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिपादित किया व महावीर को इस वाद का उपदेशक बताया।[4] भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि के उदाहरण प्रायः आगम ग्रंथों में मिलते हैं। किन्तु, भगवतीसूत्र इन सभी में अग्रणी है। भगवतीसूत्र में तीर्थंकर महावीर को अनेकांत का प्ररूपक स्वीकार किया है। इसके स्पष्टीकरण के लिए ग्रंथ में वर्णित भगवान् महावीर के निम्न स्वप्न की व्याख्या प्रस्तुत है।

चित्र-विचित्र-पंखवाले पुंस्कोकिल का स्वप्न

भगवतीसूत्र[5] में उन दस महास्वप्नों का विवेचन हुआ है जिन्हें भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था की अन्तिम रात्रि में देखे थे। उनमें से तीसरा स्वप्न इस प्रकार था- **एगं च णं महं चित्त-विचित्तं पक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ताणं पडिबुद्धे** - (16.6.20) अर्थात् एक बड़े चित्र-विचित्र पांख वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर प्रतिबुद्ध हुए। इस महास्वप्न का फल बताते हुए ग्रंथ में कहा गया है कि '**जं णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्त जाव पडिबुद्धे तं णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमय-परसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति दंसेति निदंसेति उवदंसेति, तं जहा आयारं सूयगडं जाव दिट्ठिवायं** - (16.6.21) अर्थात् भगवान् महावीर एक विचित्र स्व-पर सिद्धान्त को बताने वाले आचारांग, सूत्रकृतांग आदि द्वादश गणिपिटकों को प्ररूपित करेंगे।

उक्त स्वप्न में उल्लेखित चित्रविचित्र शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इस शब्द की विद्वानों ने अच्छी व्याख्या प्रस्तुत की है। मालवणियाजी[6] ने अपनी पुस्तक में लिखा है- 'पुंस्कोकिल की पांख को चित्र-विचित्र कहने का और आगमों को विचित्र विशेषण देने का खास तात्पर्य तो यही मालूम होता है कि उनका उपदेश अनेकरंगी-अनेकान्तवाद माना गया है। विशेषण से सूत्रकार ने यही ध्वनित किया है, ऐसा निश्चय करना तो कठिन है; किन्तु यदि भगवान् के दर्शन की विशेषता और प्रस्तुत चित्र-विचित्र विशेषण का कुछ मेल बिठाया जाय, तब यही संभावना की जा सकती है कि यह विशेषण साभिप्राय है और उससे सूत्रकार ने भगवान् के उपदेश की विशेषता अर्थात् अनेकान्तवाद को ध्वनित किया हो तो आश्चर्य की बात नहीं।'

डॉ. मोहनलाल मेहता[7] ने लिखा है– 'इस (स्वप्न) वर्णन को पढ़ने से यह मालूम होता है कि शास्त्रकार ने कितने सुन्दर ढंग से एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। चित्र-विचित्र पंखवाला पुंस्कोकिल कौन है? यह स्याद्वाद का प्रतीक है। जैन दर्शन के प्राणभूत सिद्धान्त स्याद्वाद का कैसा सुन्दर चित्रण है। वह एक वर्ण के पंख वाला कोकिल नहीं है अपितु चित्र-विचित्र पंख वाला कोकिल है। जहाँ एक तरह के पंख होते हैं, वहां एकान्तवाद होता है, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद नहीं। जहाँ विविध वर्ण के पंख होते हैं, वहाँ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद होता है, एकान्तवाद नहीं। एक वर्णवाले व चित्र-विचित्र पंखवाले कोकिल में यही अन्तर है।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर को अनेकान्त के उपदेशक के रूप में स्वीकार किया है और इस बात की सिद्धि ग्रंथ में आये कई उदाहरणों से होती है, जहाँ भगवान् महावीर ने अपनी अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग कर गौतम गणधर, जयन्ती श्राविका, सोमिल ब्राह्मण आदि के प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। यथा दृष्टव्य है–

गौतम– कोई यदि ऐसा कहे कि मैं सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव, सर्वसत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान?

भगवान् महावीर– स्यात् सुप्रत्याख्यान है और स्यात् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौतम– भंते! इसका क्या कारण?

भगवान् महावीर– जिसको यह भान नहीं कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। वह मृषावादी है। किन्तु, जो यह जानता है कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, वह सत्यवादी है।[8]

इसी प्रकार ग्रंथ में भगवान् महावीर ने जयंति श्राविका के प्रकरण[9] में तत्त्वविद्या से संबंधित प्रश्नों का अनेकान्त पद्धति से समाधान किया है। बाद के जैन आचार्यों ने इसे विकसित कर नया रूप प्रदान किया।

जैनाचार्यों की दृष्टि में अनेकान्तवाद

भगवान् महावीर द्वारा प्रदान की गई अनेकान्त दृष्टि की बाद के आचार्यों ने अपने ढंग से व्याख्या कर उसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया। आचार्य सिद्धसेन[10] ने अनेकान्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि किसी भी वस्तु को अनेक

पहलुओं से देखना, जाँचना अथवा उस तरह देखने की वृत्ति रखकर वैसा प्रयत्न करना ही अनेकान्त दृष्टि है। एकान्त वस्तुगतधर्म नहीं है, किन्तु बुद्धिगत कल्पना है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तो एकान्त का नामोनिशान नहीं रहता। दार्शनिकों की भी समस्त दृष्टियाँ अनेकान्त दृष्टि में उसी प्रकार विलीन हो जाती हैं जैसे विभिन्न दिशाओं से आने वाली सरिताएँ सागर में एकाकार हो जाती हैं। आचार्य अमृतचन्द ने अपनी समयसार की आत्मख्याति टीका[11] में लिखा है कि जो वस्तु सत् स्वरूप है वही असत् स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु नित्य है वह अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन करना ही अनेकान्त है।

विभज्यवाद

सूत्रकृतांगसूत्र[12] में भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करें, इसके उत्तर में कहा गया है कि 'विभज्यवाद' का प्रयोग करना चाहिए। विभज्यवाद का मतलब ठीक समझने में हमें जैन टीका ग्रंथों के साथ-साथ बौद्ध ग्रंथों से भी मदद मिलती है। बौद्ध मज्झिमनिकाय (सुत्त-99) में शुभ माणवक जब भगवान् बुद्ध से प्रश्न करते हैं- 'मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रवर्जित आराधक नहीं होता है। इसमें आपकी क्या सम्मति है?' इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् बुद्ध अपने को एकांशवादी न बताकर विभज्यवादी बताते हुए कहते हैं- 'यदि गृहस्थ भी मिथ्यात्वी है, तो निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं है और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं है। किन्तु, यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्ति सम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं।' इस प्रकार बुद्ध ने इस प्रश्न का उत्तर एकांशी हाँ या नहीं में न देकर, त्यागी या गृहस्थ की आराधकता और अनाराधकता में जो अपेक्षा या कारण था उसे बताकर दोनों को आराधक और अनाराधक बताया है। अर्थात् प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया है इसी कारण अपने को वे विभज्यवादी कहते हैं।

जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात अनेकान्तवाद करते हैं। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांगगत विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद, नयवाद, अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्व के विवेचन करने वाले वाद से लिया जा सकता है।[13]

भगवान् बुद्ध के विभज्यवाद की तरह भगवान् महावीर का विभज्यवाद भी भगवतीसूत्र के प्रश्नोत्तर से स्पष्ट हो जाता है। निम्न प्रश्नोत्तर की सहायता से हम भगवान् बुद्ध व भगवान् महावीर के विभज्यवाद की तुलना सरलता से कर सकते हैं।

गौतम– भन्ते, जीव सकम्प हैं या निष्कम्प?

भगवान् महावीर– गौतम, जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी।

गौतम– इसका क्या कारण?

भगवान् महावीर– जीव दो प्रकार के हैं– संसारी और मुक्त।

मुक्त जीव के दो प्रकार हैं–

अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध। परंपर-सिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनंतरसिद्ध सकम्प। संसारी जीवों के भी दो प्रकार हैं– शैलेशीप्रतिपन्नक और अशैलेशीप्रतिपन्नक। शैलेशीप्रतिपन्नक जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशीप्रतिपन्नक सकम्प होते हैं – (25.4.81)।

गौतम– जीव सवीर्य हैं या अवीर्य हैं?

भगवान् महावीर– जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

गौतम– इसका क्या कारण?

भगवान् महावीर– जीव दो प्रकार के हैं। संसारी और मुक्त। मुक्त तो अवीर्य हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं– शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। शैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं, किन्तु करण-वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो जीव पराक्रम करते हैं, वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और अपराक्रमी हैं, वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं – (1.8.10)।

भगवतीसूत्र में इस तरह के कई प्रश्नोत्तर प्राप्त होते हैं जहाँ बुद्ध के विभज्यवाद की तरह ही प्रश्नों के विभाग करके उत्तर दिये गये हैं। यहाँ भगवान् बुद्ध व भगवान् महावीर दोनों ने एक सामान्य में दो विरोधी बातों को स्वीकार करके उसी एक को विभक्त करके दोनों विभागों में दो विरोधी धर्मों को संगत बताया है। लेकिन यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त विभज्यवाद में दो विरोधी धर्म एक काल में किसी एक व्यक्ति में नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में घटाये गये हैं। भगवान् बुद्ध का विभज्यवाद इस मर्यादित क्षेत्र में ही रहा, किन्तु भगवान् महावीर ने इस विभज्यवाद के क्षेत्र को व्यापक बनाया। उन्होंने विरोधी धर्मों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षा भेद से घटाया है। इसी कारण से भगवान् महावीर का विभज्यवाद आगे चलकर अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के रूप में विकसित हो गया।[14]

विभिन्न क्षेत्रों में अनेकान्त का प्रयोग

भगवतीसूत्र में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेकर जगत की व्यवस्था से संबंधित अनेक प्रश्नों का समाधान किया है। कुछ प्रश्नों से संबंधित विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

लोक की नित्यानित्यता[15]

भगवतीसूत्र में स्कन्दक परिव्राजक व जमालि के प्रकरण में लोक की नित्यता व अनित्यता के प्रश्न को सुलझाते हुए उसे नित्यानित्य कहा है। यह लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं जब यह लोक वर्तमान न रहा हो। लोक था, है और रहेगा। अतः यह लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय और नित्य है। दूसरी दृष्टि से यह लोक अशाश्वत भी है क्योंकि अवसर्पिणी काल होकर उत्सर्पिणी काल होता है, फिर उत्सर्पिणी काल होकर अवसर्पिणी काल होता है। इस प्रकार अस्तित्व की दृष्टि से लोक की नित्यता को प्रतिपादित करते हुए उसे ध्रुव व शाश्वतरूप माना है, वहीं काल भेद के कारण लोक में दृष्टिगोचर होने वाली विविधताओं के कारण उसे अशाश्वत रूप में माना है।

लोक की सान्तता और अनन्तता[16]

भगवतीसूत्र में लोक चार प्रकार का बताया है– द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक व भावलोक। द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है, और अन्तवाला है, क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्य कोड़ाकोड़ी योजन तक लम्बा-चौड़ा है, असंख्य कोड़ाकोड़ी योजन की परिधि वाला है तथा अन्त सहित है; काल की अपेक्षा से तीनों कालों में वर्तमान है, ऐसा कोई काल नहीं जब लोक न रहा हो अतः ध्रुव, नियत व नित्य है; भाव की अपेक्षा से अनन्त पर्यायों से युक्त होने के कारण अन्त रहित है। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चार दृष्टियों को अपनाते हुए लोक की सान्तता और अनन्तता के प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

जीव की नित्यता व अनित्यता

जीव की नित्यता व अनित्यता के प्रश्न का समाधान भी प्रस्तुत ग्रंथ में अनेकान्तशैली में किया गया है– **'जीवा सिय सासया सिय असासया** - (7.2.36) अर्थात् जीव शाश्वत भी हैं और अशाश्वत भी हैं। द्रव्य दृष्टि से जीव शाश्वत हैं, किन्तु भाव दृष्टि से जीव अशाश्वत हैं। भावदृष्टि से तात्पर्य पर्याय दृष्टि से है। सभी जीवों में जीवत्व का अस्तित्व हमेशा रहता है। अतः यहाँ अपेक्षा भेद से द्रव्य की दृष्टि से जीव को शाश्वत माना है, किन्तु जीव की पर्यायें सदा ही बदलती

रहती हैं। एक पर्याय को छोड़कर वह दूसरी, तीसरी पर्याय को ग्रहण करता रहता है। इसीलिये पर्याय दृष्टि से वह अनित्य व अशाश्वत है। इसी बात को नारक जीव के उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट किया गया है। अव्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से नारक शाश्वत है तथा व्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से अशाश्वत है।[17] अर्थात् जिस प्रकार जीवद्रव्य की अपेक्षा से जीव शाश्वत है उसी प्रकार नारक को भी जीव द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत कहा है तथा नारकादि पर्याय की दृष्टि से नारक को अशाश्वत कहा है क्योंकि पर्यायें सभी जीवों की बदलती रहती हैं।

भगवतीसूत्र के नवें शतक में जमालि के साथ हुए प्रश्नोत्तर में जीव की नित्यता-अनित्यता को स्पष्ट किया गया है। यथा- जीव शाश्वत है, क्योंकि तीनों *कालों में ऐसा कोई समय नहीं जब जीव नहीं हो। अतः वह नित्य, ध्रुव,* अक्षय.....शाश्वत है। जीव अशाश्वत भी है क्योंकि वह नैरयिक होकर तिर्यंचयोनिक होकर, मनुष्य हो जाता है और मनुष्य होकर कदाचित् देव हो जाता है। इस प्रकार जीव विविध पर्यायों को प्राप्त करता है और इन विविध पर्यायों में भ्रमण करते हुए भी उसमें जीवत्व कभी भी लुप्त नहीं होता है, उसकी अवस्थाएँ लुप्त होती रहती हैं।[18] मालवणियाजी के अनुसार इस व्याकरण में औपनिषद् ऋषिसम्मत आत्मा की नित्यता और भौतिकवादिसम्मत आत्मा की अनित्यता के समन्वय का सफल प्रयत्न है। अर्थात् भगवान् बुद्ध के अशाश्वतानुच्छेदवाद के स्थान में शाश्वतोच्छेदवाद् की स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठा की गई है।[19]

जीव की सान्तता व अनन्तता[20]

जीव द्रव्य एक स्वतंत्र द्रव्य है अतः अन्य द्रव्यों की भांति उसमें भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से सान्तता व अनन्तता की प्ररूपणा हो सकती है। स्कन्दक परिव्राजक के प्रकरण में द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चार दृष्टियों को ग्रहण कर कहा गया है- द्रव्य की अपेक्षा से जीव सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से (एक जीव) असंख्यात प्रदेशवाला है अतः सान्त है। काल की अपेक्षा से तीनों कालों में वर्तमान होने के कारण अनन्त है तथा भाव की दृष्टि से अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र व अनन्त अगुरुलघुपर्याय रूप होने के कारण अनन्त है। वस्तुतः द्रव्य व क्षेत्र की दृष्टि से जीव सीमित है अतः उसे सान्त कहा गया है। काल व भाव की दृष्टि से जीव असीमित है अतः उसे अनन्त कहा गया है। मालवणियाजी के अनुसार यह कह करके भगवान् महावीर ने आत्मा के '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' इस औपनिषद् मत का निराकरण किया है।[21]

परमाणु-पुद्गल की नित्यता व अनित्यता

अनेकान्तवाद का सहारा लेकर ही भगवान् महावीर ने भगवतीसूत्र में परमाणु-पुद्गल को कथंचित् शाश्वत व कथंचित् अशाश्वत कहा है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से उसे शाश्वत माना है तथा वर्ण, रस, गंध आदि पर्यायों की दृष्टि से उसे अशाश्वत माना है। यथा– **दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए। से तेणट्ठेणं जाव सिय असासए** – (14.4.8)।

ग्रंथ में अन्यत्र द्रव्य की दृष्टि से पुद्गल की शाश्वतता को इस प्रकार स्पष्ट किया है। यह पुद्गल द्रव्य अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् तीनों कालों में था, है और रहेगा। तीनों कालों में ऐसा कोई क्षण नहीं जब पुद्गल का सातत्य न हो।[22] पुनः 14 वें शतक में पर्याय की दृष्टि से इसकी अनित्यता का प्रतिपादन किया है; यह पुद्गल अनन्त, अपरिमित और शाश्वत अतीत काल में एक समय तक रूक्ष स्पर्श वाला रहा, एक समय तक अरूक्ष (स्निग्ध) स्पर्श वाला रहा और एक समय तक रूक्ष और स्निग्ध दोनों प्रकार के स्पर्श वाला रहा। पहले करण (अर्थात् प्रयोगकरण और विस्रसाकरण) के द्वारा यही पुद्गल अनेक वर्ण और अनेक रूप वाले परिणाम से परिणत हुआ और उसके बाद अनेक वर्णादि परिणामों से क्षीण होने पर वह एक वर्ण वाला व एक रूपवाला भी हुआ। इसी प्रकार वर्तमान काल व भविष्यत् काल में भी उसकी पर्यायों के परिवर्तन के कारण ही पुद्गलद्रव्य की अनित्यता को स्पष्ट किया गया है।[23]

परमाणु के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से भगवतीसूत्र में चार भेद किये हैं– 1. द्रव्य परमाणु, 2. क्षेत्र परमाणु, 3. काल परमाणु, 4. भाव परमाणु। उक्त चारों दृष्टियों से परमाणु का स्वरूप विवेचित करते हुए भगवतीसूत्र में कहा है– द्रव्य परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य व अग्राह्य है। क्षेत्र परमाणु अनर्ध, अमध्य, अप्रदेशी व अविभागी है। काल परमाणु अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श वाला है तथा भाव परमाणु वर्ण, गंध, रस व स्पर्शयुक्त है।[24]

द्रव्य की एकता व अनेकता[25]

भगवतीसूत्र में परस्पर विरोधी माने जाने वाले दो धर्मों– एकता व अनेकता को अपेक्षा भेद से एक ही द्रव्य में स्वीकार कर अनेकान्तशैली का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। जीवद्रव्य में एकता व अनेकता दोनों का प्रतिपादन करते हुए ग्रंथ में भगवान् महावीर सोमिल ब्राह्मण को कहते हैं– 'सोमिल! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ। ज्ञान व दर्शन की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। बदलते

रहने वाले उपयोग की दृष्टि से मैं अनेक हूँ।' प्रज्ञापनासूत्र[26] में इसी प्रकार द्रव्य में एकता व अनेकता का प्रतिपादन किया गया है। धर्मास्तिकाय द्रव्यदृष्टि से एकद्रव्य है इसलिए सर्वस्तोक है। प्रदेश की दृष्टि से असंख्यातगुण भी है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, आकाश आदि को द्रव्यदृष्टि से एक तथा प्रदेशदृष्टि से अनेक माना है।

जीव व शरीर का भेदाभेद[27]

जीव व शरीर के संबंध के प्रश्नों का उत्तर भी ग्रंथ में अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही दिया है। यथा– यह शरीर आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न अन्य (पुद्गल) भी है। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है। शरीर सचित्त भी है और अचित्त भी है। भगवतीसूत्र के उक्त कथन में शरीर को आत्मा से अभिन्न मानने के कारण ही उसे अरूपी व चेतन माना है तथा आत्मा से भिन्न मानने के कारण उसे रूपी व अचेतन रूप में भी स्वीकार किया है।

द्रव्य व पर्याय का भेद-अभेद

द्रव्य व पर्याय एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं या सर्वथा अभिन्न? इस प्रश्न पर भी भगवतीसूत्र में विचार किया गया है। पार्श्व के अनुयायियों तथा भगवान् महावीर के शिष्यों के बीच हुए विवाद में कहा गया है– 'आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।'[28] आत्मा द्रव्य है तथा सामायिक उसकी पर्याय है, किन्तु यहाँ द्रव्य दृष्टि को प्रधानता देते हुए द्रव्य व पर्याय में अभिन्नता को स्थापित किया गया है। इसी प्रकार ज्ञान व आत्मा तथा दर्शन व आत्मा की अभिन्नता को स्वीकार करके द्रव्य व पर्याय के अभेदवाद का समर्थन किया गया है।[29] किन्तु, द्रव्य व पर्याय को ग्रंथ में सर्वथा अभिन्न रूप नहीं माना गया है। एकान्त अभेद मान लेने से तो पर्याय के नष्ट हो जाने पर द्रव्य भी नष्ट हो जायेगा। अतः भगवतीसूत्र में कहा गया है कि अस्थिर पर्याय के नष्ट होने पर भी द्रव्य स्थिर रहता है।[30] पुनः ग्रंथ[31] में जहाँ पर्याय दृष्टि से आत्मा के आठ भेद किये हैं वहाँ द्रव्यात्मा को छोड़कर शेष सभी भेद पर्यायदृष्टि से किये गये हैं।

अस्ति-नास्ति का अनेकान्त

कुछ दर्शन सर्व अस्ति व कुछ सर्व नास्ति के सिद्धान्त को मानते हैं। भगवान् महावीर ने सर्व अस्ति व सर्व नास्ति इन दोनों सिद्धान्तों की परीक्षा करते हुए भगवतीसूत्र[32] में कहा गया है– हम अस्ति को नास्ति नहीं कहते हैं, नास्ति को अस्ति नहीं कहते हैं, हम जो अस्ति है, उसे अस्ति कहते हैं, जो

नास्ति है उसे नास्ति कहते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ[33] में अन्यत्र अस्ति व नास्ति दोनों को ही परिणमनशील स्वीकार करते हुए कहा है- जैसे अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व में परिणत होता है। जो वस्तु स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'अस्ति' है वही परद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से 'नास्ति' है। जिस रूप से वह 'अस्ति' है, उसी रूप से 'नास्ति' नहीं किन्तु, 'अस्ति' ही है और जिस रूप से वह 'नास्ति' है उस रूप से 'अस्ति' नहीं, किन्तु 'नास्ति' ही है। किन्तु, वस्तु को सर्वथा 'अस्ति' माना नहीं जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवतीसूत्र में अस्ति-नास्ति, नित्यानित्य, भेदाभेद, एकानेक, सान्त-अनन्त आदि इन विरोधी धर्म-युगलों को अनेकान्तवाद के आश्रय से एक ही वस्तु में घटाया गया है। इसी का आश्रय लेकर बाद के दार्शनिकों ने तार्किक ढंग से दर्शनान्तरों के खण्डनपूर्वक इन्हीं वादों का समर्थन किया है। भगवतीसूत्र में द्रव्य और पर्याय के तथा जीव और शरीर के भेदाभेद का अनेकान्तवाद है, तो दार्शनिक विकास के युग में सामान्य और विशेष, द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, द्रव्य और जाति इत्यादि अनेक विषयों में भेदाभेद की चर्चा और समर्थन हुआ है। यद्यपि भेदाभेद का क्षेत्र विकसित और विस्तृत प्रतीत होता है, तथापि सब का मूल द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद में ही है, इस बात को भूलना नहीं चाहिए। इसी प्रकार नित्यानित्य, एकानेक, अस्ति-नास्ति, सान्त-अनन्त इन धर्म-युगलों का भी समन्वय क्षेत्र भी कितना ही विस्तृत व विकसित क्यों न हुआ हो, फिर भी उक्त धर्म-युगलों को लेकर भगवतीसूत्र में जो चर्चा हुई है, वही मूलाधार है और उसी के आधार से सारे अनेकान्तवाद का महावृक्ष प्रतिष्ठित है, इसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

स्याद्वाद

अनेकान्तवाद में एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्मों को समान भाव से स्वीकार किया गया है। परन्तु दो विरोधी धर्मों को एक ही वस्तु में स्वीकार करना किसी अपेक्षा विशेष से ही हो सकता है- इस भाव को सूचित करने के लिए वाक्यों में 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की प्रथा हुई है। इसी कारण अनेकान्तवाद स्याद्वाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद सिद्धान्त है और स्याद्वाद उसे प्रस्तुत करने की शैली है।

स्याद्वाद का अर्थ व परिभाषा

स्याद्वाद शब्द स्यात् + वाद इन दो शब्दों के मेल से बना है। वाद का अर्थ है– कथन या प्रतिपादन। स्यात् विधिलिंग में बना हुआ तिङप्रतिरूपक निपात है। वह अपने में एक महान उद्देश्य एवं वाचक शक्ति को छिपाये हुए है। स्यात् के विधि-लिंग में विधि, विचार आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमें 'अनेकान्त' अर्थ यहाँ विवक्षित है। स्यात् शब्द बतलाता है कि वस्तु एक रूप नहीं है, किन्तु अनेक रूप है। वस्तु में सत्व के साथ ही असत्व आदि अनेक धर्म रहते हैं।[34]

अकलंक का कथन है कि जहाँ कहीं स्यात् शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं हो वहाँ भी उसे अनुस्यूत ही समझ लेना चाहिये।[35] स्याद्वाददृष्टि विविध अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में नित्यता-अनित्यता; सदृशता-विसदृशता; वाच्यता-अवाच्यता, सत्ता-असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर एवं बुद्धिसंगत समन्वय प्रस्तुत करती है।

स्याद्वाद व अनेकान्तवाद

जैन ग्रंथों में कही स्याद्वाद शब्द आया है तो कहीं अनेकान्तवाद शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रायः जैन दर्शनिकों ने इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। क्योंकि दोनों शब्दों के पीछे एक ही प्रयोजन छिपा है; वस्तु की अनेकान्तात्मकता को प्रतिपादित करना। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। इस अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा द्वारा प्रतिपादित करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।[36] आचार्य मल्लिषेण ने लिखा है कि स्याद्वाद अनेकांत का प्रतिपादन करता है – **स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमिष्टास्वपि** – (स्याद्वादमंजरी, श्लो. 25 की टीका)

अनेकान्त दृष्टि ज्ञानरूप है। स्याद्वाद वचनरूप दृष्टि है। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद श्रुत है और अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है। अनेकान्त दृष्टि द्वारा विराट वस्तु को इस प्रकार जाना जाता है जिसमें विवक्षित धर्म को जानकर अन्य धर्मों को गौण कर दिया जाता है, जिससे पूरी वस्तु का मुख्य-गौण भाव से स्पर्श हो जाता है। फिर उसी शैली से वचन प्रयोग करना, जिससे वस्तुतत्त्व का यथार्थ प्रतिपादन हो; स्याद्वाद है। स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है, जो वस्तु तत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है। अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। इसीलिए कहा गया है कि अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन स्याद्वाद है।

स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि 'स्याद्वाद' से जिस पदार्थ का कथन होता है वह अनेकान्तात्मक है। अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन ही 'अनेकान्तवाद' है। 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है, इसलिए स्याद्वाद को अनेकान्तवाद कहते हैं। वस्तुतः स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही हैं। स्याद्वाद में स्यात् शब्द की प्रधानता रहती है। अनेकान्तवाद में अनेकान्तधर्म की मुख्यता रहती है। 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक है, 'अनेकान्त' को अभिव्यक्त करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[37]

सप्तभंगी

भंग शब्द का अर्थ है– प्रकार, विकल्प या भेद। जिससे पदार्थों का विभाग होता है वे सात प्रकार के होने से सप्तभंगी कहे जाते हैं। सप्तभंगीतरंगिणी में सप्त भंगों के समूह को सप्तभंगी कहा है।[38] आचार्य अकलंक ने सप्तभंगी की परिभाषा देते हुए कहा है कि प्रश्न समुत्पन्न होने पर एक वस्तु में अविरोध भाव से जो एक धर्म विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहते हैं।[39] महेन्द्रमुनि ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विशेषतः अनेकान्त का प्रयोजन प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है यह प्रतिपादित करना ही है। यों तो एक पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श, हल्का, भारी, सत्व, एकत्व आदि अनेक धर्म गिनाये जा सकते हैं। परन्तु 'सत्' असत् का अविनाभावी है और 'एक' अनेक का अविनाभावि है, यह स्थापित करना ही अनेकान्त का मुख्य लक्ष्य है। इसी विशेष हेतु से प्रमाणअविरोधी विधिप्रतिषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं।[40]

सात भंग

भंग सात ही क्यों माने गये हैं? इस प्रश्न पर जैनाचार्यों ने गहराई से चिन्तन प्रस्तुत किया है। इस प्रश्न का एक समाधान तो यह प्रस्तुत किया गया है कि वस्तु के एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न सात ही प्रकार से हो सकते हैं, इसलिए भंग भी सात प्रकार के होते हैं। शंकाएँ भी सात ही प्रकार की होती हैं, इसलिए जिज्ञासाएँ भी सात प्रकार की होती हैं। किसी भी एक धर्म के विषय में सात ही भंग होने से इसे सप्तभंगी कहते हैं। गणित के नियम के अनुसार भी तीन वस्तुओं के अपुनरुक्त भंग सात ही बन सकते हैं।[41]

सामान्य शब्दों में इसे हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि वस्तु चाहे अनन्तधर्मात्मक होती है, किन्तु उसके प्रत्येक धर्म विषयक प्रश्न सात प्रकार के ही

हो सकते हैं और उनका उत्तर भी सात प्रकार का होता है। इस प्रकार एक-एक धर्म में एक-एक सप्तभंगी सिद्ध होती है। अनंतधर्मात्मक वस्तु की अपेक्षा से अनन्तसप्तभंगी हो सकती है। इस सप्तभंगी का स्वरूप इस प्रकार है।

1. स्याद्अस्ति, 2. स्याद्नास्ति, 3. स्याद्अस्ति-नास्ति, 4. स्याद्अवक्तव्य, 5. स्याद्अस्ति-अवक्तव्य, 6. स्याद्नास्ति-अवक्तव्य, 7. स्याद्अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य। मूल में अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन ही भंग हैं। इनमें तीन अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य ये द्विसंयोगी भंग तथा एक अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य त्रिसंयोगी भंग मिलाने से सात भंग बनते हैं।

भगवतीसूत्र में स्याद्वाद

जैनागमों में स्याद्वाद शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रो. उपाध्याय ने इस बात का समर्थन किया है। इसके उदाहरण के रूप में उन्होंने सूत्रकृतांग की यह गाथा प्रस्तुत की है-

नो छायए नो वि य लूसएज्जा माणं य सेवेज्ज पगासणं च।
न यावि पन्ने परिहास कुज्जा न यासियावाय वियागरेज्जा (1.14.19)

लेकिन ग्रन्थ के टीकाकार यहाँ उनसे सहमत नहीं हैं। उन्होंने न चाशीर्वाद ऐसा संस्कृत प्रतिरूप किया है।[42] आगमों में स्याद्वाद शब्द के प्रयोग को लेकर मतभेद हो सकता है, किन्तु स्यात् शब्द के प्रयोग को लेकर मतभेद की कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि भगवतीसूत्र में अनेक स्थानों पर वस्तु के नानाधर्मों को स्पष्ट करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरण दृष्टव्य है;

जीवा सिय सासता, सिय असासता - (7.2.36)
जीव कथंचित् शाश्वत हैं और कथंचित् अशाश्वत हैं।
परमाणुपोग्गले णं भंते! किं सासए असासए?
गोयमा! सिय सासए, सिय असासए - (14.4.8)
भगवन् परमाणु-पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत?
गौतम! वह कथंचित् शाश्वत है और कथंचित् अशाश्वत है।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रंथ में स्यात् शब्द को 'सिय' से व्यक्त किया गया है, जिसका अर्थ है कथंचित्। भगवतीसूत्र में प्रयुक्त 'सिय' शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि आगमों में स्याद्वाद का अस्तित्व था, जिसे कि बाद के आचार्यों ने विकसित कर एक सिद्धान्त का रूप दिया।

भंगों का स्वरूप व क्रम

जैन-परंपरा में भंग सात माने गये हैं। भगवतीसूत्र में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि सप्तभंगी का यह रूप किस प्रकार विकसित हुआ है। प्रारंभ में तो विधि, निषेध, उभय और अवक्तव्य (अनुभय) इन चार भंगों की कल्पना ही हुई थी। इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत ग्रंथ में मिलते हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि किसी वस्तु का वर्णन प्रमुखतया चार विकल्पों के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है-

अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि,
तदुभयारंभा वि, नो अणारंभा।
अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा,
नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा - (1.1.7)

अर्थात् कितने ही जीव आत्मारंभी भी हैं, परारम्भी भी हैं और उभयारंभी भी हैं, किन्तु अनारंभी नहीं हैं। कितने ही जीव आत्मारंभी नहीं हैं, परारंभी नहीं हैं, और न ही उभयारंभी हैं, किन्तु अनारंभी हैं।

पोग्गलत्थिकाए णं भंते! किं गरुए,
लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए?
गोयमा! णो गरुए, नो लहुए,
गरुयलहुए वि, अगरुयलहुए वि - (1.9.8)

भगवन्! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है, लघु है, गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है? गौतम! पुद्गलास्तिकाय न गुरु है, न लघु है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

भगवतीसूत्र में इन चार पक्षों का समन्वय करने वाले ओर भी कई उदाहरण मिलते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद के मौलिक भंग चार हैं।

1. स्याद् सत् (विधि)
2. स्याद् असत् (निषेध)
3. स्याद् सत् स्याद् असत् (विधि-निषेध)
4. स्याद् अवक्तव्य (अनुभय)

अवक्तव्य का स्थान[43]

इन चार भंगों में से अन्तिम भंग अवक्तव्य है, वह दो प्रकार से हो सकता है; 1. प्रथम के दो भंगरूप से वाच्यता का निषेध करके। 2. प्रथम के तीनों भंगरूप से वाच्यता का निषेध करके।

प्रथम दो भंग रूप से जब वाच्यता का निषेध किया जाता है तो अवक्तव्य का स्थान तीसरा होता है तथा प्रारंभ के तीनों भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके जब वस्तु को अवक्तव्य कहा जाता है, तब अवक्तव्य का स्थान भंगों के क्रम में चौथा हो जाता है। भगवतीसूत्र में अवक्तव्य को तीसरे स्थान पर रखा गया है। इसी परंपरा का अनुसरण करके आगे आचार्य उमास्वाति[44] सिद्धसेन[45] तथा जिनभद्र[46] आदि आचार्यों ने अवक्तव्य को तीसरा स्थान दिया। आचार्य समन्तभद्र[47] ने अवक्तव्य को चौथा स्थान दिया है। आचार्य कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय[48] में चौथा तथा प्रवचनसार[49] में तीसरा स्थान माना है।

अन्य भंग-योजना

भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने चार भंगों के अतिरिक्त अन्य भंगों की भी योजना की है। ग्रंथ में आये उदाहरण न केवल आगमकाल में भंगों के स्वरूप को ही स्पष्ट करते हैं अपितु आगमोत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने सात भंगों को ही स्वीकार किया, इसके मूल को भी स्पष्ट करते हैं। तीन भंगों की योजना का यह उदाहरण दृष्टव्य है– **गोयमा! रयणप्पभा पुढवी 1 सिय आया, 2 सिए नो आया, 3 सिय अवत्तव्वं-आया ति य, नो आया ति य** – (12.10.19) अर्थात् 1 रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मरूप है, 2 स्यात् नो-आत्मरूप है, 3 स्यात् आत्मा है भी और आत्मा नहीं भी है अत: अवक्तव्य है।

उक्त उदाहरण में अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भंगों की योजना प्रतिपादित हुई है। इसी प्रकार सभी पृथ्वियों, सभी देवलोकों, सिद्ध, परमाणु-पुद्गल आदि के सम्बन्ध में किये गये प्रश्नोत्तरों में इन तीनों भंगों का प्रतिपादन है।

द्विप्रदेशीस्कंध के संबंध में किये गये प्रश्न के उत्तर में छ: भंगों की योजना इस प्रकार प्रस्तुत की गई है– **गोयमा! 1 दुपएसिए खंधे सिय आया, 2 सिय नो आया, 3 सिय अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य, 4 सिय आया य नो आया य, 5 सिय आया य अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य, 6 सिय नो आया य अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य** – (12.10.28) अर्थात् गौतम! 1 द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है, 2 स्यात् नोआत्मा है, 3 स्यात् आत्मरूप व नोआत्मरूप होने से अवक्तव्य है। 4 स्यात् आत्मरूप और नोआत्मरूप है, 5 स्यात् आत्मरूप व आत्मरूप और नोआत्मरूप दोनों होने से अवक्तव्य है, 6 स्यात् नोआत्मरूप व अवक्तव्य है।

इस प्रश्नोत्तर में अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य इन छः भंगों की योजना परिलक्षित होती है।

त्रिप्रदेशीस्कन्ध के संबंध में प्रश्न किये जाने पर ग्रंथ में तेरह भंगों की योजना प्रस्तुत की गई है- **गोयमा! 1 तिपएसिए खंधे सिए आया, 2 सिय नो आया, 3 सिय अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य, 4 सिय आया य नो आया य, 5 सिय आया य नो आयाओ य, 6 सिय आयाओ य नो आया य, 7 सिय आया य अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य, 8 सिय आया य अवत्तव्वाइं-आयाओ य नो आयाओ य, 9 सिय आयाओ य अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य, 10 सिय नो आया य अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य, 11 सिय नो आया य अवत्तव्वाइं-आयाओ य नो आयाओ य, 12 सिय नो आयाओ य अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य, 13 सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं-आया ति य नो आया ति य।** (12.10.29) अर्थात् हे गौतम! 1 त्रिप्रदेशीस्कन्ध स्यात् आत्मरूप है। 2 स्यात् नोआत्मरूप है। 3 स्यात् आत्मरूप व नोआत्मरूप होने से अवक्तव्य है। 4 स्यात् आत्मरूप और स्यात् नोआत्मरूप है। 5 स्यात् आत्मरूप व अनेक नोआत्मरूप है। 6 स्यात् अनेक आत्मरूप है व नोआत्मरूप है। 7 स्यात् आत्मरूप व अवक्तव्य है। 8 स्यात् आत्मरूप और अनेक आत्मरूप व अनेक नोआत्मरूप होने से अवक्तव्य है। 9 स्यात् अनेक आत्मरूप व अवक्तव्य है। 10 स्यात् नोआत्मरूप और अवक्तव्य है। 11 स्यात् नोआत्मरूप और अनेक आत्मरूप व अनेक नो आत्मरूप होने से अवक्तव्य है। 12 स्यात् अनेक नोआत्मरूप तथा अवक्तव्य है। 13 स्यात् आत्मरूप, नोआत्मरूप व अवक्तव्य है।

उपर्युक्त विवेचन में ग्रंथ में तेरह भंगों की योजना की गई है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो यहाँ मूल भंग-योजना सात ही है- 1. अस्ति, 2. नास्ति, 3. अवक्तव्य, 4. अस्ति-नास्ति 5. अस्ति-अवक्तव्य, 6. नास्ति-अवक्तव्य, 7. अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। इन्हीं सात मूल भंगों को आगे के आचार्यों ने अपने सप्तभंगी विवेचन में स्थान दिया है। इन तेरह भंगों में शेष छः भंग एक-वचन व बहुवचन की विवक्षा के कारण हैं। यदि वचनभेद की विवक्षा से प्रस्तुत किये गये 5, 6, 8, 9, 11 तथा 12वें भंग को निकाल दिया जाय तो मूल भंग सात शेष रह जायेंगे। इसके अतिरिक्त ग्रंथ में चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के संबंध में प्रश्न करने पर 19 भंगों की योजना, पंचप्रदेशी स्कंध के संबंध में प्रश्न करने पर 22 भंगों की योजना तथा

षट्प्रदेशिक स्कन्ध के संबंध में प्रश्न करने पर 23 भंगों की योजना भी प्रस्तुत की गई है। इन सभी के मूल में भी सात ही भंग हैं, शेष सभी भेद एकवचन व बहुवचन की अपेक्षा से किये गये हैं।

भगवतीसूत्र में प्रस्तुत किये गये उक्त उदाहरण इस बात को पूर्णरूप से प्रतिपादित करते हैं कि सभी विरोधी धर्म-युगलों को लेकर सात ही भंग हो सकते हैं। इससे अधिक भंगों की जो संख्या सूचित की गई है वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं है, सिर्फ वचन की अपेक्षा मात्र से है। अत: यह स्वीकार करने में कोई संदेह नहीं कि भगवतीसूत्र में सप्तभंगी का मूल रूप सुरक्षित है।

भगवतीसूत्र में प्रतिपादित भंग योजना के भिन्न-भिन्न उदाहरणों से निम्न निष्कर्ष फलित होते हैं- (1) स्याद्वाद के भिन्न-भिन्न भंगों के उत्थान में वस्तु के विधिरूप और निषेधरूप इन्हीं दोनों विरोधी धर्म युगलों की स्वीकृति अपेक्षित है। (2) उक्त दोनों भंगों से शेष सभी भंगों की रचना के लिए अपेक्षा कारण अवश्य होना चाहिये। (3) भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं की सूचना के लिए प्रत्येक भंग-वाक्य में 'स्यात्' ऐसा पद रखा जाना चाहिये। इसी से यह वाद स्याद्वाद कहलाता है। (4) मूल भंग सात हैं। शेष भंग इन्हीं सात भंगों की एक वचन अथवा बहुवचन से विवक्षा के कारण है। (5) सकलादेश व विकलादेश की कल्पना भी भगवतीसूत्र की सप्तभंगी में विद्यमान थी। प्रारंभ के तीन भंग सकलादेशी भंग हैं तथा शेष भंग विकलादेशी हैं।[50]

नयवाद

'नय' जैन दर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा है, अन्य किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं है। जैन परंपरा अर्हत्वाणी के उद्भव के साथ-साथ ही नय का उद्भव मानती है। नयवाद वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए विभिन्न एकांगी दृष्टियों का सुन्दर समन्वय कर सर्वांगीण दृष्टि को प्रस्तुत करता है। प्राय: जितने भी दर्शन हैं, वे अपना एक विशिष्ट पक्ष प्रस्तुत करते हुए विपक्ष का निरासन करते हैं। लेकिन जैन-दर्शन ने उन सभी दर्शनों का अवलोकन कर उन्हें समझने का प्रयास किया और यह निष्कर्ष निकाला कि नाना मनुष्यों के वस्तुदर्शन में जो भेद हो जाता है, उसका कारण केवल वस्तु की अनेकरूपता या अनन्तधर्मात्मकता ही नहीं है अपितु मनुष्यों का अपना दृष्टिभेद भी है। अत: जैन-दर्शन ने किसी मत का निरासन न करते हुए सभी मतों व दर्शनों को वस्तुरूप के दर्शन में योग्य स्थान दिया है। प्रत्येक मत में से कदाग्रह के विष को निकालकर उस मत में सच्चाई को

प्रतिपादित करने वाले कारण की खोज कर उस मत के समर्थन में उस कारण को प्रस्तुत कर नयवाद का प्रतिपादन किया है।

नय की परिभाषा

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं, जो प्रमाण द्वारा जानी गई वस्तु के एक देश को स्पर्श करता है।[51] वस्तुतः प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है तथा नय प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को जानता है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में नय की परिभाषा इस प्रकार दी है– **स्याद्वाद प्रविभक्तार्थविशेष व्यञ्जको नयः** – (106) अर्थात् स्याद्वाद के द्वारा गृहीत अर्थ के विशेषों अर्थात् धर्मों का जो अलग-अलग कथन करता है, उसे नय कहते हैं।

प्रमाण को सकलादेशी व नय को विकलादेशी कहा गया है। प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु को शब्द की तरंगों से अभिव्यक्त करने के लिए जो ज्ञान का रूझान है वह नय है। नय प्रमाण से उत्पन्न होता है, अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। नय प्रमाणरूपीसागर का वह अंश है, जिसे ज्ञाता ने अपने अभिप्राय के पात्र में भर लिया है। वास्तव में अनेकधर्मात्मक वस्तु को जानने के लिए नयवाद का सहारा लिया जाता है। सापेक्षता का मूल आधार नयवाद ही है।[52]

नय के प्रकार

आचार्य सिद्धसेन[53] के अनुसार वचन के जितने भी प्रकार या मार्ग हो सकते हैं, नय के भी उतने ही भेद हैं। नय के जितने भेद हैं, उतने ही मत हैं। इस दृष्टि से नय के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। किन्तु, जैन-दर्शन में श्वेताम्बर व दिगम्बर परंपरा के ग्रंथों में नयों की संख्या मुख्य रूप से सात मानी गई है; स्थानांगसूत्र[54], अनुयोगद्वार[55], राजवार्तिक[56] आदि ग्रंथों में निम्न सात नयों का उल्लेख हुआ है।

1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार, 4. ऋजुसूत्र, 5. शब्द, 6. समभिरूढ़, 7. एवंभूत।

इन सातों नयों में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय शब्द को विषय करने के कारण शब्दनय हैं तथा नैगम, संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र अर्थ को विषय करने के कारण अर्थनय हैं। आचार्य सिद्धसेन[57] ने नैगमनय को स्वतंत्र न मानकर नय के छः भेद माने हैं। आचार्य उमास्वाति[58] ने मूलरूप से नय के पाँच ही भेद स्वीकार किये हैं– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द।

भगवतीसूत्र में नय विवेचन

भगवतीसूत्र जैन तत्त्वविद्या का आकर ग्रंथ है। ग्रंथ में तत्त्वविद्या के प्रश्नों के समाधान में भगवान् महावीर द्वारा अनेकान्तदृष्टि का प्रयोग किया गया और अनेकान्तदृष्टि का मूल आधार नयवाद ही है। इस संबंध में आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवई[59] खण्ड-1 की प्रस्तावना में लिखा है कि प्रस्तुत आगम में तत्त्वविद्या का प्रारंभ 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्न से होता है। जैन दर्शन में प्रत्येक तत्त्व का प्रतिपादन अनेकान्त की दृष्टि से होता है। एकान्त दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित दोनों एक क्षण में नहीं हो सकते। अनेकान्त की दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित दोनों एक क्षण में होते हैं। समूचे आगम में अनेकान्त दृष्टि का पूरा उपयोग किया गया है अनेकान्त का स्वरूप है नयवाद या दृष्टिवाद। मध्य युग में तर्कप्रधान आचार्यों ने अनेकान्त का प्रमाण के साथ संबंध स्थापित किया है, वह मौलिक नहीं है। अनेकान्तवाद के अनुसार प्रमाण औपचारिक है, वास्तविक है नय। इस कथन से नयों का महत्त्व उजागर होता है।

नय का उद्‌गम

वर्तमान में जैन परंपरा में नय का जो रूप है, उसका प्रारंभिक स्वरूप कैसा रहा होगा? नयों का उद्‌भव कहाँ से हुआ? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने पर हमें दो परंपराएँ प्राप्त होती हैं, जो समकालीन ही प्रतीत होती हैं। प्रथम परंपरा भगवतीसूत्र[60] में मिलती है, जहाँ नय के मुख्य रूप से द्रव्यार्थिक व भावार्थिक ये दो भेद किये गये हैं। यहाँ भावार्थिक नय से तात्पर्य पर्यायार्थिक नय से ही है।

दूसरी परम्परा कषायपाहुड चूर्णि[61] नामक ग्रंथ में उपलब्ध होती है। यहाँ नय के पाँच भेदों की चर्चा की गई है– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र व शब्द नय।

इन दोनों परंपराओं में से भगवतीसूत्र में उल्लेखित परंपरा ही अधिक प्राचीन सिद्ध होती है क्योंकि बाद के दिगम्बर[62] व श्वेताम्बर[63] जैनाचार्यों ने जो ग्रंथ लिखे उन्होंने स्पष्ट रूप से द्वितीय परम्परा के पाँचों नयों का समावेश प्रथम परम्परा के दो नयों में किया है। उनका यह विवेचन स्पष्ट करता है कि भगवतीसूत्र में विवेचित नय का स्वरूप नयवाद का उद्‌गम स्थल रहा है। यह विवेचन नय के प्राचीन स्वरूप को ही स्पष्ट करता है।

भगवतीसूत्र के अध्ययन से दूसरी महत्त्वपूर्ण जानकारी यह प्राप्त होती है कि इसमें नय की न तो कोई व्यवस्थित परिभाषा दी गई है न ही परवर्ती ग्रंथों में प्राप्त

सात नयों का उल्लेख इस ग्रंथ में कहीं हुआ है। ये सभी इस बात का प्रमाण हैं कि इस काल में अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को विवेचित करने के लिए नय का उद्‌भव होता दिख रहा था।

नय का स्वरूप

भगवतीसूत्र में सात नयों का उल्लेख उस रूप में नहीं प्राप्त होता है, जैसा आज जैन-परम्परा में प्रचलित है। तथापि नयवाद के वर्तमान रूप के मूल स्वरूप को समझने में यह ग्रंथ काफी सहायक है। यहाँ नयवाद के बीज मौजूद हैं। नयवाद का जो स्वरूप इसमें वर्णित है उसे निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

एक ही वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। साथ ही दृष्टा की रुचि और शक्ति, दर्शन का साधन, दृश्य की देशिक और कालिक स्थिति, दृश्य का स्थूल और सूक्ष्मरूप आदि अनेक कारण हैं, जिनसे एक ही वस्तु के विषय में अनेक मतों की सृष्टि होती है। इनकी गणना भी असंभव है और जब इन मतों की गणना असंभव है तो इन मतों के उत्थानभूत नयों की गणना की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

इस असंभव को ध्यान में रखते हुए भगवान् महावीर ने सभी प्रकार की अपेक्षाओं का साधारणीकरण करते हुए उनका चार प्रकार से वर्गीकरण किया- द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव। इसी के आधार पर प्रत्येक वस्तु के भी चार प्रकार हो जाते हैं। अर्थात् दृष्टा के पास चार दृष्टियाँ, अपेक्षाएँ, आदेश हैं, और वह इन्हीं के आधार पर वस्तुदर्शन करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तु का जो कुछ रूप हो, वह इन चारों में से किसी एक में अवश्य समाविष्ट हो जाता है और दृष्टा जिस किसी दृष्टि से वस्तुदर्शन करता है, उसकी वह दृष्टि भी इन्हीं चारों में से किसी एक के अन्तर्गत हो जाती है।[64]

भगवतीसूत्र में ऐसे कई उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहाँ अनेक विरोधों का परिहार इन चार दृष्टियों और वस्तु के इन चार रूपों के आधार पर किया गया है। लोक की सान्तता व अनन्तता, जीव की सान्तता व अनन्तता, जीव की नित्यानित्यता, परमाणु की शाश्वतता-अशाश्वतता, चरमता-अचरमता आदि अनेक विरोधों का परिहार करने के लिए ग्रंथ में द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चारों दृष्टियों का प्रयोग किया गया है।[65] ग्रंथ में ऐसे भी कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल व

भाव की दृष्टि से वस्तु के चार भेद किये गये हैं।[66] यथा– परमाणु चार प्रकार बताया गया है; द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु व भाव परमाणु। इसी प्रकार लोक के चार भेद किये गये हैं; द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक व भावलोक।

भगवतीसूत्र में कहीं-कहीं वस्तु के स्वरूप वर्णन में चार से अधिक दृष्टियों का भी प्रयोग हुआ है। लोक के आधारभूत द्रव्यों– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व आकाश के स्वरूप के वर्णन में द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के साथ-साथ गुण को भी समाविष्ट किया गया है।[67] इसी प्रकार तुल्यता पर विचार करते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के साथ भव तथा संस्थान को भी स्थान दिया गया है।[68]

वस्तुतः मुख्य रूप से तो दृष्टियाँ चार ही हैं, चार से अधिक दृष्टियों को बताते समय भाव के अवान्तर भेदों को ही भाव से पृथक् करके स्वतंत्र स्थान दिया गया है। धर्मास्तिकायादि द्रव्यों को जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व गुण दृष्टि से पाँच प्रकार का बताया तब भाव विशेष दृष्टि को गुण के रूप में पृथक् स्थान दिया है, यह स्पष्ट है। क्योंकि गुण वस्तुतः भाव अर्थात् पर्याय ही है। इसी प्रकार करण के पाँच प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव बताये हैं तब वहाँ भी प्रयोजनवशात् भाव-विशेष भव को पृथक् स्थान दिया गया है और इसी तरह तुल्यता का विचार करते समय भाव विशेष भव तथा संस्थान को स्वतंत्र स्थान दिया गया है। अतः मध्यम मार्ग से चार दृष्टियाँ ही ग्रंथ में मुख्य रूप से विवेचित हुई हैं।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक[69]

भगवतीसूत्र में प्रायः वस्तुस्वरूप के वर्णन में चार दृष्टियों का प्रयोग हुआ है, किन्तु ग्रंथ में अन्यत्र इन चारों दृष्टियों का समावेश दो नयों में किया गया है। द्रव्यार्थिकनय व भावार्थिकनय (पर्यायार्थिक नय)। ग्रंथ में कहा गया है कि द्रव्य की दृष्टि से जीव शाश्वत है व भाव (पर्याय) दृष्टि से जीव अशाश्वत है। परमाणु की शाश्वतता व अशाश्वतता के विवेचन में द्रव्य व पर्याय दृष्टि का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि भगवतीसूत्र में पर्यायार्थिक नय के लिए भाव व पर्याय दोनों शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः देखा जाय, तो काल और देश (क्षेत्र) के भेद से द्रव्यों में विशेषताएँ अवश्य होती हैं। अतएव काल और क्षेत्र, पर्यायों के कारण होने से, यदि पर्यायों में समाविष्ट कर लिए जाए तब तो मूलतः दो ही दृष्टियाँ रह जाती हैं– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। आचार्य सिद्धसेन[70] ने इस बात को इंगित करते हुए कहा है कि भगवान् महावीर के प्रवचन में वस्तुतः ये ही मूल दो दृष्टियाँ हैं, शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं दो की शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं।

यद्यपि आगे चलकर जैनागमों[71] में मूल नयों की संख्या सात मानी गई है। नैगम आदि। लेकिन अपनी व्यापकता के कारण ये दोनों दृष्टियाँ सातों मूल नयों को अपने में समाहित किये हुए हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टि वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करती है तथा पर्यायार्थिक दृष्टि वस्तु की अनित्यता का प्रतिपादन करती है। नारक जीवों की नित्यता व अनित्यता को प्रस्तुत करते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है– अव्युच्छित्तिनय (द्रव्यार्थिक नय) की अपेक्षा से नारक शाश्वत है और व्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से नारक अशाश्वत है।[72]

भगवतीसूत्र में द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए द्रव्य दृष्टि को अभेदगामी व पर्यायार्थिक दृष्टि को भेदगामी बताया गया है। सोमिल ब्राह्मण के साथ हुए प्रश्नोत्तर में भगवान् महावीर ने कहा है– 'द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ व ज्ञान-दर्शन की दृष्टि से मैं अनेकभूत-भाव-भाविक भी हूँ।'[73] स्पष्ट है कि द्रव्यदृष्टि नित्य व एकत्वगामी है। क्योंकि नित्य एकरूप होता है तथा पर्यायदृष्टि अनित्य व अनेकत्वगामी है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें सभी दृष्टियों का समावेश सहज रीति से हो जाता है।[74]

द्रव्यार्थिक-प्रदेशार्थिक

भगवतीसूत्र में द्रव्य व पर्याय दृष्टि के साथ-साथ वस्तु स्वरूप के वर्णन में द्रव्य व प्रदेश दृष्टि का भी प्रयोग किया गया है। द्रव्यदृष्टि से जो वस्तु एक हो सकती है, वही वस्तु प्रदेशों की दृष्टि से अनेक भी हो सकती है। क्योंकि उसमें रहे हुए प्रदेशों की संख्या अनेक होती है। प्रदेश व पर्याय में अन्तर स्पष्ट करते हुए मालवणिया जी ने लिखा है कि एक ही द्रव्य की नाना अवस्थाओं को या एक ही द्रव्य के देशकाल कृत नाना रूपों को पर्याय कहा जाता है। जबकि द्रव्य के घटक अर्थात् अवयव ही प्रदेश कहे जाते हैं। कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत होते हैं जैसे– जीव, धर्म, अधर्म, आकाश के प्रदेश नियत हैं, वे घटते-बढ़ते नहीं हैं जबकि पुद्गल के प्रदेश में न्यून-अधिकता रहती है, वे घटते-बढ़ते हैं।[75]

सोमिल ब्राह्मण के साथ हुए प्रश्नोत्तर में द्रव्य, पर्याय, प्रदेश व गुण दृष्टि द्वारा विरोध परिहार का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है[76]। पर्याय दृष्टि से भिन्न प्रदेश दृष्टि को स्वीकार करते हुए भगवान् महावीर ने स्वयं को आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से अक्षय, अव्यय व अवस्थित रूप में स्वीकार किया है। यहाँ प्रदेश दृष्टि का उपयोग जीव के अक्षयादि धर्मों को दृष्टि में रखकर किया गया है क्योंकि आत्मा के प्रदेश

नियत होते हैं। प्रदेश दृष्टि से वस्तु की अनेकता को भी स्पष्ट किया जा सकता है, इसका उदाहरण हमें प्रज्ञापनासूत्र में मिलता है, जहाँ द्रव्य दृष्टि से धर्मास्तिकाय को एक बताया है तथा प्रदेशार्थिक दृष्टि से असंख्यातगुण बताया है।

भगवतीसूत्र[77] में धर्मास्तिकायादि छः द्रव्यों के अल्प-बहुत्व, तुल्य-अतुल्य का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु इसका विस्तृत रूप से विवेचन न करते हुए प्रज्ञापनासूत्र के बहुवक्तव्य पद के अनुसार समझने के लिए कहा गया है। प्रज्ञापनासूत्र[78] में इसका विवेचन इस प्रकार मिलता है- जो द्रव्य द्रव्यदृष्टि से तुल्य होते हैं, वे ही प्रदेशार्थिक दृष्टि से अतुल्य हो जाते हैं। जैसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यदृष्टि से एक-एक होने के कारण तुल्य हैं, किन्तु असंख्यात प्रदेशी होने के कारण धर्म-अधर्म आपस में तो तुल्य हैं, किन्तु आकाश अनन्त प्रदेशी है अतः आकाश अतुल्य है। इसी प्रकार जीवादि अन्य द्रव्यों में भी द्रव्य व प्रदेश दृष्टियों के माध्यम से तुल्यता-अतुल्यता दोनों का समावेश हो जाता है।

ओघादेश-विधानादेश

वस्तु की संख्या तथा भेद-अभेद पर विचार करने के लिए ओघादेश व विधानादेश इन दो दृष्टियों का भी प्रयोग मिलता है। जैन परंपरा में तिर्यग्सामान्य और उसके विशेषों को व्यक्त करने के लिए क्रमशः ओघ व विधान शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अतः वस्तु स्वभाव का वर्णन इन दो दृष्टियों के प्रयोग द्वारा भी किया जा सकता है। कृतयुग्मादि संख्या के विचार में ओघादेश व विधानादेश दृष्टियों का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण दृष्टव्य है;

जीवां णं भंते! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा! ओघादेसेणं कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावर० , नो कलियोगा; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावरजुम्मा, कलियोगा

- (25.4.31)

भगवन्! (अनेक) जीव द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म है? इत्यादि प्रश्न।

गौतम! वे ओघादेश से (सामान्यतः) कृतयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योजरूप नहीं हैं। विधानादेश (प्रत्येक की अपेक्षा) से वे कृतयुग्म, त्र्योज तथा द्वापरयुग्म नहीं हैं, किन्तु कल्योजरूप हैं।

व्यावहारिक व नैश्चयिक नय

जो नय वस्तु के मूल एवं पर-निरपेक्ष स्वरूप को बतलाता है वह निश्चयनय है और जो नय वस्तु के पराश्रित स्वरूप को बताता है वह व्यवहार नय है। अर्थात्

वस्तु के पारमार्थिक-तात्त्विक-शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चयनय से होता है और अशुद्ध-अपारमार्थिक स्वरूप का ग्रहण व्यवहार नय से होता है। अपने-अपने क्षेत्र में ये दोनों नय सत्य हैं क्योंकि व्यवहार में लोक इन्द्रियों के दर्शन की प्रधानता से वस्तु के स्थूल रूप का निर्णय करते हैं, और अपना निर्बाध व्यवहार चलाते हैं परन्तु इस स्थूल रूप के अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्मरूप भी है, जो इन्द्रियगम्य नहीं है केवल प्रज्ञागम्य है। यही निश्चय नय है। इन दोनों नयों के द्वारा ही वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन होता है।

भगवतीसूत्र[79] में वस्तु के स्वरूप प्रतिपादन में दोनों नयों का प्रयोग किया गया है। फाणित (प्रवाही) गुड़ के स्वरूप को दोनों नयों से समझाते हुए कहा है कि व्यावहारिक नय से तो गुड़ मधुर ही है, किन्तु नैश्चयिक नय की अपेक्षा से वह पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और आठ स्पर्शों से युक्त है। इसी प्रकार भ्रमर, तोते की पाँख, राख आदि वस्तुओं के स्वरूप का विश्लेषण व्यावहारिक व नैश्चयिक नयों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

भगवतीसूत्र में वर्णित विभिन्न प्रकार के नयों के प्रारंभिक स्वरूप को समझकर ही हम इनके विकसित स्वरूप (सात नयों) को समझ सकते हैं। नयों के सही प्रयोग द्वारा ही जैन-दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद को समझा जा सकता है। परवर्ती जैनाचार्यों ने इन्हीं के माध्यम से तत्त्वविज्ञान, आचारविज्ञान आदि से संबंधित अनेक प्रश्नों का समाधान किया है।

संदर्भ

1. (क) एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति - ऋग्वेद, 1.164.46, (ख) वही, 10.129
2. मज्झिमनिकाय, सुत्त, 99
3. जैन, रमेशचन्द्र - अनेकान्त एवं स्याद्वाद् विमर्श
4. मालवणिया, दलसुख - आगमयुग का जैन दर्शन , पृ. 51-52
5. व्या. सू., 16.6.20-21
6. आगम युग का जैन दर्शन, पृ. 53
7. मेहता, मोहनलाल - जैन धर्म-दर्शन , पृ. 335-336
8. व्या. सू., 7.2.1
9. वही, 12.2
10. सन्मति प्रकरण, प्रस्तावना, पृ. 84
11. आत्मख्याति टीका, 10.247
12. सूत्रकृतांग, मुनि मधुकर, 1.14.22, पृ. 435
13. आगम-युग का जैन दर्शन, पृ. 54

14. वही, पृ. 58
15. व्या. सू., 2.1.24, 9,33,101
16. वही, 2.1.24
17. वही, 7.3.23
18. वही, 9.33.101, 1.4.11
19. आगम-युग का जैन दर्शन, पृ. 72
20. व्या. सू., 2.1.24
21. आगम-युग का जैन दर्शन, पृ. 73
22. व्या. सू., 1.4.7-10
23. वही, 14.4.1-4
24. वही, 20.5.15-19
25. वही, 18.10.27
26. प्रज्ञापनासूत्र, पद 3, सूत्र 56
27. वही, 13.7.15-18
28. 'आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे' - वही, 1.9.21
29. वही, 12.10.10, 16
30. वही, 1.9.28
31. वही, 12.10.1
32. वही, 7.10.6
33. अत्थित्तं अत्थिते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति - वही, 1.3.7
34. आप्तमीमांसा (तत्व दीपिका), पृ. 326, 327
35. 'सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते' - लघीयस्त्रय, तृतीय प्रवचन प्रवेश, श्लोक 63, पृ. 22
36. 'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वाद्...' - वही, श्लोक 62, पृ. 21
37. मेहता, मोहनलाल, जैन धर्म-दर्शन, पृ. 359
38. सप्तभंगीतरंगिणी, पृ. 1
39. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.6 पृ. 32
40. जैन दर्शन, पृ. 374
41. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 254
42. आगम-युग का जैन दर्शन, पृ. 92-93
43. वही, पृ. 99-100
44. तत्त्वार्थभाष्य, 5.3
45. सन्मतिप्रकरण, 1.36
46. विशेषावश्यकभाष्य, 2232
47. आप्तमीमांसा सम्पा. छाबड़ा जयचन्द, 16, पृ. 25

48. पंचास्तिकाय, गा. 14
49. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गा. 115
50. आगम-युग का जैन दर्शन, पृ. 112-114
51. 'नयो ज्ञातुरभिपायः' - लघीयस्त्रय, तृतीय प्रवचन प्रवेश, श्लो. 52, पृ. 18
52. जैन, महेन्द्र कुमार- जैन दर्शन, पृ. 333
53. 'जावइया वयणवहा तावइया चेव हुन्ति णयवाया' - सन्मतिप्रकरण, 3.47
54. स्थानांगसूत्र, सम्पा. मुनि मधुकर, 7.38, पृ. 582
55. अनुयोगद्वार, 156
56. राजवार्तिक, 1.33, पृ. 94
57. सन्मतिप्रकरण, नयप्रकरण (प्रथम कांड)
58. तत्त्वार्थसूत्र, 1.34
59. भगवई (खण्ड-1), सम्पा. आचार्य महाप्रज्ञ, प्रस्तावना, पृ. 16
60. व्या. सू., 7.2.36
61. कषायपाहुड चूर्णि, सम्पा. जैन हीरालाल, निक्षेपसूत्र, 24-26, पृ. 17
62. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, 1.33.241, पृ. 100
63. जैन तर्क भाषा, नय परिच्छेद, यशोविजय
64. आगम-युग का जैन दर्शन, पृ. 115-116
65. व्या. सू., 2.1.24, 9.33.101, 5.8.5, 14.4.9
66. वही, 20.5.15, 2.1.24
67. वही, 2.10.2-6
68. 'छव्विहे तुल्लए पण्णत्ते, तं जहा दव्वतुल्लए खेत्ततुल्लए कालतुल्लए भवतुल्लए भावतुल्लए संठाणतुल्लए - वही, 14.7.4
69. व्या. सू. 7.2.36, 14.4.8
70. सन्मतिप्रकरण, प्रथम काण्ड, 1.3, पृ. 2
71. अणुयोगद्वाराइं, सम्पा. आचार्य महाप्रज्ञ, 13.715, पृ. 376
72. व्या. सू. 7.3.23
73. वही, 18.10.27
74. आगम-युग का जैन दर्शन, पृ. 118
75. वही, पृ. 119
76. व्या. सू. 18.10.27
77. व्या. सू. 25.4.17
78. प्रज्ञापनासूत्र, तृतीय पद, सूत्र, 270-272
79. व्या. सू., 18.6.1-5

महावीरेतर

दार्शनिक परम्पराएँ

महावीरेतर दार्शनिक परम्पराएँ

भगवतीसूत्र महावीर द्वारा प्रतिपादित जैन-धर्म दर्शन का ग्रंथ है, किन्तु प्रसंगवश इसमें गौतम गणधर एवं अन्य शिष्यों द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर प्रदान करने में भगवान् महावीर ने अन्य दार्शनिक मान्यताओं के विषय में भी प्ररूपणा की है।

भगवान् महावीर का काल धर्म-दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। अनेक मतमतान्तर प्रचलित थे। सूत्रकृतांग में महावीरकालीन तीन सौ तरेसठ दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः सभी दर्शन अपने-अपने ढंग से आत्मा तथा जगत की व्याख्या करने में जुटे थे। चूंकि उस समय साम्प्रदायिक कट्टरता का अभाव था अतः दार्शनिक सत्य की प्राप्ति हेतु परस्पर संवाद एवं शास्त्रार्थ करते थे। भगवतीसूत्र में अनेक स्थानों पर महावीर एवं उनकी परंपरा के अन्य श्रमणों के साथ पार्श्व परंपरा के स्थविर, मंखलि गोशालक, स्कन्दक परिव्राजक, जमालि आदि के प्रश्नोत्तर एवं संवाद परिलक्षित होते हैं। इन संदर्भों में महावीरेतर दार्शनिक परंपराओं के विषय में सामग्री उपलब्ध होती है। इन्हीं प्रसंगों के आधार पर महावीरेतर दार्शनिक परंपराओं का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इन मान्यताओं का विवेचन इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति महावीर-दर्शन से भिन्न धारणाओं को समझें फिर विवेक के आलोक में सही गलत का निर्णय करे। इससे महावीर दर्शन के प्रति उसकी आस्था दृढ़ होगी और अन्य मिथ्या मान्यताओं से वह मुक्त भी हो सकेगा।

पार्श्वापत्यीय

प्रस्तुत आगम में तेईसवें ऐतिहासिक तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनार्थ के चातुर्याम धर्म व उनके अनुयायियों का उल्लेख हुआ है। ग्रंथ के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर के काल में पार्श्वपरंपरा के सैंकड़ों श्रमण मौजूद थे। भगवतीसूत्र[1] के दूसरे शतक में यह उल्लेख है कि पार्श्वापत्यीय स्थविर पाँच सौ अनगारों के साथ तुंगिका नगरी में पधारे। तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों ने उनसे

विभिन्न प्रश्न पूछे। स्थविरों द्वारा उनका समाधान किया गया। उत्तराध्ययन[2] में भगवान पार्श्व को चातुर्याम धर्म का संस्थापक तथा भगवान् महावीर को पंच महाव्रतरूप धर्म का प्रणेता स्वीकार किया गया है। चातुर्याम धर्म से तात्पर्य है चार महाव्रत वाला वह धर्म जिसे महामुनि पार्श्व ने बताया। ये चार महाव्रत इस प्रकार हैं– 1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. चौर्य त्याग, 4. बहिद्धा–दानत्याग (यहाँ **अपरिग्रह** के स्थान पर बहिद्धा–दानत्याग शब्द का प्रयोग हुआ है)। भगवान् पार्श्वनाथ ने ब्रह्मचर्य महाव्रत को परिग्रह त्याग में ही समाविष्ट कर दिया था, क्योंकि उन्होंने **मैथुन** को परिग्रह के अंतर्गत ही माना था। भगवान् महावीर के समय तक बहिद्धादानत्याग महाव्रत के संबंध में कुछ मिथ्या मान्यताएँ व कुतर्क प्रचलित हो गये। इनके निराकरण के लिए भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य को चतुर्थ महाव्रत के रूप में पृथक् स्थान दिया और पंच महाव्रतात्मक धर्म इस प्रकार बताया–

1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अचौर्य, 4. ब्रह्मचर्य, 5. अपरिग्रह

भगवतीसूत्र[3] में उल्लेख हुआ है कि पार्श्वापत्यीय अनगार कालास्यवेषि पुत्र भगवान् महावीर के स्थविर भगवंतों के साथ सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक, व्युत्सर्ग आदि के विषय में अपनी शंकाओं का समाधान करते हैं। अंत में उनसे प्रभावित होकर चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रतरूप धर्म स्वीकार करते हैं। पार्श्वापत्यीय गांगेय अनगार की भगवान् महावीर के साथ अनेक विषयों पर चर्चा का ग्रंथ[4] में विस्तार से वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर के पास अपनी शंकाओं का समाधान कर गांगेय अनगार महावीर के सर्वज्ञ व सर्वदर्शी रूप से अवगत होते हैं तथा चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रतरूप धर्म को स्वीकार करते हैं।

जमालि

भगवतीसूत्र के अध्ययन से यह तथ्य भी उजागर होता है कि जमालि अनगार ने भगवान् महावीर के काल में ही उनसे पृथक् होकर अपने नये सिद्धान्त की प्ररूपणा की थी। अर्थात् जैन धर्म में यहीं से मतभेद का प्रारम्भ हो गया था। जमालि अनगार ने 500 पुरुषों के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की थी। किन्तु, अत्यंत महत्त्वाकांक्षी तथा अहंकारी होने के कारण ये भगवान् महावीर की अनुमति लिए बिना ही अपने अनुयायियों के साथ अन्यत्र विहार कर गये और एक दिन उन्होंने अपने पृथक् सिद्धांत का निरूपण किया। इसका उल्लेख ग्रंथ[5] में इस प्रकार हुआ है– 'प्रबल वेदना से ग्रस्त जमालि अनगार द्वारा आदेश देने पर

श्रमण उसके लिए बिछौना बिछाने लगते हैं। बिछाने का कार्य समाप्त न होने से पहले ही जमालि उनसे पूछते हैं कि क्या बिछौना बिछ गया? तब श्रमण कहते हैं– बिछा नहीं, बिछाया जा रहा है। इस पर जमालि को यह अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि (महावीर के सिद्धांत) चलमान चलित है, उदीर्यमान उदीरित है, आदि मिथ्या हैं।' वह अपने शिष्यों को बुलाकर अपने नवीन सिद्धांत की प्ररूपणा करते हैं कि चलमान चलित नहीं, अचलित है आदि।

वस्तुतः जमालि अनगार द्वारा महावीर के सिद्धांत के प्रति एकान्त दृष्टि अपनाने के कारण उनका सिद्धान्त मिथ्या बताया गया है। विशेषावश्यकभाष्य[6] में भी श्रावस्ती में प्रादुर्भूत 'बहुरत' नामक निह्नवदर्शन के प्रवर्तक जमालि का वर्णन है। उसका मन्तव्य था– 'जो कार्य किया जा रहा है उसे सम्पूर्ण न होने तक 'किया गया' ऐसा कहना मिथ्या है।' भगवतीसूत्र में जमालि की इस मिथ्या एकांत दृष्टि के कारण उसके लिए दर्शनभ्रष्टवेषधारी शब्द का प्रयोग हुआ है।[7] दर्शनभ्रष्टसलिंगी को स्पष्ट करते हुए भगवतीवृत्ति[8] में कहा गया है कि 'साधु के वेष में होते हुए भी दर्शन भ्रष्टनिह्नव दर्शनभ्रष्टस्ववेषधारी है। ऐसा साधक आगम के अनुसार क्रिया करता हुआ भी निह्नव होता है, जिनदर्शन के विरुद्ध प्ररूपणा करता है, जैसे जमालि।'

आजीविक मत

भगवतीवृत्ति[9] में आचार्य अभयदेवसूरि ने 'आजीविक' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि एक खास प्रकार के पाखण्डी नग्न रहने वाले गोशालक के शिष्य, लब्धिप्रयोग करके अविवेकी लोगों द्वारा ख्याति प्राप्त करने वाले या महिमा-पूजा के लिए तप और चारित्र का अनुष्ठान करने वाले अविवेकी लोगों में चमत्कार दिखाकर अपनी आजीविका चलाने वाले (आजीविक) हैं।

प्राचीन जैनागमों– स्थानांगसूत्र, औपपातिकसूत्र, उपासकदशांग आदि ग्रंथों में आजीविक मत के संबंध में यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं। किन्तु, भगवतीसूत्र ऐसा ग्रंथ है, जिसमें आजीविक मत के आचार्य गोशालक का विस्तृत जीवन चरित वर्णित हुआ है।

गोशालक का जीवन वृत्त

गोशालक के पिता मंखली मंख जाति के थे। उस मंखली के भद्रा नाम की पत्नी थी। मंखली चित्रफलक हाथ में लेकर मंखवृत्ति से जीविकायापन हेतु ग्रामानुग्राम विचरण करता था। एक बार वह शरवण नामक सन्निवेश में गोबहुल

ब्राह्मण की गोशाला में पहुँचा। वहीं पर भद्रा ने एक बालक को जन्म दिया। ब्राह्मण की गोशाला में जन्म लेने के कारण बालक का नाम गोशालक रखा गया। युवा होने पर गोशालक ने स्वयं अपना चित्रफलक तैयार किया और मंखवृत्ति से भिक्षा माँगते हुए विचरण करने लगा।

इधर दीक्षा पर्याय के प्रथम वर्ष में वर्षावास हेतु तीर्थंकर महावीर राजगृह नगर में नालन्दा पाड़ा के बाहर किसी तन्तुवायशाला में ठहरे हुए थे। उसी समय गोशालक भी वहीं पहुँचा और वह भी उसी तन्तुवायशाला के एक भाग में रहने लगा। वहाँ रहते हुए भगवान् महावीर के तप के तेज से गोशालक अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने महावीर से स्वयं को अपना शिष्य बनाने की इच्छा प्रकट की। महावीर ने उसे अपना शिष्य स्वीकार किया। छः वर्ष तक गोशालक महावीर के साथ विचरण करता रहा।

एक दिन सिद्धार्थग्राम और कूर्मग्राम के बीच विहार करते हुए गोशालक ने महावीर से तिल के पौधे की निष्पत्ति को लेकर प्रश्न किया। महावीर ने यथातथ्य उत्तर दिया। महावीर के उत्तर को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने वह पौधा उखाड़कर दूर फेंक दिया, किन्तु संयोगवश हुई वृष्टि के कारण वह तिल का पौधा पुनः मिट्टी में जम गया।

उसी काल में कूर्मग्राम नगर के बाहर वैश्यायन नामक बाल तपस्वी तपश्चरण में लीन थे। गोशालक ने उनसे छेड़छाड़ की। इस पर वैश्यायन तपस्वी ने क्रुद्ध होकर गोशालक पर ऊष्ण तेजालेश्या से प्रहार कर दिया। तब भगवान् महावीर ने गोशालक की प्राण रक्षा हेतु शीत तेजोलेश्या का प्रतिघात किया। यह देखकर वैश्यायन द्वारा अपनी ऊष्ण तेजोलेश्या पुनः खींच ली गई। यह सब देखकर गोशालक ने महावीर से तेजोलेश्या की प्राप्ति की विधि पूछी। महावीर ने गोशालक को तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि बताकर उसकी जिज्ञासा का समाधान किया।

इसके पश्चात् किसी दिन पुनः कूर्मग्राम और सिद्धार्थग्राम के बीच विहार करते हुए महावीर ने गोशालक को वही तिल का हरा-भरा पौधा दिखाया और कहा 'हे गोशालक! तुमने उस दिन इस पौधे को उखाड़ दिया था, किन्तु मेरे कहे अनुसार यह पौधा निष्पन्न हुआ है क्योंकि वनस्पतिकायिक जीव मर-मरकर उसी वनस्पतिकाय के शरीर में पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।'

इसी घटना के बाद गोशालक महावीर से पृथक् होकर विचरण करने लगा। कालान्तर में उसने महावीर द्वारा बताई गई विधि के अनुसार घोर तपश्चरण करके

तेजोलेश्या प्राप्त कर ली। अब वह आजीविक संघ से परिवृत्त होकर आजीविक सिद्धान्तों से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करने लगा। किसी दिन उसके पास छः दिशाचर आये और उसके शिष्य बन गये। तब से गोशालक स्वयं को 'जिन' कहकर विचरने लगा।

तब किसी दिन महावीर ने श्रावस्ती में लोगों की एक विशाल परिषद् में गोशालक की वास्तविकता प्रकट करते हुए उसे जिनप्रलापी कहा। महावीर के कथन से श्रावस्ती के लोगों में यह बात फैल गई कि गोशालक वास्तव में 'जिन' नहीं अपितु जिनप्रलापी है। उक्त घटना से क्रुद्ध होकर गोशालक ने महावीर के आनन्द नामक शिष्य को बुलाकर यह चेतावती दी– 'महावीर को समझाओ मेरे विरुद्ध प्रचार नहीं करे। यदि मेरे विषय में कुछ भी बोलेंगे तो मैं उन्हें भस्म कर दूँगा।'

इधर गोशालक द्वारा तेजोलेश्या प्राप्ति की बात जानकर सुरक्षा की दृष्टि से भगवान् महावीर ने अपने श्रमणों को गोशालक के साथ धर्मचर्चा एवं प्रतिसारणा (धर्म मत के प्रतिकूल चर्चा) नहीं करने का आदेश दिया। तदनंतर किसी दिन गोशालक स्वयं भगवान् महावीर के समक्ष आया और अपनी पहचान को छिपाते हुए परिवृत्तपरिहार की मिथ्या मान्यतानुसार 133 वर्षों में अपने सात परिवृत्तपरिहार (शरीरान्तर प्रवेश) की प्ररूपणा करने लगा। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिवाद करने पर गोशालक अनर्गल प्रलाप एवं भर्त्सना करने लगा। गोशालक का अनर्गल प्रलाप एवं अपने धर्माचार्य महावीर की भर्त्सना सुनकर उनका शिष्य सर्वानुभूति अनगार गोशालक को समझाने लगा। तब क्रुद्ध होकर गोशालक ने उस पर तेजोलेश्या छोड़ दी। सर्वानुभूति अनगार काल को प्राप्त हो गये। इसके पश्चात् सुनक्षत्र अनगार द्वारा प्रतिरोध करने पर गोशालक अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसने उसे भी भस्म कर दिया।

इसके पश्चात् गोशालक ने भगवान् महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ी। किन्तु, वह तेजोलेश्या भगवान् महावीर पर अपना थोड़ा भी प्रभाव न दिखा सकी। भगवान् महावीर की प्रदक्षिणा कर वह तेजोलेश्या वापस लौटकर उसी मंखलीपुत्र गोशालक के शरीर में प्रवेश कर उसे जलाने लगी। क्रुद्ध होकर गोशालक ने छह माह के भीतर भगवान् महावीर की मृत्यु की भविष्यवाणी की। प्रतिवाद में भगवान् महावीर ने अपने दीर्घायुष्य तथा सात दिन के भीतर गोशालक की मृत्यु का कथन किया।

अब गोशालक की तेजोलेश्या की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। यह जानकर भगवान् महावीर के श्रमण निर्ग्रंथ गोशालक के साथ अनेक धर्मचर्चाएँ कर युक्तियों

तथा तर्कों से उसे निरुत्तर करने लगे। गोशालक की पराजय को देखकर उसके अनेक अनुयायी उसका साथ छोड़कर भगवान् महावीर के साथ मिल गये। किन्तु, कुछ अनुयायी अभी भी गोशालक के साथ ही थे।

तेजोलेश्या के प्रभाव के कारण गोशालक तरह-तरह के प्रलाप, मद्यपान, नाच-गान आदि करने लगा। एक दिन अयंपुल नामक आजीविकोपासक गोशालक की उन्मत्त चेष्टाएँ देख विमुख होने लगा किन्तु, गोशालक के कुछ स्थविरों ने उसे ऊटपटांग समझाकर पुनः गोशालकमत में स्थिर किया।

तदनंतर गोशालक ने अपना अन्तिम समय निकट जान कर अपने स्थविरों को निकट बुलाकर धूमधाम से शवयात्रा निकालने तथा तीर्थंकर होकर सिद्ध होने की उद्घोषणा सहित मरणोत्तर क्रिया करने का निर्देश दिया। किन्तु, जब सातवीं रात्रि व्यतीत हो रही थी तभी गोशालक को सम्यक्त्व उपलब्ध हुआ। उसने स्वयं आत्मनिन्दापूर्वक अपने कुकृत्यों तथा उत्सूत्र-प्ररूपणा का रहस्योद्घाटन किया और मरण के अनन्तर अपने शव की अप्रतिष्ठापूर्वक मरणोत्तर क्रिया करने का निर्देश दिया। उसकी मृत्यु के उपरान्त स्थविरों ने बन्द कमरे में उसके आदेश का कल्पित रूप से औपचारिक पालन ही किया। फिर सत्कारपूर्वक गोशालक की मरणोत्तर क्रियाएँ सम्पन्न कीं।

शतक के उपसंहार में गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने गोशालक के भावी जन्मों की झाँकी बतलाकर सभी योनियों और गतियों में अनेक बार भ्रमण करने के पश्चात् गोशालक के आराधक होकर महाविदेह क्षेत्र में दृढ़प्रतिज्ञ केवली होकर अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के उज्जवल भविष्य का कथन किया है।

ग्रंथ में वर्णित गोशालक के जीवन चरित में आजीविक मत के इतिहास व सिद्धान्त दोनों पर ही प्रकाश पड़ता है। भगवतीसूत्र में आये उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि आजीविक सम्प्रदाय भगवान् महावीर के समय से पहले भी अस्तित्व में था। ग्रंथ[10] में स्वयं गोशालक द्वारा कहा गया है कि 'मैं कौण्डिन्यायन गोत्रीय उदायी हूँ। सात परिवृत-परिहार में संचार पश्चात् मंखलीपुत्र गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हुआ हूँ।' गोशालक द्वारा उल्लेखित सात परिवर्त्त-परिहार इस प्रकार हैं-

1. एणेयक के शरीर में 22 वर्ष 2. मल्लरामक के शरीर में 21 वर्ष
3. मण्डिक के शरीर में 20 वर्ष 4. रौह के शरीर में 19 वर्ष
5. भारद्वाज के शरीर में 18 वर्ष 6. गौतम पुत्र अर्जुन के शरीर में 17 वर्ष

7. अब मंखली पुत्र गोशालक के शरीर में 16 वर्ष

इस प्रकार कुल 133 वर्ष में सात परिवर्त्त-परिहार हुए। इनमें से गोशालक के 16 वर्ष घटा दिये जाय, जो भगवान् महावीर के समकालीन थे तो यह स्पष्ट हो ही जाता है कि आजीविक सम्प्रदाय भगवान् महावीर से करीब 117 वर्ष पूर्व विद्यमान था। इस संबंध में डॉ. जे. सी. सिकदर ने अपने शोध प्रबन्ध में विशेष प्रकाश डाला है।[11]

अनुयायी– गोशालक अपने युग का ख्यातिप्राप्त धर्मनायक था। उसका संघ भगवान् महावीर के संघ से बड़ा था। कहा जाता है कि भगवान् महावीर से कहीं अधिक उसके अनुयायियों की संख्या थी। यही कारण है कि तथागत् बुद्ध ने कहा है कि वह मछलियों की तरह लोगों को अपने जाल में फंसाता है। भगवतीसूत्र में भी कहा गया है कि वह अपने अनुयायियों से घिरा रहता था। **आजीवियसंपरिवुडे आजीवियसमयेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति।** – (15.1.5)। भगवतीसूत्र[12] में आजीविक सम्प्रदाय के कुछ अनुयायियों का विशेष रूप से उल्लेख भी हुआ है। हालाहला नामक कुम्हारिन आजीविक सिद्धान्त के रहस्य की ज्ञाता थी। वह उसके प्रेमानुराग में इस तरह रंग गई थी कि उसे आजीविक का सिद्धान्त ही सच्चा व परमार्थ लगता था। शेष सभी अनर्थ। छः दिशाचर, जिन्होंने अष्टांग महानिमित्त, नवें गीतमार्ग व दसवें नृत्यमार्ग को अपने-अपने मतिदर्शनों में उद्धृत कर लिया था, मंखलीपुत्र गोशालक के पास आये और दीक्षित हुए। उनके नाम इस प्रकार हैं –

1. शोण, 2. कनन्द, 3. कर्णिकार, 4. अच्छिद्र, 5. अग्निवैश्यायन, 6. गौतम (गोमायु) पुत्र अर्जुन

इसके अतिरिक्त अयंपुल नामक आजीविकोपासक तथा अन्य आजीविक स्थविरों का भी उल्लेख मिलता है। ग्रंथ[13] में अन्यत्र 12 आजीविकोपासकों के नाम का भी उल्लेख हुआ है–

1. ताल, 2. तालप्रलम्ब, 3. उद्बिध, 4. संविध, 5. अवविध, 6. उदय, 7. नामोदय, 8. नर्मोदय, 9. अनुपालक, 10. शंखपालक, 11. अयम्बुल, 12. कातरक

आजीविक सिद्धान्त

भगवतीसूत्र में आजीविक सम्प्रदाय के आचार व्यवहार एवं अनेक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

जीविकोपार्जन– ग्रंथ[14] में कहा है गोशालक के पिता 'मंखली' मंख जाति के थे। वे चित्रफलक हाथ में लेकर चित्र बताकर आजीविका करने वाले भिक्षुओं की वृत्ति अर्थात् मंखत्व से जीवन-यापन करते थे। युवा होने पर गोशालक ने भी स्वयं व्यक्तिगत रूप से चित्रफलक तैयार किया और उसे हाथ में लेकर मंखवृत्ति से विचरण करने लगा। इस कथन से स्पष्ट है कि आजीविक साधु स्वयं अपनी जीविका का उपार्जन करते थे।

आचार-व्यवहार[15]– आजीविक मत के आचार-व्यवहार का विवेचन करते हुए कहा गया है कि समस्त जीव अक्षीणपरिभोजी (सचित्ताहारी) होते हैं। इसलिए वे हनन, ताड़न, काटकर, भेदनकर, कतरकर (चमड़ी आदि) उतारकर और विनष्ट करके खाते हैं। इनका देव अरहंत (गोशालक अर्हत्) है। ये माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करते हैं। वे पाँच प्रकार के फलों– उदुम्बर के फल, वड़ के फल, बोर, सत्तर के फल, पीपल का फल तथा प्याज, लहसुन, कन्दमूल के त्यागी होते हैं तथा अनिर्लांछित (खस्सी-बधिया न किये हुए) और नाक नहीं नाथे हुए बैलों से, त्रस प्राणी की हिंसा से रहित व्यापार करके अपनी आजीविका करते हैं।

परिवर्त्त-परिहार– आजीविक मत का प्रमुख सिद्धान्त परिवर्त्त-परिहार है। परिवर्त्त-परिहार सिद्धान्त के अनुसार सभी जीव परिवर्त्त-परिहार करते हैं अर्थात् मरकर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न होते हैं– **एवं खलु सव्वजीवा वि पउट्टपरिहारं परिहरंति** – (15.1.56)।

भगवतीसूत्र में वर्णित गोशालक के जीवन चरित्र से स्पष्ट होता है कि तिल के पौधे की निष्पत्ति की घटना के समय भगवान् महावीर ने जब यह प्ररूपणा की – कि 'वनस्पतिकायिक जीव मर-मरकर उसी वनस्पतिकाय के शरीर में पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।' तभी दुराग्रहवश गोशालक के मन में सभी जीवों के परिवर्त्त-परिहार की मान्यता ने जन्म लिया। बाद में स्वयं गोशालक द्वारा महावीर से अपनी पहचान छिपाने के लिए सात परिवर्त्त-परिहार के संचार का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मैंने सात परिवर्त्त-परिहार में संचार किया। यथा– ऐणेयक, मल्लरामक, मण्डिक, रौह, भारद्वाज, गौतमपुत्र अर्जुन और मंखलीपुत्र गोशालक।

मुक्ति का सिद्धान्त[16]– गोशालक द्वारा मुक्ति के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'हमारे सिद्धान्त के अनुसार जो भी सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं, अथवा सिद्ध होंगे, वे सब (पहले) चौरासी लाख महाकल्प (कालविशेष),

सात दिव्य (देवभव), सात संयूथनिकाय, सात संज्ञीगर्भ (मनुष्य-गर्भावास), सात परिवृत्त-परिहार (उसी शरीर में पुनः पुनः प्रवेश-उत्पत्ति) और पांच लाख, साठ हजार छह-सौ तीन कर्मों के भेदों को अनुक्रम से क्षय करके तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं।' इसके पश्चात् स्वःसिद्धान्तानुसार 'शरप्रमाण' काल, महाकल्प, महामाणस आदि काल का विवेचन किया है।

अष्ट चरम– चरम से तात्पर्य है– 'जो फिर कभी नहीं होंगे।' भगवतीसूत्र[17] में गोशालक द्वारा निम्न आठ चरम पदार्थों की प्ररूपणा की गई।

1. चरमपान, 2. चरमगान, 3. चरमनाट्य, 4. चरमअंजलिकर्म, 5. चरम पुष्कल-संवर्त्तक महामेघ, 6. चरम सेचनक गंधहस्ती, 7. चरम महाशिला-कण्टकसंग्राम, 8. चरम तीर्थंकर।

उक्त अष्टचरम के प्रतिपादन के साथ ही गोशालक द्वारा यह घोषणा की गई– 'मैं (मंखलिपुत्र गोशालक) इस अवसर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकरों में से चरम तीर्थंकर होकर सिद्ध होऊँगा।'

पानक-अपानक– भगवतीसूत्र[18] में आजीविक सिद्धान्त के अन्तर्गत चार प्रकार के पानक एवं चार प्रकार के अपानक का उल्लेख मिलता है। चार प्रकार के पानक निम्न हैं–

1. गाय की पीठ से गिरा हुआ 2. हाथ से मसला हुआ
3. सूर्य के ताप से तपा हुआ 4. शिला से गिरा हुआ।

चार प्रकार के अपानक इस प्रकार हैं।

1. स्थालपानक, 2. त्वचापानक, 3. सिम्बलीपानक, 4. शुद्धपानक

भगवतीसूत्र में इनके स्वरूप का विस्तार से विवेचन हुआ है।

निमित्तवाद– आजीविक सम्प्रदाय के इन मुख्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त भगवतीसूत्र[19] में यह भी विवेचन किया गया है कि आजीविक अष्टांग महानिमित्त, नवें गीतमार्ग व दसवें नृत्यमार्ग के ज्ञाता होते थे। अष्टांग निमित्त इस प्रकार हैं–

1. दिव्य, 2. औत्पात, 3. आन्तरिक्ष, 4. भौम, 5. आंग, 6. स्वर, 7. लक्षण, 8. व्यंजन

ग्रंथ[20] में अष्टांग महानिमित्त के उपदेश से सभी प्राणियों, भूतों, सत्वों व जीवों के लिए निम्न छः बातों को अनतिक्रमणी बताया गया है–

1. लाभ, 2. अलाभ, 3. सुख, 4. दुःख, 5. जीवन, 6. मरण

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भगवतीसूत्र में गोशालक के जीवन-चरित्र के साथ-साथ आजीविक सम्प्रदाय के इतिहास, सिद्धान्तों, आचार, अनुयायियों

आदि का भी विवेचन हुआ है। अन्य ग्रंथों में भी इस सम्पद्राय के विषय में विवेचन मिलता है। आचार्य पाणिनि और आचार्य पतंजलि के अनुसार गोशालक परिव्राजक था और 'कर्म मत करो' इस मत का संस्थापक था। आवश्यकचूर्णि, आवश्यकवृत्ति, आवश्यकमलयगिरिवृत्ति आदि अनेक ग्रंथों में भी गोशालक के जीवन प्रसंग वर्णित हैं।[21] उपासकदशांग[22] में उन्हें नियतिवादी के रूप में चित्रित किया गया है, जो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम को स्वीकार नहीं करते थे।

परिव्राजक

परिव्राजक श्रमण ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित सन्यासी होते थे। ये आवसथ में निवास करते और आचारशास्त्र तथा दर्शन आदि विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए दूर-दूर तक पर्यटन करते थे। गेरुआ वस्त्र पहनने के कारण इन्हें गेरुअ अथवा गैरिक भी कहा गया है।[23] ये भिक्षा से अपनी आजीविका करते थे। भगवान् महावीर के काल में इनकी संख्या विपुल मात्रा में थी। औपपातिकसूत्र, सूत्रकृतांग आदि जैनागमों में परिव्राजक सन्यासियों के उल्लेख मिलते हैं।[24] भगवतीसूत्र[25] में गर्दभाल नामक परिव्राजक के शिष्य कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक का विस्तार से वर्णन हुआ है। लोक सांत है या अनंत, जीव सांत है या अनंत आदि प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए गर्दभाल भगवान् महावीर के पास पहुँचता है। भगवान् महावीर द्वारा उनका समाधान करने पर वह श्रमणदीक्षा अंगीकार करता है तथा कठोर तपस्या कर मोक्ष प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त मुद्गल परिव्राजक[26] व अम्मड परिव्राजक[27] के उल्लेख भी ग्रंथ में आये हैं। आलभिका नगरी के मुद्गल परिव्राजक को तपश्चर्या व भद्रता के कारण विभंगज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु, भगवान् महावीर की देशना सुनकर उसका विभंगज्ञान नष्ट हो जाता है तथा वह श्रमण दीक्षा अंगीकार कर मोक्ष प्राप्त करता है। काम्पिल्यपुर के अम्मड परिव्राजक व उसके 700 शिष्यों का भी भगवतीसूत्र में उल्लेख है। किन्तु, विशेष वर्णन के लिए औपपातिकसूत्र[28] देखने का निर्देश किया गया है। औपपातिकसूत्र में अम्मड परिव्राजक का प्रसंग विस्तार से वर्णित हुआ है।

भगवतीसूत्र[29] में चरक परिव्राजक का भी उल्लेख मिलता है। जैनसूत्रों में चरकों की गणना परिव्राजकों के अन्तर्गत की गई है। प्रज्ञापनासूत्र में चरक आदि परिव्राजकों को कपिलमुनि का पुत्र कहा गया है। गेरुए या भगुए रंग के वस्त्र पहनकर घाटी (सामूहिक भिक्षा) द्वारा आजीविका करने वाले त्रिदण्डी, कच्छोटक

आदि अथवा कपिलऋषि के शिष्य चरक कहलाते हैं। चरक आदि परिव्राजक प्रातःकाल उठकर स्कन्द आदि देवताओं के गृह का परिमार्जन करके, देवताओं पर उपलेपन करते और उनके सामने धूपादि खेते थे। आचारांगचूर्णि[30] में सांख्यों को चरकों का भक्त कहा है। दशवैकालिकनिर्युक्ति (गाथा 158-159) में श्रवण के बीस पर्यायवाची नामों में चरक का समावेश है।

परिव्राजक महामनीषी होते थे। स्कन्दक परिव्राजक के प्रसंग में कहा गया है- 'वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चार वेदों, पाँचवें इतिहास (पुराण), छठे निघण्टु नामक कोश का तथा सांगोपांग रहस्यसहित वेदों का सारक, वारक, धारक, वेद के छह अंगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र) का वेत्ता था। वह षष्ठितंत्र (सांख्यशास्त्र) में विशारद था। वह गणितशास्त्र, शिक्षाकल्प (आचार) शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, निरुक्त (व्युत्पत्ति) शास्त्र और ज्योतिषशास्त्र, इन सब शास्त्रों में, तथा दूसरे बहुत-से ब्राह्मण और परिव्राजक-संबंधी नीति और दर्शनशास्त्रों में भी अत्यन्त प्रवीण था।[31]

वेशभूषा- भगवतीसूत्र[32] में परिव्राजकों की वेशभूषा पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि वे त्रिदण्ड, कुण्डी, रुद्राक्ष की माला, करोटिका, (मिट्टी का बर्तन) आसन, केसरिका (बर्तन साफ करने का कपड़ा), त्रिगडी, अंकुशक, (वृक्ष के पत्ते तोड़ने के लिए) पवित्री (अंगूठी), गणत्रिका (कलाई में पहनने का आभूषण), छत्र, पगरखी पादुका से युक्त होते थे तथा धातु से रंगे हुए वस्त्र (गेरुए कपड़े) पहनते थे।

तपस्या- परिव्राजक साधु भिन्न-भिन्न प्रकार का तप करते थे। आलभिका नगरी का मुद्गल परिव्राजक निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करता हुआ आतापनाभूमि में दोनों भुजाएँ ऊँचीकर आतापना लेता था।[33] अम्बडपरिव्राजक व उसके 700 शिष्यों की तपस्या का वर्णन औपपातिकसूत्र[34] में है। जब वे काम्पिल्यपुर से पुरिमताल नगर की ओर जा रहे थे तभी अटवी में प्रवेश करते ही उनका पीने का पानी समाप्त हो गया। पास में ही गंगा में निर्मल जल बह रहा था, किन्तु 'अदत्त' की प्रतिज्ञा के कारण वे जल ग्रहण नहीं करते हैं। प्यास से व्याकुल होने पर उनके प्राण संकट में पड़ जाते हैं। अन्त में सभी साधक अर्हन्त भगवान् को नमस्कार कर संथारा ग्रहण कर काल कर जाते हैं।

वानप्रस्थ तापस

वनवासी साधुओं को तापस कहा गया है। ये तापस वनों में आश्रम बनाकर रहते थे। वहीं ध्यान, अध्ययन, यज्ञ-याग आदि करते और कंदमूल, फल, छाल,

धान्य आदि से जीवन-यापन करते थे।[35] ये तापस-श्रमण गंगा के तट पर रहते और वानप्रस्थाश्रम का पालन करते थे। भगवतीसूत्र[36] में निम्नलिखित वानप्रस्थ-तापसो का उल्लेख हुआ है- अग्निहोत्री, पोतिक (वस्त्रधारी), कौत्रिक (पृथ्वी पर सोने वाले), याज्ञिक, श्राद्धी (श्राद्धकर्म करने वाले), खप्परधारी (स्थालिक), कुण्डिकाधारीश्रमण, दन्त-प्रक्षालक, उन्मज्जक, सम्मज्जक, निमज्जक, सम्प्रक्षालक, ऊर्ध्वकण्डुक, अध:कण्डुक, दक्षिणकूलक, उत्तरकूलक, शंखधमक (शंख फूंककर भोजन करने वाले), कूलधमक (किनारे पर खड़े होकर आवाज करके भोजन करने वाले), मृग्लुब्धक, हस्तीतापस, जल से स्नान किये बिना भोजन नहीं करने वाले, पानी में रहने वाले, वायु में रहने वाले, पट-मण्डप में रहने वाले, बिलवासी, वृक्षमूलवासी, जलभक्षक, वायुभक्षक, शैवालभक्षक, मूलाहारी, कन्दाहारी, त्वचाहारी, पत्राहारी, पुष्पाहारी, फलाहारी, बीजाहारी, सड़कर टूटे या गिरे हुए कन्द, मूल, छाल, पत्ते, फूल और फल खाने वाले, दण्ड ऊँचा रखकर चलने वाले, वृक्षमूलनिवासी, मांडलिक, वनवासी, दिशाप्रोक्षी, आतापना से पंचाग्नि ताप तपने वाले (अपने शरीर को अंगारों से तपा कर काष्ट-सा बना देने वाले) इत्यादि।

भगवतीसूत्र में तापसों के उपकरणों में लोढ़ी, लोहे की कड़ाही, कुडछी, और ताम्बे के तापसोचित उपकरणों का उल्लेख हुआ है।

दिशाप्रोक्षण तापसचर्या

दिशाप्रोक्षक तापस से तात्पर्य जल द्वारा दिशाओं का पूजन करने के पश्चात् फल, पुष्पादि ग्रहण करने वाले तापस से है। भगवतीसूत्र[37] में उल्लेख है कि शिवराजर्षि द्वारा दिशाप्रोक्षक तापसों के पास मुण्डित होकर दिक्प्रोक्षक-तापस-रूप प्रव्रज्या अंगीकार की गई। प्रव्रजित होने पर उन्होंने निरन्तर बेले-बेले की तपस्या द्वारा दिक्-चक्रवाल तप:कर्म करके दोनों भुजाओं को ऊँची रखने का संकल्प लिया। इस व्रत के अन्तर्गत प्रत्येक पारणे के दिन एक-एक दिशा का पूजन कर उसी दिशा के फल आदि का सेवन किया जाता है। भगवतीसूत्र में इस व्रत की विधि का विवेचन इस प्रकार किया गया है- 'शिवराजर्षि प्रथम बेले के पारणे के दिन आतापना भूमि से नीचे उतरे, वल्कलवस्त्र पहनकर कुटी में आये। वहाँ से किढ़ीण (बाँस की छबड़ी) व कावड़ को लेकर पूर्व-दिशा का पूजन व प्रार्थना की। इसके पश्चात् पूर्व-दिशा में जो कंदमूल, छाल, पत्ते, पुष्प, फल, बीज और हरी वनस्पति थी, उन्हें छबड़ी में भर लिया। फिर दर्भ, कुश, समिधा और वृक्ष के पत्ते ग्रहण कर कुटी में आये। वहाँ वेदिका का प्रमार्जन किया, तत्पश्चात्

नहाकर पितरों के कार्य आदि सम्पन्न कर, कलश में डाभ डालकर वेदी बनाकर अग्नि जलाई। अग्नि के दाहिनी ओर ये सात वस्तुएँ रखी थी– 1. सकथा, 2. वल्कल, 3. स्थान, 4. शय्याभाण्ड, 5. कमण्डलु, 6. लकड़ी का डंडा, 7. अपना शरीर। फिर मधु, घी और चावलों का अग्नि में हवन किया और चरु (बलिपात्र) में बलिद्रव्य लेकर बलिवैश्यदेव (अग्निदेव) को अर्पण किया। अतिथि की पूजा करने के पश्चात् स्वयं आहार किया। इस प्रकार क्रम से एक-एक बेले के पारणे के दिन एक दिशा के प्रोक्षण की तापस-चर्या की।'

दिशाप्रोक्षण तापसचर्या के फल का विवेचन करते हुए भगवतीसूत्र[38] में कहा गया है– इस व्रत के फलस्वरूप शिवराजर्षि के तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम के कारण ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए विभंग ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस विभंग ज्ञान से वे लोक में सात द्वीप व सात समुद्र देखने लगे। उससे आगे वे न जानते थे, न देखते थे।

कान्दर्पिक[39]– जो साधु हंसोड़-हास्यशील हो। ऐसा साधु चारित्रवेश में रहते हुए भी हास्यशील होने के कारण अनेक प्रकार की विदूषक-की-सी चेष्टाएँ करता है। कन्दर्प अर्थात् काम संबंधी वार्तालाप करने वाला साधु भी कान्दर्पिक कहलाता है।

आभियोगिक[40]– विद्या और मंत्र आदि का या चूर्ण आदि के योग का प्रयोग करना और दूसरों को अपने वश में करना अभियोग कहलाता है। जो साधु व्यवहार से तो संयम का पालन करता है, किन्तु मंत्र, तंत्र, यंत्र, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, चूर्ण आदि के प्रयोग द्वारा दूसरे को आकर्षित करता है, वशीभूत करता है, वह आभियोगिक कहलाता है।

अन्यतीर्थिक

प्रस्तुत ग्रंथ में कई स्थानों पर अन्यतीर्थिक की मान्यताओं का निरूपण, भगवान् महावीर द्वारा उनका खण्डन व स्वमत का निरूपण हुआ है। इन सभी उल्लेखों में किसी मत विशेष के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। अन्यतीर्थिक से तात्पर्य सम्भवतः श्रमण निर्ग्रंथ धर्म के विरोधी मत के प्रतिपादकों से रहा होगा। धर्म व दर्शन के संबंध में इनकी अपनी मान्यताएँ प्रचलित थीं, जो भगवान् महावीर के श्रमणधर्म के विपरीत थीं। ग्रंथ में कालोदायी, शैलोदाई, शैवालोदायी, उदय, नामोदय, नर्मोदय, अन्नपालक, शैलपालक, शंखपालक व सुहस्ती गृहपति आदि अन्यतीर्थियों का उल्लेख हुआ है।[41] गौतम गणधर के साथ उनके वार्तालाप

का तथा कालोदयी द्वारा श्रमणधर्म अंगीकार करने का विवेचन हुआ है। ग्रंथ में अन्यतीर्थिक मान्यताओं में से कुछ दृष्टव्य हैं–

1. अन्यतीर्थिक इस प्रकार प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है– इस भव का आयुष्य व परभव का आयुष्य – (1.9.20)।

2. दो परमाणु पुद्गल एक साथ नहीं चिपकते। दो परमाणु पुद्गलों में स्निग्धता नहीं होती इसलिए दो परमाणु पुद्गल एक साथ नहीं चिपकते – (1.10.2)।

3. दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि संग्राम में आहत, घायल या मृत्यु प्राप्त व्यक्ति मरकर देवलोक में जाते हैं – (7.9.20)

भगवान् महावीर द्वारा युक्तिपूर्वक इन मान्यताओं का खण्डन कर स्वमत को प्रतिष्ठित किया गया है।

अन्य समवसरण

मत या दर्शन को समवसरण कहा जाता है। भगवान् महावीर के समय में अनेक दार्शनिक अपने-अपने मत का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। ग्रंथ में चार समवसरणों का विशेष उल्लेख हुआ है।[42] इनका विशिष्ट विवेचन मधुकर मुनि ने व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के तीसवें शतक में किया है।

1. क्रियावादी, 2. अक्रियावादी, 3. अज्ञानवादी, 4. विनयवादी

क्रियावादी

क्रियावादी की विभिन्न परिभाषाएँ मिलती हैं। क्रिया कर्ता के बिना संभव नहीं है। अत: क्रिया के कर्ता अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले क्रियावादी हैं। क्रिया ही प्रधान है, ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसी क्रिया प्राधान्य की मान्यता रखने वाले क्रियावादी हैं। जीव, अजीव आदि पदार्थों के अस्तित्व को मानने वाले भी क्रियावादी कहे जाते हैं। क्रियावादी के अवान्तर 180 भेद हैं।

अक्रियावादी

अक्रियावादी की भी अनेक व्याख्याएँ मिलती हैं। पदार्थों को अनवस्थित मानकर उनमें क्रिया का अभाव मानने वाले अक्रियावादी हैं। क्रिया की क्या आवश्यकता, केवल चित्त की शुद्धि चाहिये, ऐसी मान्यता वाले अथवा जीवादि के अस्तित्व को नहीं मानने वाले अक्रियावादी हैं। अक्रियावादी के 84 अवान्तर भेद हैं।

अज्ञानवादी

ज्ञानी व अज्ञानी का समान अपराध होने पर ज्ञानी का दोष अधिक माना जाता है, अज्ञानी का कम अत: अज्ञान ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की मान्यता वाले अज्ञानवादी कहलाते हैं। इनके 67 अवान्तर भेद हैं।

विनयवादी

स्वर्ग, अपवर्ग आदि श्रेय का कारण विनय है। इसलिए विनय ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार विनय को एकान्त रूप से मानने वाले विनयवादी कहलाते हैं। इनका कोई आचार-शास्त्र नहीं होता है। सभी को नमस्कार करना ही इनका लक्ष्य होता है। इनके 32 अवान्तर भेद हैं। भगवतीसूत्र में विनयवाद के अनुयायी तपस्वियों के अन्तर्गत तामलीतापस, पूरण आदि तपस्वियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ताम्रलिप्ति नगरी का तामली गृहपति प्राणामा प्रव्रज्या का धारक होने से इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, कुबेर, आर्या, चंडिका या राजा, मंत्री, पुरोहित, सार्थवाह, या कौवे, कुत्ते और चांडाल को जहाँ कहीं भी देखता प्रणाम करता। ऊँचे को देखकर ऊँचे प्रणाम करता, नीचे को देखकर नीचा प्रणाम करता।[43] तामली की तरह 'पूरण' गृहपति द्वारा 'दानामा' प्रव्रज्या अंगीकार करने का वर्णन ग्रंथ में आया है।[44] इसके अतिरिक्त गोशालक के प्रसंग में वैश्यायन बाल-तपस्वी का उल्लेख भी हुआ है, जो कि ऊर्ध्वबाहु करके तप कर रहे थे।[45]

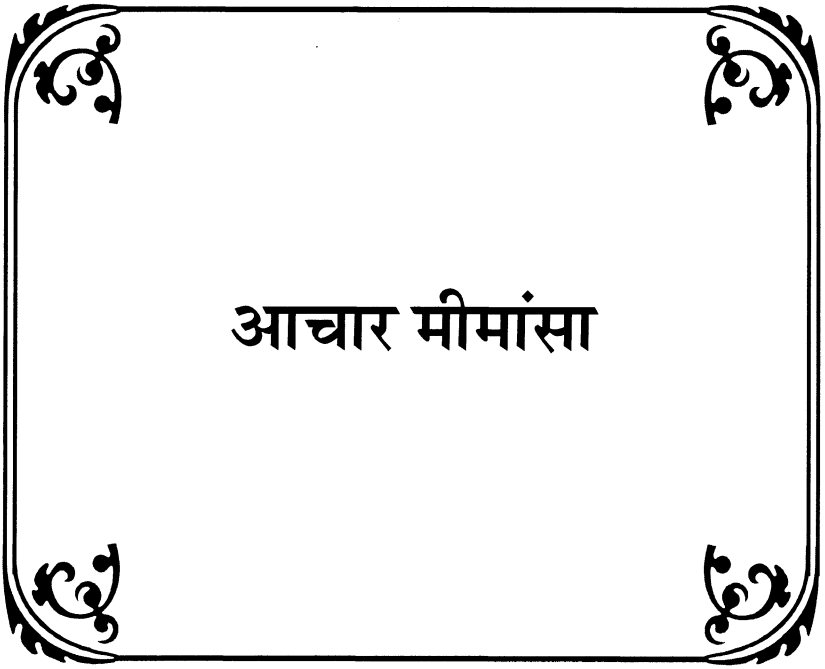
प्राय: शास्त्रों में इन चारों समवसरणों को मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है। परन्तु ग्रंथ में समवसरण नामक उद्देशक में 'क्रियावादी' शब्द से सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया गया है, जो जीव-अजीव का अस्तित्व मानने के साथ-साथ आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि के अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक मानते हैं। सर्वज्ञ वचनों पर श्रद्धा रखकर चलते हैं।

संदर्भ

1. व्या. सू., 2.5.12-19
2. उत्तराध्ययन, 23.12
3. व्या. सू., 1.9.21-23
4. वही, 9.32
5. वही, 9.33, 86-96
6. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 2306-2307
7. व्या. सू., 1.2.19
8. भगवतीवृत्ति, अभयदेव पत्रांक, 49, 50
9. भगवतीवृत्ति, पत्रांक, 49-50
10. व्या. सू., 15.1.68
11. स्टेडिज इन द भगवतीसूत्र, पृ. 435-438
12. व्या. सू., 15.1.4, 6, 97
13. वही, 8.5.11
14. व्या. सू., 15.1.14, 17, 20, 23

15. वही, 8.5.12
16. वही, 15.1.88
17. वही, 15.1.88
18. व्या. सू., 15.1.90-95
19. वही, 15.1.7
20. वही, 15.1.8
21. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भाग-4), मुनि मधुकर, प्रस्तावना, पृ. 76
22. उवासगदसाओ, सम्पा. मुनि मधुकर, 7.181-185
23. जैन, जगदीश चन्द्र- जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 415-416
24. (क) औपपातिकसूत्र, मुनि मधुकर, 76 पृ. 129
    (ख) सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, आर्द्रकीय अध्ययन
25. व्या. सू., 2.1.12
26. वही, 11.12.16-24
27. वही, 14.8.21
28. औपपातिकसूत्र, मुनि मधुकर, 82-88, पृ. 136-141
29. वही, 1.2.19
30. आचारांगचूर्णि, 8, पृ. 265
31. व्या. सू., 2.1.12
32. वही, 2.1.17
33. वही, 11.12.16
34. औपपातिक, मुनि मधुकर, 82-88, पृ. 136-141
35. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 412
36. व्या. सू. 11.9.6
37. वही, 11.9.11-15
38. वही, 11.9.17
39. व्या. सू., 1.2.19
40. वही, 1.2.19
41. व्या. सू., 7.10.2
42. 'चत्तारि समोसरणा पन्नत्ता, तं जहा किरियावादी अकिरियावादी, अन्नाणियवादी वेणइयवादी' - वही, 30.1.1
43. व्या. सू., 3.1.38
44. वही, 3.2.19-20
45. वही, 15.1.49





आचार मीमांसा

श्रमणदीक्षा एवं चर्या

आचार शब्द का सामान्य अर्थ आचरण से लिया जाता है। भारतीय परम्परा में आचार शब्द सदाचार के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। आचार शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु है। वैयाकरणों ने चर धातु का मुख्य प्रयोग गति और भक्षण अर्थ में किया है। चर् धातु चलने के अर्थ में है। मन में शुभ विचारों का चलना विचार है, शुभवाणी का प्रयोग उच्चार है तथा शुभ विचारों का जीवन में धारण आचार है। इस प्रकार सदाचार शब्द विचार, आचार एवं उच्चार की विशुद्धता, पवित्रता तथा नियमबद्धता को ध्वनित करता है।[1]

जैन परंपरा में आचार की पवित्रता पर विशेष बल दिया गया है। जैनागम आचारांग निर्युक्ति[2] में आचार को अंगों का सार कहा गया है। जैन आचार संहिता का मूल आधार सम्यक् चारित्र है। तीर्थंकरों के उपदेशानुसार आचरण करना एवं उसके विपरीत मार्ग का परित्याग करना सम्यक् चारित्र है। जैन ग्रंथों में आचार संहिता का विवेचन साधु एवं गृहस्थ दोनों की योग्यता को ध्यान में रखते हुए किया गया है। आचार पालन में उत्कृष्टता एवं न्यूनता के आधार पर जैन आचार संहिता दो भागों में विभक्त है। 1. श्रमणाचार 2. श्रावकाचार। श्रमणाचार संहिता का मुख्य उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार है जबकि श्रावक अथवा गृहस्थ की आचार संहिता में व्यक्ति एवं समाज दोनों का उत्थान समाहित है।

श्रमण परम्परा*

परम्परा की दृष्टि से श्रमण परम्परा को अनादि कहा जा सकता है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से 'ऋषभदेव' इस परम्परा के जनक माने गये हैं। ऋषभदेव ने सभ्यता व संस्कृति के प्रारम्भ में मानव को कर्म करने की प्रेरणा दी और उसके पुरुषार्थ को जाग्रत किया। ऋषभदेव के समय की संस्कृति एवं सभ्यता मानव के प्रारंभिक स्वरूप का परिचायक है। ऋषभदेव के बाद आने वाले 23 अन्य

* निशीथ भाष्य में श्रमणों के पाँच प्रकार बताये हैं– निग्गंथ (खमण) सक्क (रक्तपड) तावस (वणवासी) गेरुअ (परिव्वायअ) और आजीविय (पंडराभिक्खु; गोशालक) (13.4420)। प्रस्तुत अध्याय में निर्ग्रंथ श्रमण परंपरा की चर्या एवं आचार का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

तीर्थंकरों ने इस संस्कृति का पोषण किया और आज यही संस्कृति श्रमण संस्कृति के रूप में हमारे सामने है। भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित एवं परिवर्द्धित जैन संस्कृति की परम्परा का एक निश्चित क्रम हमें उपलब्ध होता है। इस परम्परा को विकसित करने में मुख्यतया तीन आधार परिलक्षित होते हैं– 1. स्वयं ऋषभदेव, 2. उनके बाद के बाईस तीर्थंकर 3. भगवान् महावीर व उनकी शिष्य परम्परा।

इस प्रकार मानव सभ्यता के साथ उदित होकर श्रमण संस्कृति निरन्तर गतिशील रही। ऋषभदेव के समय से जन-साधारण को सुसंस्कृत बनाती हुई, भारतीय संस्कृति को करुणा और साधना का संदेश देती हुई, अन्तिम तीर्थंकर महावीर द्वारा ईसा पू. छठी शती में सुव्यवस्थित स्वरूप पाकर उनके अनुयायियों द्वारा देशव्यापी बन गई।[3]

श्रमण शब्द का अर्थ एवं स्वरूप

श्रमण शब्द बहुत ही प्राचीन व व्यापक है। श्रमण शब्द का प्राकृत रूपान्तर 'समण' है। जैन शास्त्रों में इसके तीन अर्थ मिलते हैं; श्रमण, समन व शमन। प्रथम शब्द श्रमण का अर्थ है– परिश्रम करने वाला। श्रमण संस्कृति तप प्रधान संस्कृति है। तपस्या करना परिश्रम ही है। इस दृष्टि से श्रमण का अर्थ हुआ जो श्रम या तपस्या करते हैं।[4] सूत्रकृतांग[5] में श्रमण के इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है– जो दांत है, द्रव्य है, भव्य है, शरीर के प्रति जिसने ममत्व का त्याग कर दिया हो, जो आत्मा व परमात्मा के लिए श्रम करे वह श्रमण है। भगवतीसूत्र के द्वितीय शतक में स्कन्दक परिव्राजक के जीवनवृत्त में श्रमण का यही स्वरूप परिलक्षित होता है। स्कन्दक परिव्राजक तीर्थंकर भगवान् महावीर के पास श्रमण दीक्षा अंगीकार कर कठोर तप साधना के द्वारा अपने शरीर को खिन्न करके अन्तिम लक्ष्य शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त करते हैं।

श्रमण शब्द के द्वितीय रूपान्तर 'समन' शब्द का अर्थ है– प्राणी मात्र के प्रति समभाव रखने वाला। अर्थात् जो राग-द्वेष से परे हो वह समन है। उत्तराध्ययन[6] में कहा है कि सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता है समता से श्रमण होता है। उत्तराध्ययन[7] के कापिलीय अध्ययन में भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पूर्व परिचित संयोगों का परित्याग करके, जो कहीं किसी वस्तु में स्नेह नहीं करता, स्नेह करने वालों के प्रति भी जो स्नेह नहीं दिखाता वह भिक्षु दोषों व प्रदोषों से मुक्त हो जाता है। प्रवचनसार[8] में आचार्य कुंदकुंद ने कहा है– जो शत्रु व बंधु, निंदा व प्रशंसा, पाषाण व स्वर्ण, जीवन व मरण में समभाव रखता है, वह

श्रमण है। भगवतीसूत्र[9] में 'समन' के इस रूप पर भी विशेष प्रकाश डाला है। ग्रंथ में श्रमण निर्ग्रंथ धर्म को अनासक्त व कषायमुक्त धर्म कहा है। अल्पइच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति, अप्रतिबद्धता को श्रमणों के लिए प्रशस्त बताया है तथा क्रोध, मान, माया व लोभ इन चारों कषायों की रहितता को श्रमण के लिए श्रेष्ठ कहा है। कांक्षाप्रदोष को संसार का प्रमुख कारण मानते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है कि कांक्षाप्रदोष क्षीण हो जाने पर श्रमण मुक्ति को प्राप्त करता है।

श्रमण के तृतीय रूपान्तर 'शमन' का अर्थ है– शांत करना। इस दृष्टि से जिसने चित्तवृत्तियों को शांत कर लिया है अथवा वासनाओं का दमन कर लिया है, वही श्रमण है। इसी संदर्भ में संवृत, असंवृत अनगार के स्वरूप को बताते हुए भगवतीसूत्र[10] में कहा गया है कि आस्रव द्वारों का निरोध करके संवर की आराधना में लगा श्रमण संवृत होता है तथा हिंसादि आस्रव द्वारों को नहीं रोकने वाला अनगार असंवृत कहलाता है। स्पष्ट है कि भगवतीसूत्र के मूल में श्रमण के स्वरूप को बताने वाले श्रम, सम व शम ये तीनों ही तत्त्व मौजूद हैं। श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतरागी, अनगार, भदन्त, दांत और यति ये दस नाम श्रमण के ही पर्यायवाची हैं।[11] जैन आगमों में श्रमण के लिए प्रायः निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग भी मिलता है अर्थात् जो परिग्रह अथवा राग द्वेष की ग्रन्थि से रहित हैं।[12]

श्रमण का महत्त्व

आदिकाल से ही श्रमण संस्कृति में श्रमण का महत्त्व अत्यधिक रहा है। श्रमण का जीवन इस प्रकार का होता है कि वह संसार में रहते हुए भी राग-द्वेष आदि कषायों से विमुक्त होकर जीता है। साधना के मार्ग पर बढ़ता हुआ वह अपनी आत्मा के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करता है। जैन आगम साहित्य में श्रमण की गरिमा का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। आचारांग[13] में कहा गया है अमुनि (अज्ञानी) सदा सोये हुए हैं, मुनि (ज्ञानी) सदैव जागते रहते हैं।

आचार पालन में श्रेष्ठता व न्यूनता की दृष्टि से जैन संस्कृति दो विकल्प मानती है; श्रमणाचार (अनगारधर्म) व श्रावकाचार (आगारधर्म)। आगारधर्म की अपेक्षा जैन परंपरा में अनगारधर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसका कारण है कि संयम का चरम तथा परम विकास श्रमण-जीवन में ही हो सकता है। श्रमण परम्परा का यह दृढ़ मन्तव्य है कि निर्वाण-लाभ श्रमणों को ही प्राप्त हो सकता है। उत्तराध्ययन[14] में संयम के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है– जो मानव प्रतिमाह दस लाख गायें दान देता है, उसके लिए भी संयम श्रेष्ठ है, भले ही उस अवस्था में

वह कुछ भी दान नहीं देता हो। भगवतीसूत्र[15] में निर्ग्रंथ प्रवचन के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए तुंगिका के श्रमणोपासक कहते हैं कि यह निर्ग्रंथ प्रवचन ही सार्थक है, परमार्थ है, शेष सभी निरर्थक हैं।

निर्ग्रंथ श्रमणों के सुखों के महत्त्व पर भगवतीसूत्र में विशेष प्रकाश डाला गया है। श्रमण सांसारिक सुखों से निर्लिप्त रहते हुए संसार में रहता है अतः उसके सुखों को अलौकिक देवों के सुखों से श्रेष्ठतर बताते हुए कहा है– 'एक मास की दीक्षापर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ वाणव्यन्तर देवों की तेजोलेश्या (सुखासिका) का अतिक्रमण करता है अर्थात् वह वाणव्यन्तर देवों से भी अधिक सुखी होता है। दो मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ असुरेन्द्र (चरमेन्द्र और बलीन्द्र) के सिवाय (समस्त) भवनवासी देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ, (असुरेन्द्र-सहित) असुरकुमार देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। चार मास की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ ग्रहगण-नक्षत्र-तारारूप ज्योतिष्क देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। पांच मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ ज्योतिष्कराज चन्द्र और सूर्य की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। छह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ सौधर्म और ईशानकल्पवासी देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है। सात मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों की तेजोलेश्या का;आठ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ ब्रह्मलोक और लान्तक देवों की तेजोलेश्या का; नौ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्गंथ महाशुक्र और सहस्रार देवों की तेजोलेश्या का; दस मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवों की तेजोलेश्या का; ग्यारह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ ग्रैवेयक देवों की तेजोलेश्या का और बारह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रंथ अनुत्तरौपपातिक देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। इसके बाद शुक्ल (शुद्धचारित्री) एवं परम शुक्ल (निरतिचार-विशुद्धतरचारित्री) होकर फिर वह सिद्ध होता है, दुःखों का अन्त करता है।[16]

क्षत्रियकुमार जमालि के दीक्षा प्रसंग[17] में श्रमणधर्म की महत्ता को बताते हुए उसे इष्ट, अभिष्ट व रुचिकर कहा है तथा निर्ग्रंथ प्रवचन को तथ्यरूप सत्य व असंदिग्ध माना है। जमालि के प्रसंग में श्रमण प्रवचन का अद्वितीय स्वरूप बताते हुए जमालि के माता-पिता कहते हैं; 'यह निर्ग्रंथप्रवचन सत्य, अनुत्तर, अद्वितीय,

परिपूर्ण, न्याययुक्त, संशुद्ध, शल्य को काटने वाला, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्याणमार्ग और निर्वाणमार्गरूप है। यह अवितथ (असत्यरहित, असंदिग्ध) सर्वदु:खों का अन्त करने वाला है। इसमें तत्पर जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं, निर्वाण प्राप्त करते हैं एवं समस्त दु:खों का अन्त करते हैं। परन्तु यह निर्ग्रंथधर्म सर्प की तरह एकान्त (चारित्र पालन के प्रति निश्चय) दृष्टि वाला है, छुरे या खड्ग आदि तीक्ष्ण शस्त्र की तरह एकान्त (तीक्ष्ण) धार वाला है। यह लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है; बालू (रेत) के कौर (ग्रास) की तरह स्वादरहित (नीरस) है। गंगा आदि महानदी के प्रतिस्रोत में गमन के समान अथवा भुजाओं से महासमुद्र तैरने के समान पालन करने में अतीव कठिन है। निर्ग्रंथ धर्म पालन करना तीक्ष्ण तलवार की तीखी धार पर चलना है; महाशिला को उठाने के समान गुरुतर भार उठाना है। तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान इसका व्रताचरण करना (दुष्कर) है।

श्रमण दीक्षा

श्रमण दीक्षा अनगारधर्म का प्रवेशद्वार है। यह एक अर्न्तमुखी साधना है और इस साधना के पथ पर वही व्यक्ति चल सकता है जिसके अर्न्तमन में वैराग्य का सागर लहरा रहा हो, जो सांसारिक विलासों का त्याग कर आध्यात्मिक सुखों को अपनाना चाहता है। भगवती सूत्र में कई व्यक्तियों द्वारा श्रमण दीक्षा अंगीकार करने का वर्णन हुआ है। यथा– स्कन्दक परिव्राजक, जमालि, ऋषभदत्त ब्राह्मण, देवानन्दा ब्राह्मणी, मुनि अतिमुक्तकुमार, जयन्ती श्राविका आदि के दीक्षा प्रसंग से आर्हती दीक्षा के निम्न पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है।

वैराग्य के कारण

जैनागमों में वैराग्य धारण के कई कारण मिलते हैं। उत्तराध्ययन[18] में अरिष्टनेमि पशुओं की चित्कार से उपजी करुणा के कारण दीक्षा ग्रहण करते हैं तो राजीमती पति के मार्ग का अनुसरण करती हुई वैराग्य पथ को अंगीकार करती है। स्थानांगसूत्र[19] में प्रव्रज्या के 10 कारण (प्रकार) बताये हैं।

भगवतीसूत्र में संसार की नश्वरता व अनित्यता के साथ-साथ आत्मकल्याण की भावना को वैराग्य के प्रमुख कारण के रूप में विवेचित किया गया है। ग्रंथ[20] में संसार की नश्वरता व जीवन की अनित्यता से उद्विग्न जमालि कुमार माता-पिता से दीक्षा की अनुमति माँगते हुए कहते हैं– 'यह मनुष्य जन्म, जरा, मृत्यु, रोग तथा शारीरिक और मानसिक अनेक दु:खों की वेदना से और सैंकड़ों व्यसनों (कष्टों)

एवं उपद्रवों से ग्रस्त है। अध्रुव (चंचल) है, अनियत है, अशाश्वत है, संध्याकालीन बादलों के रंग-सादृश्य क्षणिक है, जल-बुलबुलों के समान है, कुश की नोक पर रहे हुए जल बिन्दु के समान है, स्वप्नदर्शन के तुल्य है, विद्युत-लता की चमक के समान चंचल और अनित्य है। सड़ने, पड़ने, गलने और विध्वंस होने के स्वभाव वाला है। पहले या पीछे इसे अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा। अत: हे माता-पिता! मैं चाहता हूँ कि आपकी अनुज्ञा मिल जाए तो मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास मुंडित होकर प्रव्रज्या अंगीकार कर लूँ।'

माता-पिता द्वारा विरोध करने पर पुन: जीवन की अनित्यता को बताते हुए कहते हैं- 'यह मानव-शरीर दु:खों का घर है, अनेक प्रकार की सैंकड़ों व्याधियों का निकेतन है, अस्थि-(हड्डी) रूप काष्ठ पर खड़ा हुआ है, नाड़ियों और स्नायुओं के जाल से वेष्टित है, मिट्टी के बर्तन के समान दुर्बल (नाजुक) है। अशुचि (गंदगी) से दूषित है, इसको टिकाये (संस्थापित) रखने के लिए सदैव इसकी सम्भाल (व्यवस्था) रखनी पड़ती है। यह सड़े हुए शव के समान और जीर्ण घर के समान है। सड़ना, गलना और नष्ट होना, इसका स्वभाव है। इस शरीर को पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ेगा; तब कौन जानता है कि पहले कौन जाएगा और पीछे कौन? इसलिए मैं चाहता हूँ कि आपकी आज्ञा प्राप्त होने पर मैं प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ।'

भगवतीसूत्र में जहाँ जमालि कुमार द्वारा संसार की अनित्यता के कारण वैराग्य धारण करने का विवरण प्राप्त होता है, वहीं स्कन्दक परिव्राजक द्वारा संसार की नश्वरता के साथ-साथ आत्मा के कल्याण के लिए वैराग्य को धारण किया गया। स्कन्दक परिव्राजक भगवान् महावीर से निर्गंथ धर्म में प्रवर्जित होने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं- 'वृद्धावस्था व मृत्युरूपी अग्नि से यह लोक जल रहा है। यदि किसी गृहस्थ के घर आग लग जाय तो वह बहुमूल्य व अल्पभार वाले सामान को पहले बाहर निकालता है और एकांत में ले जाकर सोचता है कि यह बचा सामान मेरे लिए हितकर एवं काम आने वाला होगा। इसी प्रकार मेरी आत्मा मेरे लिए बहुमूल्य भांड के समान है, यह मुझे इष्ट, कांत व प्रिय है, यह आत्मा मेरे लिए रत्न के समान है। इसलिए इसे ठंड, गर्मी न लगे, भूख-प्यास से यह पीड़ित न हो, इसे चोर, सर्प, डाँस, मच्छर आदि हानि न पहुँचाए, रोग परीषह-उपसर्ग, आतंक आदि इसे स्पर्श न करे। उपर्युक्त विघ्नों से रहित मेरी यह आत्मा मेरे लिए परलोक में हितकर, सुखरूप, कुशलरूप, कल्याणरूप व अनुगामीरूप होगा। इसलिए मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।'[21]

दीक्षा की वय (आयु)

कुछ जैनागमों में बाल, वृद्ध दीक्षा का निषेध मिलता है। निशीथभाष्य[22] में बाल-प्रव्रज्या देने में अनेक दोष बताये गये हैं। भगवतीसूत्र में वय की दृष्टि से दीक्षा ग्रहण करने के किसी नियम का उल्लेख नहीं हुआ है। जिस किसी के मन में वैराग्य का समुद्र लहराया वह दीक्षा ग्रहण कर संयमी जीवन की ओर बढ़ गया। श्रमण अनगारधर्म के लिए योग्यता का विवेचन करते हुए भगवतीसूत्र[23] में कहा है- क्लीबों (नामर्दों), कायरों, कापुरुषों तथा इस लोक में आसक्त और परलोक से पराङ्.मुख एवं विषयभोगों की तृष्णा वाले पुरुषों के लिए, प्राकृतजन (साधारण व्यक्ति) के लिए इस निर्ग्रंथप्रवचन (धर्म) का आचरण करना दुष्कर है; परन्तु धीर (साहसिक), कृतनिश्चय एवं उपाय में प्रवृत्त पुरुषों के लिए इसका आचरण करना कुछ भी दुष्कर नहीं है।ग्रंथ में बाल, युवा व वृद्ध तीनों ही वय के व्यक्तियों द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है।

भगवतीसूत्र के पांचवे शतक में अतिमुक्तकुमार[24] श्रमण का संक्षिप्त कथानक वर्णित हुआ है, जिसमें कुमार श्रमण बालचेष्ठा के कारण वर्षा ऋतु में अपने पात्रों को नौका की तरह बहाकर क्रीड़ा कर रहे थे। अल्पवय में दीक्षित होने के कारण ही अतिमुक्त के लिए 'कुमार श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य अभयदेवसूरि ने भगवती टीका[25] में स्पष्ट किया है कि अतिमुक्तकुमार ने छः वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की थी जबकि दीक्षा के लिए न्यूनतम आयु आठ वर्ष मानी गई है।[26] अतः अतिमुक्तकुमार का श्रमण दीक्षा ग्रहण करना तथा भगवान् महावीर द्वारा इसी भव में उनके सिद्ध-बुद्ध होने की घोषणा करना यह स्पष्ट करता है कि वैराग्य की तीव्रता होने पर आयु उसमें बाधक नहीं होती है। ग्रंथ में युवादीक्षा के भी उदाहरण मिलते हैं। क्षत्रियकुमार जमालि व राजकुमार महाबल द्वारा युवावस्था के प्रारंभ में ही श्रमणदीक्षा को अंगीकार किया गया।[27] ऋषभदत्त ब्राह्मण व देवानन्दा ब्राह्मणी को श्रमण भगवान् महावीर द्वारा स्वयं प्रवजित किया जाना वृद्ध दीक्षा के उदाहरण हैं।[28] दीक्षा ग्रहण के पश्चात् संयम, तप व अन्त में संलेखनापूर्वक संथारा कर दोनों सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं।

ग्रंथ में आये ये सभी उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि श्रमण दीक्षा का संबंध वय की अपेक्षा वैराग्य की तीव्रता से है। वैराग्य की तीव्र भावना होने पर किसी भी आयु का व्यक्ति दीक्षा अंगीकार कर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

दीक्षा के लिए अनुमति

श्रमण परम्परा में यह नियम रहा है कि प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए दीक्षार्थी को माता-पिता या उनके मौजूद न होने पर अन्य अभिभावक की अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक होती है। यद्यपि वैराग्य की प्रबल भावना के कारण ही दीक्षार्थी साधना के पथ पर आगे बढ़ता है परन्तु अगर उसमें माता-पिता या अभिभावकों की अनुमति प्राप्त हो जाय तो उस मार्ग पर प्रसन्नता से बढ़ा जा सकता है। भगवान् महावीर ने स्वयं माता-पिता की अनुमति प्राप्त न होने के कारण तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में बिताये। उनके दिवंगत होने के बाद ही दीक्षा ग्रहण की।[29] क्षत्रियकुमार जमालि भी अनेक तर्कों द्वारा संसार की असारता का निरूपण कर माता-पिता से दीक्षा की अनुमति मांगता है - **अम्म! ताओ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगरियं पव्वइत्तए** - (9.33.33)। महाबल कुमार भी वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर माता-पिता से अनुमति मांगता है तथा माता-पिता की इच्छा से एक दिन के लिए राज्यश्री को धारण कर फिर श्रमण दीक्षा ग्रहण करता है।[30] इसी प्रकार शिवराजर्षि[31] द्वारा दिशाप्रोक्षकतापसदीक्षा ग्रहण करने से पूर्व स्वजन तथा मित्रजन से अनुमति प्राप्त की गई। भगवतीसूत्र में किसी भी ऐसे व्यक्ति का उदाहरण नहीं प्राप्त होता जिसमें दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व माता-पिता की अनुमति न ली हो। हाँ कोई सन्यासी या ऐसा व्यक्ति जो अपना सर्वेसर्वा हो तो उसे किसी से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे स्कन्दक परिव्राजक स्वयं अकेले ही भगवान् महावीर के समीप आकर श्रमण दीक्षा अंगीकार करते हैं।

दीक्षा अभिनिष्क्रमण महोत्सव[32]

भगवतीसूत्र के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि साधक जब श्रमण दीक्षा धारण करना चाहता है तो वह चुपचाप अथवा नीरस वातावरण में दीक्षा नहीं लेता अपितु व्यवस्थित रूप से अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया जाता है और हर्ष, उल्लास के वातावरण में श्रमणदीक्षा होती है। जमालि के वैभवशाली दीक्षा अभिनिष्क्रमण महोत्सव का यह वर्णन दृष्टव्य है-

'सर्वप्रथम जमालि का 108 स्वर्णादि-कलशों से सर्वऋद्धि के साथ निष्क्रमणाभिषेक किया गया। रजोहरण व पात्र मंगवाये गये, नापित को बुलाया गया तथा निष्क्रमण के योग्य चार अंगुल अग्रकेश को छोड़कर शेष केश काटे गये। जमालि की माता द्वारा उन अग्रकेशों को कुमार के अन्तिम दर्शन रूप

समझकर ग्रहण किया गया। इसके पश्चात् कुमार को स्नान करवाकर गोशीर्ष चन्दन आदि का लेप किया गया, बहुमूल्य आभूषणों व वस्त्रों से कुमार को सुसज्जित किया गया। तत्पश्चात् जमालिकुमार हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली शिविका (पालकी) में माता, धाय माता के साथ बैठे। उनके पीछे-पीछे उनके पिता, चतुरंगिणी सेना एवं भटादिवर्ग चल रहे थे। अत्यंत ठाठ-बाठ, राजचिह्नों एवं सभी प्रकार के जनवर्ग के साथ अभिनन्दन व स्तवन किये जाते हुए कुमार द्वारा बहुशालक उद्यान के निकट पहुँचकर स्वयं ही अपने आभूषण, माला अलंकार आदि उतार दिये गये। तत्पश्चात् पंचमुष्ठि लोचकर श्रमण दीक्षा अंगीकार की। राजकुमार महाबल व राजा उदायन के दीक्षा-महोत्सव का भी इसी वैभव के साथ वर्णन हुआ है। सुदर्शन श्रेष्ठी, स्कन्दक परिव्राजक; ऋषभदत्त ब्राह्मण आदि की दीक्षा का वर्णन सामान्य है। देवानन्दा व जयन्ती के दीक्षा प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री को दीक्षा देते समय भगवान् महावीर स्वयं उन्हें मुंडित न करके आर्या चन्दना को सौंप देते थे। वही उन्हें प्रवजित करती थीं।[33]

श्रमण जीवनचर्या

श्रमण की जीवनचर्या अत्यन्त कठिन है तथा श्रमण जीवन के आचार का पालन करना भी दुर्लभ है। श्रमण निरन्तर इस चर्या व आचार का पालन कर ऊर्ध्वमुखी विकास करता हुआ, अपनी आत्मा को विभाव से हटाकर स्वभाव में रमण करता है और अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। किन्तु, इस अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करना इतना आसान कार्य नहीं है इसके लिए श्रमण अनगार को संयमी जीवन में एक क्रमबद्ध-चर्या का पालन करना होता है। जैनागम साहित्य में श्रमण की जीवन-चर्या के बारे में विस्तार से वर्णन प्राप्त होते हैं। भगवतीसूत्र में स्कन्दक परिव्राजक के प्रकरण में श्रमण जीवनचर्या का जीवन्त चित्र प्रस्तुत हुआ है। इससे संयमी जीवन का सूक्ष्म व क्रमबद्ध वर्णन हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। द्रष्टव्य है-

'स्कन्दक परिव्राजक द्वारा अनुरोध करने पर भगवान् महावीर ने उसे प्रवजित किया। उसे प्रतिलेखना आदि क्रियाएँ सिखाईं, सूत्र का पाठ पढ़ाया, ज्ञानादि आचार, गोचर, विनय, विनय का फल, चारित्र, पिण्ड-विशुद्ध आदि करण तथा संयम यात्रा के निर्वाहक आहारादि की मात्रा के ग्रहण रूप धर्म को समझाया। यतनापूर्वक चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, खाने, बोलने तथा प्राणी, जीवादि के प्रति सावधानीपूर्वक बर्ताव करने व प्रमाद न करने की शिक्षा दी। स्कन्दक मुनि

भगवान् महावीर के धर्मोपदेशों को स्वीकार कर उसी के अनुसार आचरण करने लगे। वे ईर्यासमिति आदि आठ समितियों का सम्यक् रूप से पालन करने लगे तथा मन, वचन, काय- इन तीन गुप्तियों से गुप्त रहने लगे। ब्रह्मचारी, त्यागी, संयमी, पुण्यवान, क्षमावान, जितेन्द्रियव्रतों आदि के शोधक, निदानरहित, आकांक्षारहित, उतावल से दूर, संयमीचित्त वाले, श्रेष्ठ साधुव्रतों में लीन, दान्त स्कन्दक मुनि इस निर्ग्रंथ आचरण को सम्मुख रखकर विचरण करने लगे।

स्थविरों के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करने के पश्चात् उनका कठोर तपस्वी जीवन इस प्रकार प्रारंभ हुआ- 'भगवान् महावीर की आज्ञा लेकर उन्होंने बारह भिक्षुप्रतिमाओं को क्रम से अंगीकार किया। अन्तिम 'एकरात्रिकी' भिक्षुप्रतिमा का पालन करने के पश्चात् उन्होंने 'गुणरत्नसंवत्सर' नामक तपश्चरण को अंगीकार किया तथा कल्पानुसार उसकी पूरी आराधना की। इसके पश्चात् अनेक उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला, मासखमण, अर्द्धमासखमण इत्यादि विविध प्रकार के तपों से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। इस प्रकार के उग्र तपश्चरण से उनका शरीर अत्यंत कृश हो गया लेकिन वे तप के तेज से पुष्ट थे। एक रात्रि में स्कन्दक मुनि को संलेखनापूर्वक संथारा ग्रहण करने की भावना हुई। अगले दिन भगवान् महावीर की आज्ञा से संलेखना संथारा करके, भक्त-पान का सर्वथा त्याग करके पादपोपगमन अनशन करके, मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए, एक मास की संलेखना से अपनी आत्मा को संलिखित करके, साठ भक्त का त्यागरूप अनशन करके, आलोचना और प्रतिक्रमण कर, समाधि प्राप्त कर कालधर्म को प्राप्त हुए।'

कालास्यवेषि पुत्र अनगार के प्रसंग में श्रमण की चर्या को इस प्रकार स्पष्ट किया है। 'कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन किया। नग्नभाव, मुण्डभाव, अस्नान, अदन्तधावन, छत्रवर्जन, पैरों मे जूते न पहनना, भूमिशयन, फलक पर शय्या, काष्ठ पर शयन, केशलोचन, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षार्थ गृहस्थों के घरों में प्रवेश, लाभ-अलाभ सहना, अनुकूल-प्रतिकूल इन्द्रिय समूह के लिए कण्टकसम चुभने वाले शब्दादि 22 परीषहों को सहन करना आदि इन सब साधनाओं को स्वीकार किया।[34]

संदर्भ

1. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि- जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 3-6
2. आचारांगनिर्युक्ति, गा. 16

3. जैन, प्रेमसुमन- जैन धर्म और जीवन मूल्य, पृ. 4
4. 'श्राम्यन्तीत श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः' - दशवैकालिकवृत्ति, 1.3
5. सूत्रकृतांग, 'गाहा', अध्ययन 16
6. 'न वि मुण्डिएण समणो.....समयाये समणो होइ- उत्तराध्ययन, 25.31, 32
7. उत्तराध्ययन, 8.2
8. प्रवचनसार, 3.41
9. व्या. सू., 1.9.17-18
10. व्या. सू., 1.1.11
11. मूलाचार, 2.120
12. धवला 9/4, 1,67/323/7
13. 'सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति' - आचारांग, मुनि मधुकर, 1.3.1.106, पृ. 85
14. उत्तराध्ययन, 9.40
15. 'निग्गंथे पवयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' - व्या. सू., 2.5.11
16. वही, 14.9.17
17. वही, 9.33.30, 31, 33, 43
18. उत्तराध्ययन, अध्ययन 22
19. स्थानांग, मुनि मधुकर, 10.15, पृ. 694
20. व्या. सू., 9.33.36, 38, 40, 42
21. वही, 2.1.34
22. (क) निशीथभाष्य, 11.3531,32 (ख) निशीथसूत्र, मुनि मधुकर, पृ. 236
23. वही, 9.33.44
24. व्या. सू., 5.4.17
25. 'छब्बरिसो पव्वइओ' - व्या. प्रज्ञप्ति टीका, 5.4
26. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि- जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 445
27. व्या. सू., 9.33.82, 11.11.57
28. वही, 9.33.16-20
29. वही, 15.1.21
30. वही, 11.11.55, 57
31. वही, 11.9.11
32. व्या. सू., 9.33.47-82
33. वही, 2.1.35-51
34. वही, 1.9.24



श्रमणाचार

जैन श्रमणों की आचार संहिता अन्य भारतीय परम्परा की आचार संहिता से अत्यन्त कठोर है। जैन श्रमणाचार संहिता का भवन संयम व तप के कठोर नियमों पर खड़ा है। जैनागमों में श्रमणों के आचार पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों में श्रमणों को असत्य भाषा-त्याग, कषायों पर नियंत्रण तथा साधना में एकाग्रता का सम्मिलित संदेश दिया गया है। आचारांग में श्रमण जीवन के लिए पालनीय बाह्य व आभ्यान्तर दोनों ही आचारों पर प्रकाश डाला गया है। 'शस्त्रपरिज्ञा' नामक अध्ययन में जहाँ जीव हिंसा का निषेध किया गया है, वहीं 'शीतोष्णीय' नामक अध्ययन में परीषहों को समभावपूर्वक सहन कर संयम साधना में दृढ़ रहने की प्रेरणा दी गई है। नौवां अध्ययन 'उपधानश्रुत' श्रमण जीवन में तप की महिमा को प्रतिपादित करता है। इसके अतिरिक्त आचारांग में श्रमणों के अशन, वसन, पात्र, निवास, भिक्षा संबंधी नियमों का भी वर्णन हुआ है। सूत्रकृतांगसूत्र में श्रमण के लिए आचरणीय समिति, परीषहजय, कषायजय आदि का उपदेश दिया गया है। स्थानांगसूत्र में महाव्रत, अष्टप्रवचनमाता, प्रत्याख्यान, तप, प्रायश्चित, आलोचना, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि का निरूपण है। उत्तराध्ययन श्रमण के आचार का निरूपण करने वाला प्रमुख ग्रंथ है। इसमें साधक को जागरूक रहने व तनिक भी प्रमाद न करने का संदेश दिया गया है। श्रमण के आचार को प्रतिपादित करने वाले ग्रंथों में दशवैकालिक का अपना मुख्य स्थान है। दशवैकालिक में संवेद, निर्वेद, विवेक, सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, विनय, शान्ति व मार्दव ये श्रमण के लक्षण बताये हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध आदि ग्रन्थों में भी श्रमणों के आचार-व्यवहार का वर्णन प्राप्त होता है।

भगवतीसूत्र में श्रमणाचार

भगवतीसूत्र में एक ओर जहाँ जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों- षड्द्रव्य, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, ज्ञान के भेद-प्रभेद आदि का विस्तार से विवेचन है, वहीं दूसरी ओर श्रमणधर्म के प्रमुख आचार व व्रतों का भी इसमें विस्तार से

प्रतिपादन हुआ है। व्रतात्मक आचार में पंचमहाव्रत, समिति, गुप्ति, व्यावहारात्मक आचार में समाचारी आदि सामान्य साध्वाचार का तथा विशेष श्रमणाचार में परीषह, तप, प्रत्याख्यान, संलेखना-संथारा आदि का विस्तृत वर्णन है।

आराधना : रत्नत्रय की साधना

ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की निरतिचार रूप से अनुपालना करना आराधना है। भगवतीसूत्र[1] में आराधना के तीन भेद किये गये हैं; 1. ज्ञान आराधना, 2. दर्शन आराधना, 3. चारित्र आराधना। आराधना के उक्त तीन भेद रत्नत्रय के सूचक हैं। रत्नत्रय की आराधना जैन आचार संहिता का मुख्य सोपान है। आचार्य उमास्वाति ने सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र को मोक्ष-मार्ग कहा है।

ज्ञान आराधना- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव एवं केवलज्ञान इन पाँच प्रकार के ज्ञान या ज्ञानाधार श्रुत (शास्त्रादि) की काल, विनय, बहुमान आदि आठ ज्ञानाचार-सहित निर्दोष रीति से पालना करना ज्ञानाराधना है। ज्ञान के आधार पर ही व्यक्ति का आचरण फलित होता है। भगवतीसूत्र[2] में प्रत्याख्यान के अन्तर्गत क्रिया के साथ-साथ ज्ञान को भी महत्त्व दिया गया है। ज्ञान के अभाव में क्रिया शुद्ध नहीं होती है। इसी बात को समझाते हुए वहाँ कहा गया है- किसी व्यक्ति द्वारा यह कहने मात्र से कि 'मैंने सर्व प्राण, भूत, जीव आदि की हिंसा का परित्याग किया है। उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं होता है। जब तक उसे यह ज्ञान नहीं होता कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं तब तक उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। जिस पुरुष को जीव-अजीव त्रस-स्थावर का ज्ञान होता है अगर वह सर्वप्राण, भूत, जीव आदि की हिंसा का प्रत्याख्यान करे तो उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। ज्ञान के अभाव में प्रत्याख्यान का यथावत् पालन नहीं होता है अतः वह प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान रहता है, सुप्रत्याख्यान नहीं होता है।'

श्रमण के व्यावहारिक जीवन में सम्यक् ज्ञान की अत्यंत उपयोगिता है। व्यवहार में सम्यक् ज्ञान की उपयोगिता हेतु भगवतीसूत्र में पंचविध व्यवहार का निरूपण हुआ है जिसके आधार पर श्रमण यथोचित सम्यक् प्रवृत्ति व निवृत्ति में संलग्न हो सकते हैं।

पंचविध व्यवहार

आध्यात्मिक जगत में व्यवहार से तात्पर्य मुमुक्षुओं की यथोचित सम्यक् प्रवृत्ति-निवृत्ति अथवा उसका कारणभूत, ज्ञान विशेष से है। भगवतीसूत्र[3] में व्यवहार के पाँच प्रकार बताये गये हैं;

1. आगम व्यवहार, 2. श्रुत व्यवहार, 3. आज्ञा व्यवहार, 4. धारणा व्यवहार, 5. जीत व्यवहार

साधु जीवन के लिए उपयोगी इन पाँच व्यवहारों की मर्यादा का निरूपण करते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है कि जिस साधु के पास आगम व्यवहार हो उसे आगम व्यवहार से प्रवृत्ति-निवृत्ति (व्यवहार) करनी चाहिये। जिसके पास आगम न हो उसे श्रुत व्यवहार से, जिसके पास श्रुत न हो तो उसे आज्ञा व्यवहार से, जिसके पास आज्ञा न हो उसे जिस प्रकार की धारणा हो उस धारणा से, तथा जिसके पास धारणा भी न हो, उसे जिस प्रकार का जीत व्यवहार हो उस जीत व्यवहार से चलना चाहिये। सम्यक् प्रकार से रागद्वेष से रहित व्यवहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रंथ (तीर्थंकर की) आज्ञा का आराधक होता है।

दर्शन आराधना– शंका, कांक्षा आदि अतिचारों को न लगाते हुए निःशंकित, निष्कांक्षित आदि आठ दर्शनाचारों का शुद्धतापूर्वक पालन करते हुए सम्यक्त्व की आराधना दर्शन आराधना है। दर्शन आराधना से तात्पर्य सम्यक् दर्शन से है। सम्यक् दर्शन का स्वरूप बताते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है– **तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहि पवेदितं** - (1.3.6) अर्थात् वही सत्य है जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित किया गया है। दर्शन आराधना से व्यक्ति में सही व गलत का विवेक जाग्रत होता है। यही विवेक ज्ञान आराधना एवं चारित्र आराधना में सहायक होता है। इसलिए भगवतीसूत्र में दर्शन आराधना के पालक को ही सच्चा आराधक कहा है। दर्शन आराधना के पांच अतिचार बताये हैं–

1. शंका– तत्त्व के विषय में सन्देह, जैसे– पानी में जीव है या अजीव? इत्यादि।

2. कांक्षा– कुतत्त्व की आकांक्षा।

3. विचिकित्सा– धार्मिक आराधना के फल के विषय में सन्देह, उदाहरणार्थ- तपस्या करने से कर्ममुक्ति होगी या नहीं?

4. भेद– तत्त्व या सत्य के प्रति मति का द्वैत, अनिर्णायक स्थिति का होना।

5. कलुष– तत्त्व के प्रति निर्मल बुद्धि का अभाव

चारित्र आराधना– सामायिक आदि चारित्रों अथवा समिति-गुप्ति, व्रत-महाव्रतादि रूप चारित्र का निरतिचार विशुद्ध पालन करना चारित्राराधना है। ग्रंथ[4] में चारित्र आराधना को महत्त्व देते हुए कहा गया है कि जो श्रुत सम्पन्न होने के

साथ-साथ शील सम्पन्न अर्थात् आचारयुक्त है, वही सच्चा आराधक होता है। अर्थात् अकेले ज्ञान से व्यक्ति धर्म का विज्ञाता नहीं होता है ज्ञानवान के साथ जब शीलवान भी होता है तभी वह पापादि से उपरत, धर्म का विज्ञाता तथा सर्व-आराधक कहलाता है। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र साथ-साथ आगे बढ़ते हैं। जैन आचार संहिता का पालन इन तीनों की सम्मिलित आराधना द्वारा ही संभव है।

भगवतीसूत्र[5] में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आराधना के पुनः तीन-तीन प्रकार बताये गये हैं- 1. उत्कृष्ट, 2. मध्यम और 3. जघन्य।

रत्नत्रय की उक्त त्रिविध आराधनाओं के उत्कृष्ट फल का विवेचन करते हुए भगवतीवृत्ति[6] में कहा गया है कि उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना वाले कतिपय साधक उसी भव में तथा कतिपय दो (बीच में एक देव और एक मनुष्य का) भव ग्रहण करके मोक्ष जाते हैं। कई जीव कल्पोपपन्न या कल्पातीत देवलोकों में, विशेषतः उत्कृष्ट चारित्राराधना वाले एकमात्र कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। मध्यम ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना वाले कई जीव जघन्य दो भव ग्रहण करके उत्कृष्टतः तीसरे भव में (बीच में दो भव देवों के करके) अवश्य मोक्ष जाते हैं। इसी तरह जघन्यतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने वाले कतिपय जीव जघन्य तीसरे भव में, उत्कृष्टतः सात या आठ भवों में अवश्यमेव मोक्ष जाते हैं। ये सात भव देवसम्बन्धी और आठ भव चारित्रसम्बन्धी मनुष्य के समझने चाहिए।

पंचमहाव्रत

भगवतीसूत्र में श्रमणों के आचार वर्णन में पंचमहाव्रतों के स्वरूप का क्रमिक वर्णन नहीं मिलता है। पार्श्व के अनुयायियों द्वारा भगवान् महावीर के पास चातुर्याम धर्म के बदले पंचमहाव्रतात्मक धर्म को स्वीकार करने का वर्णन अवश्य हुआ है। स्कन्दक मुनि के प्रसंग में जितेन्द्रियव्रतों व श्रेष्ठ साधुव्रतों का उल्लेख हुआ है। इनका तात्पर्य संभवतः पंचमहाव्रतों से ही है। इसके अतिरिक्त स्कन्दकमुनि द्वारा संलेखनापूर्वक समाधि मरण के प्रसंग में पंचमहाव्रतों की आरोपणा का उल्लेख भी आता है।[7] जैनागमों में पांच महाव्रतों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं[8]-

1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अचौर्य, 4. ब्रह्मचर्य, 5. अपरिग्रह

अहिंसा- मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से किसी भी परिस्थिति में त्रस या स्थावर जीवों को दुःखी न करना अहिंसा-महाव्रत है।

सत्य– क्रोध, हास्य, लाभ या भय के मौजूद होने पर भी झूठ नहीं बोलना, सदा सावधानीपूर्वक हितकारी सार्थक व प्रिय वचन बोलना, सत्य-महाव्रत है।

अचौर्य व्रत– तुच्छ से तुच्छ वस्तु को भी अदत्त नहीं ग्रहण करना अचौर्य-व्रत है। अचौर्य व्रत भी मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदित होना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो वस्तु ग्रहण की जाय वह निर्दोष व एषणीय हो।

ब्रह्मचर्य– देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी मैथुन का मन-वचन व काया से त्याग करना, ब्रह्मचर्य व्रत है।

अपरिग्रह– धन्य-धान्य एवं प्रेष्यवर्ग-दास-दासी आदि से संबंधित परिग्रह का त्याग अपरिग्रह व्रत है। श्रमण परिग्रह को मन, वचन और कर्म से न स्वयं संग्रह करता है, न दूसरों से करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन ही करता है। श्रमण का एक पर्याय निर्ग्रंथ है, जिसका अर्थ है– ग्रंथि रहित। अर्थात् जिसके परिग्रह की ग्रंथि नहीं होती है, वह निर्ग्रंथ है।

समिति व गुप्ति (अष्टप्रवचनमाता)

महाव्रतों की सुरक्षा के लिए समिति व गुप्ति का विधान है। समिति व गुप्ति का सम्मिलित नाम 'प्रवचन माता' है।[9] उत्तराध्ययन[10] में कहा गया है कि जिनदेव प्रणीत सिद्धान्त 12 अंगग्रंथों में समाविष्ट हैं। गुप्ति व समिति का सम्यक् रूप से पालन करने वाला साधु ही गुरु परम्परा से प्राप्त द्वादशांगी के ज्ञान को सुरक्षित रख सकता है अतः माता की तरह जिनदेव प्रणीत सिद्धान्तों की सुरक्षा करने वाली समिति व गुप्ति को प्रवचनमाता कहा है।

समिति– श्रमण की चारित्र में जो सम्यक् प्रवृत्ति होती है, वह समिति है। भगवतीसूत्र[11] में आठ समितियों का उल्लेख हुआ है–

1. ईर्यासमिति, 2. भाषासमिति, 3. एषणासमिति,

4. आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणसमिति, 5.उच्चार-प्रस्रवण-खेलजल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, 6. मनसमिति, 7. वचनसमिति, 8. कायसमिति।

स्थानांगसूत्र[12] में भी इन आठ समितियों का उल्लेख हुआ है। इन आठों को समिति कहा गया है, इसको स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन टीका[13] में कहा गया है कि गुप्तियाँ केवल निवृत्त्यात्मक ही नहीं होती, प्रवृत्त्यात्मक भी होती हैं। इस दृष्टि से उन्हें भी समिति कहा गया है।

गुप्ति– आचार्य उमास्वाति[14] ने गुप्ति को परिभाषित करते हुए कहा है कि मन, वचन व काय का प्रशस्त निग्रह गुप्ति है। भगवतीसूत्र[15] में तीन गुप्तियों का उल्लेख हुआ है;

1. मन गुप्ति, 2. वचन गुप्ति, 3. काय गुप्ति

समिति व गुप्ति के महत्त्व को बताते हुए मूलाराधना[16] में कहा गया है कि समितियों का दृढ़ता से पालन करने वाला श्रमण विविध कार्य करता हुआ भी पापों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता है जैसे कवच पहने हुए योद्धा पर तीक्ष्ण बाण असर नहीं करते हैं। जिस तरह क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़ या नगर की रक्षा हेतु खाई होती है, वैसे ही पाप के निरुन्धन के लिए गुप्तियाँ उपयोगी हैं। समिति और गुप्ति के अभाव में महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकते।

प्रतिसेवना[17]

पाप या दोषों से होने वाली चारित्र की विराधना को प्रतिसेवना कहते हैं। भगवतीसूत्र में प्रतिसेवना के दस प्रकार बताये गये हैं।

1. दर्पप्रतिसेवना (अहंकारपूर्वक होने वाली संयम की विराधना)

2. प्रमादप्रतिसेवना (मद्य, विषय-कषाय, निद्रा, विकथा आदि प्रमादों के सेवन से होने वाली संयम की विराधना)

3. अनाभोगप्रतिसेवना (अनजाने में हो जाने वाली संयम की विराधना)

4. आतुरप्रतिसेवना (भूख, प्यास, रोग, व्याधि आदि किसी पीड़ा से व्याकुलतावश संयम की विराधना)

5. आपतप्रतिसेवना (किसी आपत्ति या संकट आने पर की गई संयम की विराधना)

6. संकीर्णप्रतिसेवना (स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली स्थान की तंगी के कारण संयम मर्यादा में दोष लगना)

7. सहसाकारप्रतिसेवना (बिना प्रतिलेखना किये अचानक दोषयुक्त प्रवृत्ति करना)

8. भयप्रतिसेवना (सिंह आदि के भय से संयम की विराधना करना)

9. प्रद्वेषप्रतिसेवना (किसी के प्रति क्रोधादि कषायों के कारण संयम की विराधना करना)

10. विमर्शप्रतिसेवना (शिष्य की परीक्षा आदि के लिए विचारपूर्वक की गई संयम की विराधना)

आलोचना[18]

प्रतिसेवना के किसी भी प्रकार के कारण अगर संयम की विराधना होती है तब अपना दोष सरलतापूर्वक गुरुजनों के समक्ष प्रकट करना आलोचना है।

सामान्यतया आलोचना का अर्थ है, अपने दोषों को भली प्रकार से देखना। आलोचना की प्रक्रिया में साधक पहले स्वयं अपने मन में जाने-अनजाने में लगे दोषों का विचार करता है, फिर उन दोषों के उचित प्रायश्चित के लिए आचार्य या बड़े साधु के समक्ष निवेदन करता है। श्रमण के जीवन में आलोचना का अत्यन्त महत्त्व है। आलोचना के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है- यदि भिक्षु अकृत्य (पाप) का सेवन करके उसकी आलोचना तथा प्रतिक्रमण किये बिना ही मर जाता है तो वह विराधक होता है। किन्तु, किसी प्रकार के पाप का सेवन करने वाला भिक्षु उसकी आलोचना व प्रतिक्रमण करके काल करता है तो वह आराधक होता है।[19] इस संबंध में मधुकरमुनि[20] ने लिखा है कि 'जीवन में पवित्रता तभी रहेगी जब दोष को प्रकट कर उसका यथोचित प्रायश्चित किया जाय। आलोचना करने से साधक माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप तीन शल्यों को अन्तर्मानस से निकाल दूर कर देता है। कांटा निकलने से हृदय में सुखानुभूति होती है, वैसे ही पाप को प्रकट करने से भी जीवन निःशल्य बन जाता है। जो साधक पाप करके भी आलोचना नहीं करता है, उसकी सारी आध्यात्मिक क्रियाएँ बेकार हो जाती हैं।

आलोचना के दस दोष-

जाने-अनजाने में लगे दोषों की आलोचना करना साधक के लिए नितान्त आवश्यक है लेकिन जो साधक धूर्तता व चालाकी से आलोचना करते हैं उनकी आलोचना दोषपूर्ण होती है। भगवतीसूत्र में आलोचना के दस दोष इस प्रकार बताये गये हैं;

1. आकम्प्य- प्रसन्न होने से गुरुदेव मुझे थोड़ा प्रायश्चित देंगे, ऐसा सोचकर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न करके फिर आलोचना करना अथवा कांपते हुए आलोचना करना।

2. अनुमान्य- अनुमान्य अर्थात् बिल्कुल छोटा अपराध बताने से गुरुदेव मुझे थोड़ा प्रायश्चित देंगे, ऐसा अनुमान करके अपने अपराध को बहुत ही छोटा (अणु) करके बताना।

3. दृष्ट- जिस दोष को गुरु आदि ने सेवन करते देख लिया, उसी की आलोचना करना।

4. बादर- केवल बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करना और छोटे अपराधों की आलोचना न करना।

5. सूक्ष्म- केवल छोटे-छोटे अपराधों की आलोचना करना।

6. छन्न- अधिक लज्जा के कारण आलोचना के समय अव्यक्त-शब्द बोलते हुए आलोचना करना।

7. शब्दाकुल- शब्दाकुल होकर उच्चस्वर में बोलना।

8. बहुजन- एक ही दोष या अतिचार की अनेक साधुओं के पास आलोचना करना।

9. अव्यक्त- अगीतार्थ के समक्ष आलोचना करना।

10. तत्सेवी- जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष का सेवन करने वाले आचार्य या बड़े साधु के समक्ष उसकी आलोचना करना।

आलोचना करने वाले श्रमण के गुण

दस गुणों से युक्त श्रमण अनगार अपने दोषों की आलोचना करने योग्य होता है।

1. जाति सम्पन्न, 2. कुल सम्पन्न, 3. विनय सम्पन्न, 4. ज्ञान सम्पन्न, 5. दर्शन सम्पन्न, 6. चारित्र सम्पन्न, 7. क्षमाशील, 8. दान्त, 9. अमायी, 10. अपश्चातापी

आलोचना सुनने वाले साधक के गुण

श्रमण को अपने दोषों की आलोचना किसी योग्य आचार्य के समक्ष करनी चाहिये। आलोचना को सुनकर उसके लिए प्रायश्चित देने वाले साधक के आठ गुण बताये गये हैं;

1. आचारवान, 2. आधारवान, 3. व्यवहारवान, 4. अपव्रीडक, 5. प्रकुर्वक, 6. अपरिस्रावी, 7. निर्यापक, 8. अपायदर्शी

स्थानांगसूत्र[21] में आलोचना सुनने वाले साधक के 10 गुण बताये हैं। वहाँ प्रियधर्मी व दृढ़धर्मी इन दो गुणों का भी उल्लेख है।

समाचारी[22]

समाचारी जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। समाचारी श्रमणों का वह विशेष क्रियाकलाप है, जो श्रमणों के लिए मौलिक नियमों की तरह अनिवार्य है। समाचारी शब्द का प्रयोग श्रमणों के व्यावहारात्मक आचार के लिए किया गया है। श्रमण जीवन की दिन रात में जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, वे सभी 'समाचारी' शब्द से व्यवहृत की गई हैं। भगवतीवृत्ति में कहा गया है कि समाचारी साधु के आचार पालन में उपयोगी आचार पद्धति है (भगवती प्रमेय चन्द्रिका टीका भाग-16, पृ. 415-416) वस्तुतः समाचारी संघीय जीवन जीने की श्रेष्ठ कला है। इससे परस्पर

एकता की भावना तथा संघीय शक्ति विकसित होती है। उत्तराध्ययन[23] में दस प्रकार की समाचारी का वर्णन हुआ है। भगवतीसूत्र में समाचारी के दस प्रकार निम्न बताये गये हैं।

1. इच्छाकार, 2. मिथ्याकार, 3. तथाकार, 4. आवश्यकी, 5. नैषेधिकी, 6. आपृच्छना, 7. प्रतिपृच्छना, 8. छन्दना, 9. निमंत्रणा, 10. उपसम्पदा

इच्छाकार– इस समाचारी के अनुसार एक साधु दूसरे साधु की इच्छा जानकर कार्य करे, अथवा दूसरा साधु अपने गुरु या बड़े साधु की इच्छा जानकर कार्य करे। इससे संघीय अनुशासन बना रहता है।

मिथ्याकार– संयमपालन करते हुए यदि कोई विपरीत आचरण हो गया हो तो 'मिच्छा मि दुक्कडं' अर्थात् मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो, यह कहकर साधु प्रायश्चित करता है।

तथाकार– गुरुजन के निर्देश, उपदेश या व्याख्यान श्रवण से शिष्य के मन में अपूर्व आह्लाद होकर यह शब्द फूटना कि जो आपने कहा है वह पूर्णरूप से सत्य है।

आवश्यकी– आवश्यक कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर निकलते समय 'आवस्सइ आवस्सइ' कहना।

नैषेधिकी– बाहर लौटकर उपाश्रय में प्रवेश करने पर निसीहि-निसीहि कहना। अर्थात् जिस कार्य के लिए मैं बाहर गया था, उस कार्य से निवृत्त होकर आ गया हूँ।

आपृच्छना– किसी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व गुरुदेव से पूछना 'भगवन् मैं यह कार्य करूँ?' आपृच्छना समाचारी है।

प्रतिपृच्छना– पहले गुरु ने अगर किसी कार्य का निषेध किया हो, किन्तु आवश्यक होने के कारण उस कार्य में प्रवृत्त होने के लिए पुनः गुरु को पूछना प्रतिपृच्छना समाचारी है।

छन्दना– लाये हुए आहार के लिए दूसरे साधुओं को आमंत्रण देना छन्दना समाचारी है।

निमंत्रणा– आहार लाने के लिए दूसरे साधुओं से पूछना निमंत्रणा समाचारी है।

उपसम्पदा– ज्ञानादि प्राप्त करने के लिए गुरु की आज्ञा प्राप्त कर अपना गण छोड़कर विशेष आगमज्ञ गुरु के या आचार्य के सानिध्य में रहना, उपसम्पद समाचारी है।

प्रायश्चित[24]

भगवतीसूत्र में प्रतिसेवना, दोषालोचना, आलोचनार्ह, समाचारी, प्रायश्चित व तप इन छः द्वारों को प्रायश्चित से संबंधित माना है। प्रायश्चित का उल्लेख तप के बारह भेदों में भी हुआ है। प्रायश्चित का अर्थ है पाप का विशोधन करना। राजवार्तिक में प्रायश्चित को स्पष्ट करते हुए कहा गया है– **अपराधौ वा प्रायः चितं शुद्धिः** - (9.22.1) प्रायस चित्तं- प्रायश्चित अपराध विशुद्धिः। प्रायः का अर्थ है अपराध व चित्त से तात्पर्य है शोधन अर्थात् जिस क्रिया से पाप की शुद्धि हो, वह क्रिया प्रायश्चित है। मानव कभी-कभी प्रमादवश दोषों का सेवन कर लेता है। उन दोषों की शुद्धि के लिए प्रयास करना तथा भविष्य में फिर कभी उस प्रकार का दोष न लगे इसके लिए कृतसंकल्प होना ही प्रायश्चित है। प्रायश्चित के दस प्रकार बताये गये हैं–

आलोचनार्ह– संयम में लगे हुए दोषों को गुरु के समक्ष स्पष्ट वचनों में सरलतापूर्वक प्रकट करना आलोचनार्ह है।

प्रतिक्रमणार्ह– जिन पाप या दोषों की शुद्धि प्रतिक्रमण से हो जाती है, प्रतिक्रमणार्ह है।

तदुभयार्ह– जिन दोषों की शुद्धि के लिए आलोचना व प्रतिक्रमण दोनों अनिवार्य हैं।

विवेकार्ह– आधाकर्मादि दोषयुक्त आहारादि को सविधि परठना विवेकार्ह है।

व्युत्सर्गार्ह– नदी आदि को पार करने में तथा मार्ग आदि में चलने से असावधानी के कारण यदि कोई दोष लग गया हो तो कायोत्सर्ग कर उस दोष की विशुद्धि करना व्युत्सर्गार्ह है।

तपार्ह– जिस दोष की शुद्धि तप से हो उसे तपार्ह कहा जाता है।

छेदार्ह– जिस प्रायश्चित में दोष की विशुद्धि के लिए दीक्षा-पर्याय का छेदन किया जाता है, वह छेदार्ह है।

मूलार्ह– कभी-कभी प्रबल दोष के सेवन से पूर्वगृहीत दीक्षा नष्ट हो जाती है, ऐसे दोष की विशुद्धि के लिए पुनः महाव्रत लिए जाते हैं, वह मूलार्ह प्रायश्चित है।

अनवस्थाप्यार्ह– जिस प्रबल दोष की विशुद्धि के लिए अनवस्थापित होना पड़ता है अर्थात् श्रमणवेष को छोड़कर गृहस्थवेष धारण कर तप किया जाता

है, उसके बाद पुनः नई दीक्षा दी जाती है, इसे अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित कहा जाता है।

पारांचिकार्ह– किसी प्रबल दोष के कारण साधु को गच्छ से बाहर निकलने तथा स्वक्षेत्र का त्याग करने योग्य प्रायश्चित दिया जाय, उसे पारांचिकार्ह प्रायश्चित कहते हैं। इस प्रायश्चित में जिनकल्पिक श्रमण की तरह उग्र तपस्या करनी होती है, अवधि पूर्ण होने पर पुनः नई दीक्षा लेकर वह श्रमण-संघ में सम्मिलित होता है।

तत्वार्थसूत्र[25] में प्रायश्चित के नौ प्रकारों का उल्लेख मिलता है। पारांचिकार्ह का वहाँ उल्लेख नहीं मिलता है।

विशेषसाध्वाचार

आत्मा की विशेषशुद्धि के लिए जिन साध्वाचार का विशेषरूप से पालन किया जाता है उसे विशेष साध्वाचार कहते हैं। इसमें तप, परीषह, भिक्षुप्रतिमाएँ, समाधिमरण आदि सम्मिलित हैं।

तप

तप श्रमण संस्कृति का प्राण है, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है। तप के द्वारा ही आत्मा को निर्मल बनाकर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। श्रमण जीवन का मूलमंत्र तप है। वस्तुतः श्रमण शब्द तपस्वी का ही पर्यायवाची है। श्रमण तप से अपनी आत्मा को तपाकर परमात्मा बनाने का प्रयत्न करता है। आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकवृत्ति[26] में तप का दूसरा नाम श्रमण दिया है। तप श्रमण संस्कृति में मोक्ष-आराधना का एक सशक्त माध्यम है। तप के द्वारा श्रमण आत्मा के साथ प्रगाढ़रूप से चिपके हुए कर्मरूपी मैल को हटाकर आत्मा को निर्मल बनाता है। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति में तप को धर्म का नाम दिया गया है। स्थानांग[27] व समवायांग[28] में तप को दस प्रकार के धर्मों में एक धर्म के रूप में माना गया है। जैनधर्म तप को उत्कृष्ट मंगल के रूप में मानता है। उत्तराध्ययन[29] में ज्ञान-दर्शन-चारित्र के साथ तप को भी मोक्ष का मार्ग कहा है।

तप का महत्त्व

तप की महिमा और गरिमा का जो आदर्श श्रमण संस्कृति ने प्रस्तुत किया है, वह अनूठा व अद्‌भुत है। श्रमण संस्कृति में तप जीवन के उत्थान व आत्मा के निज-स्वरूप की प्राप्ति में सहायक माना गया है। तप की उत्कृष्ट आराधना से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। भगवतीसूत्र में आये कई उदाहरण इस बात को

स्पष्ट करते हैं कि श्रमण संस्कृति का श्रमण श्रमणत्व को स्वीकार कर तपकर्म का आचरण करता है और अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त करता है। स्कन्दक परिव्राजक, कालास्यवेषि-पुत्र, ऋषभदत्त-ब्राह्मण, देवानंदा-ब्राह्मणी, उदायन राजा आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा तप की उत्कृष्ट साधना को अपनाकर मुक्ति प्राप्ति की गई।[30]

तप बंधे हुए कर्मों को क्षय करने की प्रवृत्ति है। आत्मा का शुद्धिकरण है। चूंकि तप की प्रक्रिया आत्मा पर लगे कर्म पुद्गलों को हटाकर विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करती है अत: तप को आत्मा के शोधन की प्रक्रिया माना है। भगवतीसूत्र[31] में तप का फल व्यवदान (कर्मों का क्षय, विशुद्धि) बताया गया है। जैनपरम्परा में तप की उत्कृष्ट साधना का कितना महत्त्व रहा है, यह बात जैन तीर्थंकरों के जीवन से स्पष्ट हो जाती है। श्रमण भगवान् महावीर ने अपने साधना-काल के साढ़े बारह वर्षों में से ग्यारह वर्ष निराहार रहकर बिताये थे। आचारांग के नवें अध्ययन में भगवान् महावीर के उग्रतपस्वीरूप का सशक्त चित्रण मिलता है। भगवतीसूत्र में वर्णित स्कन्दक-परिव्राजक का प्रकरण तप की महत्ता व उत्कृष्टता को प्रकट करता है।

वस्तुत: तप जीवन का ओज व शक्ति है, तप विहीन साधना खोखली होती है। तप की महिमा को बताते हुए मधुकर मुनि[32] लिखते हैं कि 'तप भारतीय साधना का प्राणतत्त्व है, जैसे शरीर में ऊष्मा जीवन के अस्तित्व का द्योतक है, वैसे ही साधना में तप उसके दिव्य अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है। तप के बिना न निग्रह होता है न अभिग्रह होता है। तप दमन नहीं शमन है। तप आहार का ही त्याग नहीं, वासना का भी त्याग है। तप अन्तर्मानस में पनपते हुए विकारों को जलाकर भस्म कर देता है और साथ ही अन्तर्मानस में रहे हुए सघन अन्धकार को भी नष्ट कर देता है। इसलिए तप ज्वाला भी है और ज्योति भी है। तप जीवन को सौम्य, सात्विक और सर्वांगपूर्ण बनाता है। तप की साधना से आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त होती है। तप एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसकी निर्मल छत्रछाया में साधना के अमृतफल प्राप्त होते हैं। तप से जीवन ओजस्वी, तेजस्वी और प्रभावशाली बनता है।'

तप की परिभाषा

तप का अर्थ है, तपाना। आचार्य मलयदेवसूरि ने तप की परिभाषा करते हुए कहा है- तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तप: अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, वह तप है।[33] भगवतीसूत्र[34] में कहा गया है कि जैसे सूखे घास को अग्नि क्षणभर में जला देती है, उसी तरह तपरूपी अग्नि कर्मों को जला देती है।

तप के भेद[35]

तप से तात्पर्य सिर्फ उपवास आदि काय-क्लेश ही नहीं वरन् स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि भी तप के अन्तर्गत ही आते हैं। भगवतीसूत्र में तप के मुख्यतः दो भेद किये गये हैं; 1. बाह्य तप, 2. आभ्यान्तर तप। ग्रंथ में इनके भेद-प्रभेदों का विस्तार से विवेचन है।

बाह्य तप

जिस तप में बाह्य शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता होती है तथा जो बाह्य-द्रव्यों की अपेक्षा युक्त होने से दूसरों को दृष्टिगोचर होता है, वह बाह्य तप कहलाता है। बाह्यतप स्थूल होता है। बाह्य तप के छः भेद ग्रंथ में किये गये हैं-

1. अनशन 2. अवमौदर्य 3. भिक्षाचर्या 4. रसपरित्याग 5. कायक्लेश 6. प्रतिसंलीनता

अनशन

अनशन का अर्थ है, सब प्रकार के भोजन पानी का त्याग करना। अनशन से न केवल तन अपितु मन की भी शुद्धि हो जाती है तथा शरीर का तेज प्रकट होता है। भगवतीसूत्र[36] में अनशन तप की महत्ता बताते हुए कहा है कि चतुर्थभक्त (उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रंथ जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतना नैरयिक जीव एक हजार वर्षों में भी नहीं करते हैं। इसी प्रकार बेला, तेला, चौला करने वाला श्रमण जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों की निर्जरा एक नैरयिक कोटा-कोटी वर्षों में भी नहीं कर पाता है। इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा गया है कि तपाये हुए लोहे की कढ़ाई पर पानी की बूंद शीघ्र नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार तपस्वी श्रमण के कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। अनशन के प्रमुख दो भेद हैं; 1. इत्वरिकअनशन, 2. यावत्कथिक अनशन

इत्वरिक अनशन- इत्वरिक अनशन में कुछ निश्चित समय के लिए आहार त्याग किया जाता है। इत्वरिक अनशन अनेक प्रकार का होता है, यथा चतुर्थभक्त (उपवास), अष्टमभक्त (तेला), दशमभक्त (चौला), द्वादशभक्त (पचौला), चतुर्दशभक्त (छह उपवास), अर्द्धमासिक, मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक आदि।

यावत्कथिक अनशन- यावत्कथिक अनशन में जीवनपर्यन्त आहार-त्याग किया जाता है। इसके दो प्रकार हैं; पादपोपगमन व भक्तप्रत्याख्यान।

अवमौदर्य

अवमौदर्य तप का अर्थ है, भूख से कम खाना। इससे न केवल मनोबल दृढ़ रहता है अपितु शारीरिक संस्थान भी सुदृढ़ होता है। इसके दो भेद किये गये हैं;

1. द्रव्यअवमोदरिका, 2. भावअवमोदरिका

द्रव्यअवमोदरिका

आहार की मात्रा से कम खाना तथा आवश्यकता से कम वस्त्रादि रखना द्रव्यअवमोदरिका तप कहलाता है। द्रव्यअवमोदरिका से साधक का जीवन बाहर से हल्का, स्वस्थ व प्रसन्न रहता है। इसके पुनः दो अवान्तर भेद किये गये हैं;

1. उपकरणद्रव्य-अवमोदरिका, 2. भक्तपानद्रव्य-अवमोदरिका

उपकरणद्रव्य-अवमोदरिका- उपकरणद्रव्य-अवमोदरिका का अर्थ है एक वस्त्र, एक पात्र तथा त्याक्तोपकरण-स्वदनता अर्थात् साधु को परिग्रह कम से कम रखना चाहिये। आचारांगसूत्र में भी श्रमणों के वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का निरूपण किया गया है।

भक्तपानद्रव्य-अवमोदरिका- भक्तपानद्रव्य-अवमोदरिका का अर्थ है, भूख से कम आहार करना। इसके पाँच प्रकारों का ग्रंथ में विवेचन किया है। अण्डे के बराबर आठ कवल प्रमाण आहार करना अल्पाहार-अवमोदरिका है, बारह कवल-प्रमाण आहार करना अपार्द्ध-अवमोदरिका है। सौलह कवल प्रमाण आहार करने वाला अर्धहारी है। चौबीस कवल-प्रमाण आहार करने वाला साधु ऊनोदरिका वाला है। बत्तीस कवल-प्रमाण आहार करने वाला प्रमाणोपेत ऊनोदरी कहलाता है। बत्तीस कवल से एक ग्रास भी कम आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रंथ प्रकामरसभोजी नहीं होता है। अर्थात् पूर्ण आहार करना तप नहीं माना जाता है, एक कोर भी कम आहार करे तो वह थोड़ा तप अवश्य माना जाता है।

भाव-अवमोदरिका

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों को कम करना, कम बोलना, अल्प झंझट करना, हृदयस्थ कषायों को शांत करना आदि भाव-अवमोदरिका तप है। भाव-अवमोदरिका तप में अन्तरंग जीवन में प्रसन्नता पैदा होती है और सद्गुणों का विकास होता है। ग्रंथ में अक्रोध, अमान, अमाया, अलोभ को श्रमणों के लिए प्रशस्त बताया है।[37]

भिक्षाचर्या

विविध प्रकार के अभिग्रह लेकर भिक्षा की गवेषणा करना भिक्षाचर्या तप कहलाता है। श्रमण अनगार भिक्षावृत्ति द्वारा अपना निर्वाह करता है। इस प्रक्रिया में श्रमण केवल अपने जीवन निर्वाह के लिए गृहस्थ के घर जाकर शुद्ध आहार ग्रहण करता है। भिक्षा कई प्रकार की होती है। त्यागी, अहिंसक श्रमण अपने

उदरनिर्वाह के लिए मधुकर वृत्ति से गृहस्थ के घर में सहज भाव से निर्मित निर्दोष विधि से भिक्षा ग्रहण करते हैं, वह भिक्षा सर्वसम्मत्कारी है। इस प्रकार की भिक्षा देने वाले के भी बहुत से कर्मों की निर्जरा होती है।[38] भगवतीसूत्र में भिक्षाचर्या के औपपातिकसूत्र की तरह तीस प्रकार बताये हैं यथा– द्रव्याभिग्रहचरक भिक्षाचर्या, क्षेत्राभिग्रहचरक भिक्षाचर्या, शुद्धेषणीयक भिक्षाचर्या, संख्यादत्तिक भिक्षा आदि।

भगवतीसूत्र[39] में श्रमण की भिक्षाविधि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि भिक्षाटन के निमित्त जाने वाला श्रमण ऊँच, नीच और मध्यम कुलों के गृह-समुदाय में भिक्षाचर्या की विधि से भिक्षा ग्रहण करता है। श्रमण की इस भिक्षावृत्ति के लिए ग्रंथों में 'गोयर' शब्द का प्रयोग हुआ है[40] अर्थात् गाय की तरह भ्रमण करना। जिस तरह गाय एक किनारे से दूसरे किनारे तक बिना जड़ को उखाड़े घास चरती है वैसे ही श्रमण भी बिना गृहस्थ को कष्ट दिये भेद-भाव रहित सरस व निरस आहार को ग्रहण करता है। श्रमण की भिक्षा नौ विधियों से शुद्ध होती है।[41] उत्तराध्ययनसूत्र[42] में कहा गया है कि साधु भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न का सेवन करता है तथा वह भिक्षा अनिन्दित व अज्ञात घरों से थोड़ा-थोड़ा माँगकर लाई हुई होनी चाहिये। दशवैकालिक, मूलाचार आदि ग्रंथों में श्रमण की भिक्षाचर्या पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

अकल्पनीय आहार[43]

श्रमण यद्यपि भिक्षावृत्ति द्वारा आहार ग्रहण करता है परन्तु निम्न प्रतिकूल प्रकार का आहार उसके लिए कल्पने योग्य नहीं होता है।

आधाकर्मिक– किसी खास साधु के लिए सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त को पकाना।

औद्देशिक– याचकों और साधुओं के उद्देश्य से आहारादि तैयार करना।

मिश्रजात– अपने और साधुओं के लिए एक साथ पकाया हुआ आहार।

अध्यवपूरक– साधुओं का आगमन देख अपने बनते हुए भोजन में और आहार मिला देना।

पूतिकर्म– शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाना।

क्रीत– साधु के लिए खरीदा हुआ आहार।

प्रामित्य– साधु के लिए उधार लिया हुआ आहारादि।

अछेद्य– किसी से जबरन छीनकर साधु को आहारादि देना।

अनिःसृष्ट– किसी वस्तु के एक से अधिक स्वामी होने पर सबकी इच्छा के बिना देना।

अभ्याहृत– साधु के सामने लाकर आहारादि देना।

कान्तारभक्त– वन में रहे हुए भिखारी आदि के लिए तैयार किया हुआ आहारादि।

दुर्भिक्षभक्त– दुष्काल पीड़ित लोगों को देने के लिए तैयार किया हुआ आहारादि।

ग्लानभक्त– रोगियों के लिए तैयार किया हुआ आहारादि।

वर्दलिकाभक्त– दुर्दिन या वर्षा के समय भिखारियों के लिए तैयार किया हुआ आहारादि।

प्राघूर्णकभक्त– पाहुनों के लिए बनाया हुआ आहारादि।

शय्यातरपिण्ड– साधुओं को मकान देने वाले के यहाँ का आहार लेना।

राजपिण्ड– राजा के लिए बने हुए आहारादि में से देना।

इसके अतिरिक्त मूल, कन्द, बीज, फल और हरी वनस्पति का भोजन अथवा पान भी साधु के लिए अकल्पनीय बताया गया है।

सदोष व निर्दोष भिक्षाचर्या[44]

भगवतीसूत्र में श्रमणों की भिक्षाचर्या में लगने वाले दोषों तथा दोषमुक्त भिक्षाचर्या पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

अंगार, धूम व संयोजना दोष

साधु द्वारा भिक्षाविधि से लाये गये निर्दोष आहार का साधुओं के मण्डल में बैठकर सेवन करते समय निम्न दोष लगते हैं।

अंगार दोष– यदि कोई निर्ग्रंथ या निर्ग्रंथी प्रासुक व एषणीय चतुर्विध आहार को ग्रहण कर उसमें मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित या आसक्त होकर उसका सेवन करते हैं तो वह आहार अंगारदोष से दूषित आहार-पानी कहलाता है।

धूम दोष– जो निर्ग्रंथ या निर्ग्रंथी प्रासुक व एषणीय चतुर्विध आहार को ग्रहण करके अत्यंत अप्रीतिपूर्वक या क्रोध से खिन्न होते हुए उस आहार का सेवन करते हैं तो वह आहार धूम दोषयुक्त हो जाता है।

संयोजना दोष– जो निर्ग्रंथ या निर्ग्रंथी प्रासुक व एषणीय आहार को ग्रहण करने के पश्चात् स्वाद या गुण उत्पन्न करने के लिए दूसरे पदार्थों के साथ संयोग करके आहार-पानी करते हैं, वह आहार-पानी संयोजना दोष से दूषित कहलाता है।

अंगार, धूम व संयोजना दोष मुक्त आहार

मूर्च्छारहित, अगिद्ध, अग्रथित व अनासक्त भाव से किया गया आहार, अंगार दोष रहित आहार होता है, अप्रीतिपूर्वक या क्रोध से खिन्न होते हुए आहार

नहीं करना धूम दोष रहित आहार होता है तथा जैसा मिला है वैसा ही आहार बिना संयोग किये करना संयोजना दोष से रहित आहार होता है।

क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त व प्रमाणातिक्रान्त आहार

निर्ग्रंथ या निर्ग्रंथी द्वारा 1. सूर्योदय से पूर्व ग्रहण करके सूर्योदय के पश्चात् किया गया आहार क्षेत्रातिक्रान्त पान-भोजन होता है, 2. प्रथम प्रहर (पौरूषी) में ग्रहण कर अन्तिम प्रहर (पौरूषी) तक रखकर सेवन किया जाने वाला कालातिक्रान्त पान-भोजन कहलाता है, 3. आधे योजन की मर्यादा का उल्लंघन करके किया जाने वाला आहार मार्गातिक्रान्त पान-भोजन कहलाता है, 4. कुक्कुटीअण्डक प्रमाण बत्तीस कवल की मात्रा से अधिक आहार प्रमाणातिक्रान्त आहार कहलाता है।

शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणामित, एषित, व्येषित सामुदायिक भिक्षारूप आहार

जो आहार जन्तुओं से रहित, जीवच्युत और जीवविमुक्त (प्रासुक)हो, जो साधु के लिए नहीं बनाया गया, न बनवाया गया, जो असंकल्पित (आधाकर्मादि दोष रहित), अनाहूत (आमंत्रणरहित), अक्रीतकृत (नहीं खरीद हुआ), अनुद्दिष्ट (औद्देशिक दोष से रहित), नवकोटिविशुद्ध है, (शंकित आदि) इन दस दोषों से विमुक्त है, उद्गम (16 उद्गम दोष) और उत्पादना (16 उत्पादना) संबंधी एषणा दोषों से रहित सुपरिशुद्ध है, अंगार, धूम, संयोजनादोष रहित है तथा जो सुरसुर और चपचप शब्द से रहित, बहुत शीघ्रता और अत्यन्त विलम्ब से रहित, आहार का लेशमात्र भी छोड़े बिना, नीचे न गिराते हुए, गाड़ी की धुरी के अंजन अथवा घाव पर लगाए जाने वाले लेप (मल्हम) की तरह केवल संयमयात्रा के निर्वाह के लिए और संयम-भार को वहन करने के लिए, जिस प्रकार सर्प बिल में (सीधा) प्रवेश करता है, उसी प्रकार जो आहार करते हैं, वह शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणामित, एषित, व्येषित सामुदायिक भिक्षारूप पान-भोजन है।

पिण्ड पात्रादि का उपभोग

भगवतीसूत्र[45] में कहा गया है- गृहस्थ द्वारा दिये गये आहाररूप पिण्ड, पात्र, गुच्छक, रजोहरण आदि जितनी संख्या में जिसको उपभोग करने के लिए दिये हैं, उसे ग्रहण करने वाले साधु को चाहिये कि वह उसी प्रकार स्थविरों को वितरित करे। यदि ढूंढने पर भी वे स्थविर नहीं मिले तो उस वस्तु का न तो स्वयं उपयोग करे और न ही वह वस्तु दूसरे साधु को दे, अपितु विधिपूर्वक उसे परठ देनी चाहिये। इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा गया है कि यदि कोई गृहस्थ निर्ग्रंथ को दो या अधिक पिण्ड (खाने की वस्तु) बहराता है और यह उपनिमंत्रण

करता है कि एक आप खाना तथा शेष अन्य स्थविरों को देना। तब उस श्रमण को उन अन्य स्थविरों की गवेषणा करनी चाहिये तथा जहाँ भी वे स्थविर मिले उन्हें वे पिण्ड दे देने चाहिये। यदि वे स्थविर न मिले तो उसे न तो वे पिण्ड स्वयं खाने चाहिये न ही अन्य किसी श्रमण को देने चाहिये, किन्तु एकांत अनापात, अचित्त भूमि का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जनकर उन पिण्डों को वहाँ परठ देना चाहिये।

आधाकर्म दोषयुक्त एवं प्रासुकएषणीयादि आहार सेवन का फल

भगवतीसूत्र[46] में कहा गया है– 'आधाकर्म दोषयुक्त आहारादि का सेवन करने वाला श्रमण निर्ग्रंथ आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रकृतियों को दृढ़ बंधन में बांधता है तथा अपने आत्मधर्म का अतिक्रमण करता हुआ जीवों की परवाह न करता हुआ उनका उपभोग करता है और इस अनंत संसार में बार-बार भटकता है। प्रासुक व एषणीय आहारादि का उपयोग करने वाला श्रमण आयुकर्म को छोड़कर सात कर्म प्रकृतियों के बंधन को ढीला करता है। वह संवृत अनगार के समान होता है। वह आत्मधर्म का उल्लंघन नहीं करता है। वह पृथ्वीकायादि सभी जीवों के जीवन को चाहता है अतः इस अनंत संसार को पार कर जाता है।'

आधाकर्मादि दोषों से युक्त आहार का किसी भी रूप में मन-वचन-काय से सेवन करने वाला साधु यदि अन्तिम समय में उस दोष स्थान की आलोचना प्रतिक्रमणादि किये बिना ही काल कर जाता है तो वह विराधक होता है, किन्तु यदि इन दोषों में से सेवित किसी भी दोष का अन्तिम समय में आलोचना-प्रतिक्रमण आदि कर लेता है, तो वह आराधक होता है।[47]

रस परित्याग

रस परित्याग का अर्थ है, अस्वादव्रत। दूध, दही, घी, तेल तथा मिष्ठान आदि विकृतिजनक पदार्थों का त्याग करके भोजन करना, रस परित्याग है। वैसे तो साधु के लिए नीरस आहार का ही विधान है पर सरस आहार मिल जाये तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु रस-परित्याग तप को ग्रहण करने वाला दूध, दही घी आदि से युक्त सरस भोजन का अंगीकार नहीं कर सकता है। रस परित्यागतप से जमालि को भयंकर रोग उत्पन्न हो गया था।[48] ग्रंथ[49] में कहा गया है कि अत्यंत आसक्त होकर प्रीतिपूर्वक आहार करने वाले साधु को अंगार दोष लगता है। रस-परित्याग के निर्विकृतिक, प्रणीतरस-विवर्जक, रूक्षाहार आदि अनेक भेद किये गये हैं।

कायक्लेश

कायक्लेश का शाब्दिक अर्थ है, काया को कष्ट देना। इससे शरीर में निश्चलता एवं अप्रमत्तता आती है। कायक्लेश तप में साधक कष्टों को आमंत्रित

करके बुलाता है। वस्तुतः आध्यात्मिक तप, जप, संयम आदि की साधना एवं पालन के लिए शरीर को शास्त्र-सम्मत तरीके से समभावपूर्वक क्लेश पहुँचाना कायक्लेश तप है। वीरासन, उत्कुटुकासन, दण्डासन आदि आसनों का सेवन, केशलुंचन, जंगल में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा होना, ध्यान लगाना आदि कायक्लेश तप हैं। ग्रंथ में इसके अनेक भेद बताये गये हैं यथा– स्थान-स्थितिक, स्थानातिग उत्कुटुकासनिक आदि।

प्रतिसंलीनता

प्रतिसंलीनता से तात्पर्य है, लीन होना। आत्मा को 'पर' से हटाकर 'स्व' पर केन्द्रित करना, उसे अर्न्तमुखी बनाना ही प्रतिसंलीनता है। इस तप में इन्द्रियों, कषायों तथा मन, वचन, काया के योगों को बाहर से हटाकर भीतर की ओर केन्द्रित किया जाता है तथा एकान्त स्थान में निवास किया जाता है। इसके चार भेद हैं।

1. इन्द्रियप्रतिसंलीनता 2. कषायप्रतिसंलीनता
3. योगप्रतिसंलीनता 4. विविक्तशय्यासन- प्रतिसंलीनता।

इनके प्रभेदों का भी ग्रंथ में उल्लेख किया गया है।

आभ्यान्तर तप– जिस तप का सीधा संबंध आत्मा के आन्तरिक परिणामों से होता है, उसे आभ्यान्तर तप कहते हैं। आभ्यान्तर तप में अन्तकरण के व्यापार की प्रधानता होती है। आभ्यान्तर तप के बिना बाह्य तप अपूर्ण है। भगवतीसूत्र में तामली तापस व पूरण तापस की उग्र तपस्या का वर्णन है, किन्तु आभ्यान्तर तप के अभाव में उनका उग्र तप अज्ञान तप ही था।[50] तप का प्रारंभ बाह्यतप से होता है, किन्तु उसकी पूर्णता आभ्यान्तर तप के बिना संभव नहीं होती है। बाह्यतप से जब साधक का तन उत्तप्त हो जाता है, तब मन की मलीनता को नष्ट करने के लिए वह आभ्यान्तर तप की ओर उन्मुख होता है। आभ्यान्तर तप मोक्ष प्राप्ति का अन्तरंग कारण है। मुमुक्षुसाधक इसे अपनाकर अन्तरंग राग-द्वेष आदि का क्षय करते हैं। इस तप का प्रभाव बाह्य शरीर पर नहीं पड़ता है। आभ्यान्तर तप छः प्रकार बताया गया है;

1. प्रायश्चित, 2. विनय, 3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान, 6. व्युत्सर्ग

प्रायश्चित

जो पाप का छेदन करता है, वह प्रायश्चित है। प्रायश्चित के आलोचनार्ह आदि दस भेद बताये गये हैं। इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

विनय तप

दशवैकालिक में विनय को धर्म का मूल माना है।[51] विनय का अर्थ केवल नम्रता ही नहीं अनुशासन भी है। गुरुजन की इच्छा, आज्ञा आदि को ध्यान में रखकर आचरण करना ही अनुशासन विनय है। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में विनय पर विस्तार से चर्चा मिलती है। आगम साहित्य में विनय शब्द तीन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; 1. अनुशासन, आत्मसंयम तथा नम्रता। भगवतीसूत्र में विनय के सात प्रकार बताये गये हैं–

1. ज्ञान विनय, 2. दर्शन विनय, 3. चारित्र विनय, 4. मन विनय, 5. वचन विनय, 6. काय विनय, 7. लोकोपचार विनय

ज्ञान विनय– ज्ञान व ज्ञानी के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना उनके प्रति बहुमान दिखाना, उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर सम्यक् चिन्तन-मनन करना आदि प्रक्रिया ज्ञान-विनय है। ज्ञान विनय के पाँच प्रकार हैं;

1. मतिज्ञान-विनय, 2. श्रुतज्ञान-विनय, 3. अवधिज्ञान-विनय, 4. मनःपर्यवज्ञान-विनय, 5. केवलज्ञान-विनय।

दर्शन विनय– देव-गुरु व धर्म इन तीनों पर श्रद्धा रखना, इनकी अवहेलना ना करना दर्शन विनय है। दर्शन विनय के दो भेद हैं; 1. शुश्रूषा विनय, 2. अनाशातना विनय।

चारित्र विनय– चारित्र व चारित्रवानों का विनय करना चारित्र विनय है। यह पाँच प्रकार का है;

1. सामायिकचारित्रविनय, 2. छेदोपस्थापनीयचारित्रविनय,
3. परिहारविशुद्धचारित्रविनय, 4. सूक्ष्मसंपरायचारित्रविनय,
5. यथाख्यातचारित्रविनय।

मनोविनय– मन को अप्रशस्त कार्यों से हटाकर पवित्र कार्यों में लगाना मनोविनय है। इसके दो मुख्य भेद हैं। 1. प्रशस्त मनोविनय, 2. अप्रशस्त मनोविनय

वचन विनय– अप्रशस्त शब्दों का त्याग कर प्रशस्त वाणी का प्रयोग करना वचन विनय है। वचन विनय के दो मुख्य भेद हैं;

1. प्रशस्तवचनविनय, 2. अप्रशस्तवचनविनय।

काय विनय– काय संबंधी जिनती भी प्रवृत्तियाँ हैं, यथा– चलना, उठना, बैठना आदि उन्हें उपयोगपूर्वक करना काय विनय है।

लोकोपचार विनय– इस विनय से लोक-व्यवहार की कुशलता सहज

उत्पन्न होती है। दूसरे साधर्मिकों को सुख-शान्ति प्राप्त हो, इस प्रकार का व्यवहार व चेष्टाएँ करना लोकोपचार विनय के अन्तर्गत आता है।

वैयावृत्य

वैयावृत्य जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो कि सेवा-शुश्रूषा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आचार्य (गुरु), तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहारादि लाकर देना, परिचर्या करना, सेवा करना आदि वैयावृत्य है। वैयावृत्य के महत्त्व को बताते हुए उत्तराध्ययन में कहा गया है कि वैयावृत्य से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन होता है- **वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोयं कम्मं निबंधेइ** - (29.44)। स्थानांगसूत्र[52] में वैयावृत्य का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि रोगी, नवदीक्षित, आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधक महान निर्जरा और महान पर्यवसान प्राप्त करता है। स्थानांगसूत्र[53] में भगवान् महावीर ने आठ शिक्षाएँ प्रदान की हैं, उनमें से दो शिक्षाएँ वैयावृत्य को ही पुष्ट करती हैं। जो अनाश्रित, असहाय तथा अनाधार हैं, उनको सहायता-सहयोग एवं आश्रय देने को सदा तत्पर रहना चाहिये। दूसरी शिक्षा है कि रोगी की सेवा करने के लिए अग्लान भाव से सदा तत्पर रहना चाहिये। सेवा करने वाले को सदा विवेकपूर्व ढंग से सेवा करनी चाहिये अर्थात् अवसर के अनुसार सेवा करना ही सच्चे वैयावृत्य का पालन करना है। वैयावृत्य के दस भेद बताये गये हैं-

1. आचार्यवैयावृत्य, 2. उपाध्यायवैयावृत्य, 3. स्थविरवैयावृत्य,
4. तपस्वीवैयावृत्य, 5. ग्लानवैयावृत्य, 6. शैक्षवैयावृत्य,
7. कुलवैयावृत्य, 8. गणवैयावृत्य, 9. संघवैयावृत्य,
10. साधर्मिकवैयावृत्य

स्वाध्याय

शास्त्रों का मर्यादापूर्वक और विधि सहित अध्ययन करना स्वाध्याय है- **सुष्ठु-आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः** - (स्थानांगटीका 5.3.465) स्वाध्याय वाणी का तप है, स्वाध्याय से नया विचार व नया चिन्तन उत्पन्न होता है। स्थानांग[54] में इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय से श्रुत का संग्रह होता है। श्रुतज्ञान से उपकृत शिष्य प्रेम से श्रुत की सेवा करता है। इससे उसके ज्ञान के प्रतिबंधक कर्म निर्जरित होते हैं तथा निरन्तर स्वाध्याय से सूत्र विच्छिन्न नहीं होते हैं। उत्तराध्ययन[55] में कहा है कि स्वाध्याय समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाता है। जैन साहित्य ही नहीं वैदिक साहित्य में भी स्वाध्याय के महत्त्व

को स्वीकार करते हुए कहा गया है 'तपो हि स्वाध्यायः' स्वाध्याय स्वयं तप है। वस्तुतः स्वाध्याय अपने आप में एक महान तप है, जिसके द्वारा न केवल मन का मैल नष्ट होता है वरन् सद्विचार व अच्छे संस्कार जागृत होते हैं। भगवतीसूत्र में स्वाध्याय के पाँच भेद बताये हैं;

1. वाचना, 2. प्रतिपृच्छना, 3. परिवर्त्तना, 4. अनुप्रेक्षा, 5. धर्मकथा

वाचना– शास्त्र व उसका अर्थ पढ़ना, पढ़ाना वाचना स्वाध्याय है।

प्रतिपृच्छना– वाचना देते समय या लेते समय कोई शंका हो तो योग्य गुरु से पूछना प्रतिपृच्छना स्वाध्याय है।

परिवर्त्तना– पढ़े हुए या सीखे हुए ज्ञान को बार-बार दोहराना ताकि वह विस्मृत ना हो जाय, परिवर्त्तना स्वाध्याय है।

अनुप्रेक्षा– सीखे हुए शास्त्र का अर्थ विस्मृत ना हो जाय, इसलिए उसका बार-बार मनन, चिन्तन, स्मरण करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

धर्मकथा– उपर्युक्त चारों प्रकारों से शास्त्रों का अच्छा अध्ययन हो जाने पर श्रोताओं को शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना, प्रवचन देना आदि धर्मकथा स्वाध्याय है।

स्थानांग[56] में भी स्वाध्याय के इन पाँच भेदों का उल्लेख है, लेकिन वहाँ प्रतिपृच्छना के स्थान पर पृच्छना शब्द का प्रयोग है।

ध्यान

जैन ग्रंथों में ध्यान की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। चित्त को किसी भी विषय में एकाग्र करना, स्थिर करना, ध्यान है। आचार्य उमास्वाति[57] ने मन की एकाग्रता को महत्त्व देते हुए ध्यान की परिभाषा इस प्रकार दी है; एकाग्र चिन्तन तथा शरीर, वाणी और मन का निरोध, ध्यान है। देवेन्द्रमुनिशास्त्री ने कहा है कि ध्यान में चेतना की वह अवस्था है, जो अपने आलम्बन के प्रति पूर्णतया एकाग्र होती है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है। चेतना के विराट आलोक में चित्त विलीन हो जाता है, वह ध्यान है।[58] ध्यान दो प्रकार का होता है; शुभ ध्यान व अशुभ ध्यान। शुभ ध्यान मोक्ष का कारण होता है। अशुभ ध्यान नरक व तिर्यंच का कारण होता है। अशुभ ध्यान अधोमुखी होता है तथा शुभ ध्यान ऊर्ध्वमुखी होता है। भगवतीसूत्र में ध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं; 1. आर्त्तध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान, 4. शुक्लध्यान। ग्रंथ में इनके स्वरूप का विस्तृत वर्णन है।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग शब्द 'वि' + उत्सर्ग से बना है, 'वि' उपसर्ग का अर्थ है, विशिष्ट तथा उत्सर्ग का अर्थ है, त्याग। व्युत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ हुआ, विशिष्ट त्याग।

उत्तराध्ययन[59] में व्युत्सर्ग के अर्थ में कायोत्सर्ग का प्रयोग हुआ है। आचार्य अकलंक[60] ने व्युत्सर्ग की परिभाषा देते हुए कहा है कि– निस्संगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग उत्सर्ग है तथा आत्मसाधना के लिए अपने आप का उत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है। आचार्य भद्रबाहु[61] ने व्युत्सर्ग करने वाले साधक के अन्तर्मानस का चित्रण करते हुए लिखा है कि– यह शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। शरीर नाशवान है, आत्मा शाश्वत है। व्युत्सर्ग करने वाला साधक स्व (आत्मा) के निकटतर होता चला जाता है और पर की ममता से मुक्त हो जाता है। वस्तुतः इस देह के प्रति ममत्व का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग के दो भेद हैं; 1. द्रव्यव्युत्सर्ग 2. भावव्युत्सर्ग। द्रव्यव्युत्सर्ग चार प्रकार का बताया गया है;

1. गणव्युत्सर्ग, 2. शरीरव्युत्सर्ग, 3. उपधिव्युत्सर्ग, 4. भक्तपानव्युत्सर्ग

भावत्युत्सर्ग तीन प्रकार का है; 1. कषायव्युत्सर्ग, 2. संसारव्युत्सर्ग, 3. कर्मव्युत्सर्ग। पुनः कषायव्युत्सर्ग के क्रोधादि चार भेद, संसारव्युत्सर्ग के नैरयिक आदि चार भेद तथा कर्मव्युत्सर्ग के ज्ञानवरणीयादि आठ प्रभेद किये गये हैं। कहीं-कहीं भावउत्सर्ग का चौथा भेद योग उत्सर्ग भी बताया गया है। उसके मनादि तीन प्रभेद किये गये हैं।

परीषह[62]

आचार संहिता का पालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि किसी प्रकार का कोई संकट समुपस्थित हो जाता है तो उसे परीषह कहते हैं। परीषहों को समभावपूर्वक सहन करना परीषह जय कहलाता है। कष्ट श्रमण जीवन को निखारने के लिए आता है। श्रमण को कष्ट-सहिष्णु होना चाहिये, जिससे वह साधना के पथ से विचलित न हो सके। तत्त्वार्थसूत्र[63] में परीषह का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए जो कुछ सहा जाता है, वह परीषह है। उत्तराध्ययन[64] में परीषह के अर्थ में उपसर्ग शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि जो इन उपसर्गों (परीषहों) को जीत लेता है वह संसार में भ्रमण नहीं करता है। भगवतीसूत्र में परीषहों के 22 प्रकार बताये गये हैं।

1. क्षुधापरीषह– संयम मर्यादानुसार एषणीय, कल्पनीय निर्दोष आहार न मिलने पर भूख को सहन करना क्षुधा परीषह है।

2. पिपासा परीषह– प्यास से मुख सूख जाने पर भी सचित जल का प्रयोग न करके अचित्त जल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना पिपासा परीषह है।

3. शीत परीषह– विचरण करते हुए शीत लगने पर यदि वस्त्रादि का अभाव हो तब भी अग्नि आदि के सेवन का चिन्तन नहीं करना, शीत परीषह है।

4. उष्ण परीषह– गर्मी से अत्यन्त तापित होने पर भी स्नान, पंखा झलना आदि का निषेध उष्ण परीषह है।

5. दंश-मशक परीषह– डांस, मच्छर, जूं, खटमल आदि के काटने पर उन्हें पीड़ित नहीं करना दंश-मशक परीषह है।

6. अचेल-परीषह– वस्त्राभाव, वस्त्र की अल्पता या जीर्ण-शीर्ण, मलिन आदि अपर्याप्त वस्त्रों के सद्भाव से होने वाला परीषह अचेल परीषह है।

7. अरति-परीषह– संयम मार्ग में कठिनाईयाँ, असुविधाएँ एवं कष्ट आने पर अरति-अरुचि या उद्विग्नता से उत्पन्न होने वाला कष्ट अरति-परीषह है।

8. स्त्री परीषह– स्त्रियों से होने वाला कष्ट, साध्वियों के लिए पुरुषों से होने वाला कष्ट स्त्री परीषह है।

9. चर्या परीषह– चर्या से तात्पर्य है, गमन। ग्रामानुग्राम विचरण में पैदल चलने से होने वाला कष्ट चर्या परीषह है।

10. निषद्या परीषह– स्वाध्याय आदि की भूमि में तथा सूने घर आदि में ठहरने से होने वाले उपद्रव का कष्ट निषद्या या निशीथिका परीषह है।

11. शय्या परीषह– आवास स्थान की प्रतिकूलता से होने वाला कष्ट शय्या परीषह है।

12. आक्रोश परीषह– दारुण, कठोर व धमकी भरे वचनों व डाँट फटकार से होने वाला कष्ट आक्रोश परीषह है।

13. वध परीषह– मारने-पीटने से होने वाला कष्ट, वध-परीषह है।

14. याचना परीषह– भिक्षा से माँगकर वस्तुएँ लाने से होने वाला मानसिक कष्ट याचना परीषह है।

15. अलाभ परीषह– भिक्षादि न मिलने पर होने वाला कष्ट, अलाभ परीषह है।

16. रोग परीषह– रोग के कारण होने वाला कष्ट रोग परीषह है।

17. तृणस्पर्श परीषह– घास के बिछौने पर सोने से या मार्ग पर चलते समय तृणादि के चुभने से होने वाला कष्ट तृणस्पर्श परीषह है।

18. जल्ल परीषह– कपड़ों पर या तन पर मैल, पसीना, धूल या कीचड़ के जम जाने से होने वाला कष्ट जल्ल परीषह है।

19. सत्कार पुरस्कार परीषह– आदर, सत्कार, प्रतिष्ठा, यश, प्रसिद्धि आदि न मिलने से होने वाला मानसिक खेद, सत्कार-पुरस्कार परीषह है।

20. प्रज्ञा परीषह– प्रखर या विशिष्ट बुद्धि का गर्व करना प्रज्ञा परीषह है।

21. ज्ञान या अज्ञान परीषह– विशिष्ट ज्ञान होने पर अहंकार करना तथा ज्ञान की मंदता होने पर दैन्यभाव को प्रकट करना ज्ञान या अज्ञान परीषह है।

22. अदर्शन या दर्शन परीषह– दूसरे मत वालों की रिद्धि-वृद्धि, चमत्कार, आडम्बरादि देखकर सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त से विचलित होना अदर्शन या दर्शन परीषह है।

यद्यपि ग्रंथ में जीव के ये 22 परीषह बताये गये हैं किन्तु, वह एक साथ बाईस परीषहों को नहीं वेदता है। आयुकर्म को छोड़कर सात प्रकार के तथा आयुबंधकाल में आठ प्रकार के कर्मों का बंध करने वाला जीव बीस परीषहों को ही वेदता है क्योंकि जिस समय उष्ण परीषह को वेदता है उस समय शीत परीषह को नहीं वेदता है तथा जिस समय चर्या परीषह का वेदन करता है उस समय निषद्या परीषह का वेदन नहीं करता है। उत्तराध्ययन व समवायांग में भी परीषहों की संख्या 22 बताई गई है, किन्तु 20, 21 व 22वें परीषह के क्रम में कुछ अन्तर है। भगवतीसूत्र में परीषहों का क्रम उत्तराध्ययनसूत्र[65] के समान है। समवायांग[66] में 20वां ज्ञान, 21वां दर्शन तथा 22वां प्रज्ञा है। भगवतीसूत्र व उत्तराध्ययन में प्रज्ञा, अज्ञान-ज्ञान व दर्शन ऐसा क्रम है।

परीषह व कर्म प्रकृतियाँ[67]

कर्म प्रकृतियाँ आठ हैं, किन्तु 22 परीषहों का ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय व अन्तराय इन चार कर्म प्रकृतियों में ही समावेश हो जाता है। दूसरे शब्दों में इन चार कर्मों के उदय से ये 22 परीषह उत्पन्न होते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म में प्रज्ञापरीषह व ज्ञानपरीषह का समावेश होता है। वेदनीय कर्म में क्षुधा परीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह, दंशमशकपरीषह, चर्यापरीषह, शय्यापरीषह, वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह और जल्लपरीषह इन ग्यारह परीषहों का समावेश होता है। दर्शन मोहनीय कर्म में एक मात्र दर्शन परीषह का समावेश होता है। चारित्र मोहनीय कर्म में अरति परीषह, अचेल परीषह, स्त्री परीषह, निषद्यापरीषह, याचनापरीषह, आक्रोशपरीषह और सत्कार-पुरस्कार परीषह का समावेश होता है। अन्तरायकर्म में एक अलाभ परीषह का समावेश होता है।

भिक्षु प्रतिमाएँ[68]

प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञा विशेष। निर्ग्रंथ मुनियों के अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहा गया है। प्रतिमाधारी मुनि शरीर को संस्कारित करता है तथा शरीर के

प्रति ममत्व का पूर्ण त्याग कर देता है। वह अदीनतापूर्वक समभाव से सभी प्रकार के उपसर्गों को सहन करता है। ग्रंथ में 12 भिक्षु प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है।

1. मासिक, 2. द्विमासिक, 3. त्रैमासिक, 4. चातुर्मासिक, 5. पंचमासिक, 6. षट्मासिक, 7. सप्तमासिक, 8. प्रथम सप्तरात्रिदिवसकी, 9. द्वितीय सप्तरात्रिदिवसकी, 10. तृतीय सप्तरात्रिदिवसकी, 11. एक अहोरात्रिकी, 12. एक रात्रिकी।

इन प्रतिमाओं के नामोल्लेख से इनकी अवधि स्पष्ट हो जाती है। इनका विशेष विवेचन दशाश्रुतस्कन्ध[69] में उपलब्ध है।

एकमासिक– एक मास के समय वाली इस प्रतिमा में भिक्षु एक दत्ति अन्न की एवं एक दत्ति जल की ग्रहण करता है और आने वाले सभी कष्टों को सहन करता है। दत्ति शब्द से तात्पर्य है बिना धार टूटे एक बार में जितना आहार या पानी साधु के पात्र में आ जाय उसे दत्ति कहते हैं।

द्विमासिक– द्विमासिक प्रतिमा में भिक्षु दो मास तक दो दत्तियाँ जल की व दो दत्तियाँ आहार की ग्रहण करता है।

त्रिमासिक– त्रिमासिक प्रतिमा में भिक्षु तीन मास तक तीन दत्तियाँ आहार-पानी की ग्रहण करता है।

चतुर्मासिक– चतुर्मासिक प्रतिमा में भिक्षु चार मास तक चार दत्तियाँ आहार व पानी ग्रहण करता है।

पंचमासिक– पंचमासिक प्रतिमा में भिक्षु पाँच माह तक आहार-पानी की पाँच दत्तियाँ ग्रहण करता है।

षट्मासिक– षट्मासिक प्रतिमा में भिक्षु छः मास तक छः दत्तियाँ आहार-पानी ग्रहण करता है।

सप्तमासिक– सप्तमासिक प्रतिमाधारक भिक्षु सात मास तक सात दत्तियाँ आहार-पानी की ग्रहण करता है।

प्रथम सप्तअहोरात्रिकी– (प्रथम सप्तरात्रिदिवसकी) आठवीं प्रतिमा सात दिन-रात्रि की होती है। इसमें भिक्षु एकान्तर चौविहार उपवास करके आसन विशेष लगाकर ध्यान करता है।

द्वितीय सप्तअहोरात्रिकी– (द्वितीय सप्तरात्रिदिवसकी) नौवीं प्रतिमा भी सात दिन रात्रि की होती है। इसमें भी एकान्तर चौविहार उपवास करके आसन विशेष लगाकर ध्यान किया जाता है।

तृतीय सप्तअहोरात्रिकी– (तृतीय सप्तरात्रिदिवसकी) दसवीं प्रतिमा भी सात दिन रात्रि की होती है। इसमें भी एकान्तर चौविहार उपवास करके ग्राम आदि के बाहर आसन विशेष लगाकर ध्यान किया जाता है।

अहोरात्रिकी– ग्यारहवीं प्रतिमा एक दिन रात्रि की होती है। आठ प्रहर तक इस प्रतिमा की साधना की जाती है। इसमें चौविहार बेला किया जाता है तथा गाँव या नगर के बाहर जाकर दोनों हाथों को घुटने तक लम्बे करके कायोत्सर्ग किया जाता है।

रात्रिकी– बारहवीं प्रतिमा एक रात्रि की होती है। इसकी आराधना चौविहार तेले के द्वारा की जाती है। इसमें एक पुद्गल पर अनिमेष ध्यान केन्द्रित करके कायोत्सर्ग किया जाता है।

भिक्षु प्रतिमाओं की अवधि को लेकर कुछ मतभेद है। इसका उल्लेख देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रंथ में किया है।[70] युवाचार्य मधुकरमुनि ने 'त्रीणि छेदसूत्राणि' (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र) में दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

गुणरत्नसंवत्सर तप[71]

जिस तप में गुणरूप रत्नों वाला सम्पूर्ण वर्ष बिताया जाय वह गुणरत्नसंवत्सर तप कहलाता है। यह तप 16 मास का होता है। इसमें 16 मास तक एक ही प्रकार की निर्जरारूप विशेष गुण की रचना होती है। इसी कारण इसे गुणरचन (रत्न) संवत्सर तप कहते हैं। इसमें 407 दिन तपस्या के व 73 दिन पारणे के होते हैं। भगवतीसूत्र में स्कन्दक अनगार द्वारा गुणरत्नसंवत्सर तप को धारण करने का उल्लेख हुआ है। इसकी विधि इस प्रकार बताई गई है– पहले महीने में निरन्तर उपवास करना, दूसरे महिने में निरन्तर बेले-बेले (छट्ठ-छट्ठ), तीसरे मास में निरन्तर तेले-तेले, चौथे मास में निरन्तर चौले-चौले, पाँचवे मास में पचौले-पचौले पारणा करना। छठे मास में निरन्तर छह-छह, सातवें मास में निरन्तर सात-सात, आठवें मास में निरन्तर आठ-आठ, नौवें मास में निरन्तर नौ-नौ, दसवें मास में निरन्तर दस-दस, ग्यारहवें मास में निरन्तर ग्यारह-ग्यारह, बारहवें मास में निरन्तर बारह-बारह, तेरहवें मास में निरन्तर तेरह-तेरह उपवास करना। चौदहवें मास में निरन्तर चौदह-चौदह, पन्द्रहवें मास में निरन्तर पन्द्रह-पन्द्रह और सोलहवें मास में निरन्तर सोलह-सोलह उपवास करना। इन सभी में दिन में उत्कुटुक आसन से बैठकर सूर्य के सम्मुख मुख करके आतापनाभूमि में आतापना लेना, रात्रि के

समय अपावृत (वस्त्ररहित) होकर वीरासन में बैठकर शीत सहन करना आदि क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं।

संलेखना, अनशन एवं समाधिमरण

सभी जीव जीने की इच्छा रखते हैं कोई भी मरना नहीं चाहता है– **सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं** – (दशवैकालिक 6.10) वैदिक ऋषि भी भगवान् से यही प्रार्थना करता है कि वह सौ वर्ष सुखपूर्वक जीवे।[72] लेकिन जीवन व मृत्यु का संबंध अटूट है। जैन साहित्य में बताये गये सात भयों में मृत्यु भय सबसे बड़ा बताया गया है। भगवान् महावीर ने आचारांग[73] में कहा है कि प्राणिवधरूप असाता कष्ट सभी प्राणियों के लिए महाभय है। सूत्रकृतांग[74] में भी कहा गया है कि आयुष्य क्षीण हो जाने पर प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है। मृत्यु को भय या महाभय मानने का प्रमुख कारण यह है कि हमारा ध्यान सम्पूर्णत: जीवन पर ही केन्द्रित रहता है। हम मृत्यु के बारे में सोचना ही नहीं चाहते हैं। किन्तु, जैन मनीषियों ने जीवन के साथ-साथ मृत्यु को भी एक कला कहा है। सामान्य व्यक्ति विवेक के आलोक में मृत्यु का वरण नहीं करता है इससे उसका जीवन भी व्यर्थ हो जाता है। जैनागमों में व आगमोत्तर साहित्य में मरण के संबंध में विस्तार से विवेचन किया गया है। समवायांगसूत्र, उत्तराध्यननिर्युक्ति तथा दिगम्बर ग्रंथ मूलाराधना में मरण के 17 भेद बताये गये हैं। उनके नाम व क्रम में कुछ अन्तर है। समवायांगसूत्र[75] में मरण के 17 भेद इस प्रकार बताये गये हैं–

1. आवीचिमरण, 2. अवधिमरण, 3. आत्यंतिकमरण, 4. वलायमरण, 5. वशार्तमरण, 6. अन्त:शल्यमरण, 7. तद्भवमरण, 8. बालमरण, 9. पण्डितमरण, 10. बालपण्डितमरण, 11. छद्मस्थमरण, 12. केवलीमरण, 13. वैहायसमरण, 14. गृद्धपृष्ठमरण, 15. भक्तप्रत्याख्यानमरण, 16. इंगिनीमरण, 17. पादपोपगमनमरण।

भगवतीसूत्र[76] में तेरहवें शतक में सर्वप्रथम मरण के पाँच प्रकार बताये गये हैं –

1. आविचिमरण, 2. अवधिमरण, 3. आत्यन्तिकमरण, 4. बालमरण, 5. पंडितमरण

आचार्य अभयदेवसूरि[77] ने भगवतीवृत्ति में इनकी विस्तृत व्याख्या की है। ग्रंथ में इनके विभिन्न भेद-प्रभेद का भी उल्लेख किया गया है। द्वितीय शतक में मरण के दो भेद किये गये हैं[78]– 1. बालमरण, 2. पण्डितमरण। बालमरण बारह प्रकार का बताया गया है। 1. वलयमरण (तड़फते हुए मरना) 2. वशार्तमरण

(पराधीनतापूर्वक या विषयवश होकर रिब-रिब कर मरना), 3. अन्तःशल्यमरण (हृदय में शल्य रखकर मरना, या शरीर में कोई तीखा शस्त्रादि घुस जाने से मरना अथवा सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना), 4. तद्भवमरण (मरकर उसी भव में पुनः उत्पन्न होना और मरना) 5. गिरिपतन, 6. तरुपतन, 7. जलप्रवेश (पानी में डूबकर मरना), 8. ज्वलनप्रवेश (अग्नि में जलकर मरना), 9. विषभक्षण (विष खाकर मरना), 10. शस्त्रावपाटन (शस्त्रघात से मरना), 11. वैहायस मरण (गले में फाँसी लगाने या वृक्ष आदि पर लटकने से होने वाला मरण) 12. गृद्धपृष्ठमरण (गिद्ध आदि पक्षियों द्वारा पीठ आदि शरीरावयवों का माँस खाये जाने से होने वाला मरण)

बालमरण के परिणाम को बताते हुए कहा गया है कि बालमरणों से मरता हुआ जीव अनन्त बार नारक भवों को प्राप्त करता है तथा चतुर्गतिरूप इस अनादि अनन्त संसार में बार-बार भ्रमण कर अपने संसार को बढ़ाता है।

पण्डितमरण- सर्वविरत साधुवर्ग का मरण पण्डितमरण कहलाता है। सम्यक् श्रद्धा, चारित्र एवं विवेकपूर्वक मरण, पण्डितमरण है। पण्डितमरण दो प्रकार का बताया गया है; 1. पादपोपगमन 2. भक्तप्रत्याख्यान

पादपोपगमन मरण- संथारा करके कटे हुए वृक्ष की तरह जिस स्थान पर, जिस रूप में एक बार लेट जाय, फिर उसी स्थान पर निश्चल होकर लेटे रहना और उसी रूप में समभावपूर्वक शरीर त्याग देना। पादपोपगमन मरण में हाथ-पैर हिलाने या नेत्रों की पलक झपकाने का भी आगार नहीं होता है। यह मरण नियमतः अप्रतिकर्म (शरीर को धोना, मलना आदि शरीर संस्कार से रहित) होता है। ग्रंथ में पादपोपगमन मरण के दो भेद किये हैं; 1. निर्हारिम, 2. अनिर्हारिम। जिस साधु के शरीर को उपाश्रयादि से बाहर निकालकर अन्तिम संस्कार किया जाता है, उसे निर्हारिम मरण कहते हैं तथा जो साधु गुफा, जंगल आदि में आहारादि का त्याग कर शरीर छोड़ता है, उसके शरीर को बाहर नहीं निकाला जाता है उसे अनिर्हारिम मरण कहते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान मरण- जीवनपर्यन्त के लिए तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करके समभावपूर्वक मृत्युवरण करना भक्तप्रत्याख्यानमरण है। इसे भक्तपरिज्ञा भी कहते हैं। इंगीतमरण भक्तप्रत्याख्यान का ही विशिष्ट प्रकार है, इसलिए ग्रंथ में इसका अलग से उल्लेख नहीं किया गया है। भक्तप्रत्याख्यान-मरण नियमतः सप्रतिकर्म होता है। इसमें हाथ-पैर हिलाने व शरीर की सारसंभाल करने का आगार रहता है। इसके भी दो भेद हैं; 1. निर्हारिम 2. अनिर्हारिम

समाधिमरण की विधि[79]

भगवतीसूत्र में स्कन्दकमुनि के प्रकरण में उनके द्वारा संलेखनापूर्वक पादपोपगमन-अनशन करके समाधि-मरण प्राप्त करने का पूरा वर्णन किया गया है। इससे संलेखना, संथारा, अनशन व समाधिमरण तक की पूरी यात्रा का विवरण स्पष्ट हो जाता है। 'स्कन्दकमुनि ने भगवान् महावीर से संथारा करके पादपोपगमन अनशन करने की आज्ञा माँगी। भगवान् महावीर द्वारा आज्ञा प्रदान की जाने पर वे अत्यन्त प्रसन्न व हर्षित हुए। फिर खड़े होकर उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की और वन्दना-नमस्कार करके स्वयमेव पाँच महाव्रतों का आरोपण किया। फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमायाचना की, और तथारूप योग्य कृतादि स्थविरों के साथ शनैः शनैः विपुलाचल पर चढ़े। वहाँ मेघ-समूह के समान काले, देवों के उतरने योग्य स्थानरूप एक पृथ्वी-शिलापट्ट की प्रतिलेखना की तथा उच्चार-प्रस्त्रवणादि परिष्ठापनभूमि की प्रतिलेखना की। ऐसा करके उस पृथ्वीशिलापट्ट पर डाभ का संथारा बिछाकर, पूर्वदिशा की ओर मुख करके, पर्यंकासन से बैठकर, दसों नख सहित दोनों हाथों को मिलाकर मस्तक पर रखकर, (मस्तक के साथ) दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले- 'अरिहन्त भगवन्तों से लेकर जो मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें नमस्कार हो। अविचल शाश्वत सिद्ध स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार हो। (अर्थात् 'नमोत्थुणं' के पाठ का दो बार उच्चारण किया) तत्पश्चात् कहा- 'वहाँ रहे हुए भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहा हुआ मैं वन्दन करता हूँ। वे यहाँ रहे हुए मुझको देखें।' ऐसा कहकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले- 'मैंने पहले भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात आदि अठारह पापों का त्याग किया था। इस समय भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापों का त्याग करता हूँ। यह मेरा शरीर, जो मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय है, जिसकी मैंने बाधा-पीड़ा, रोग, आतंक, परीषह और उपसर्ग आदि से रक्षा की है, ऐसे शरीर का भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक व्युत्सर्ग (ममत्व-विसर्जन) करता हूँ,' इस प्रकार संलेखना संथारा करके, भक्त-पान का सर्वथा त्याग करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर रहकर) अनशन करके मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए रहने लगे। एक मास तक संलेखना संथारा का श्रेष्ठता से पालन करते हुए समाधिमरण को प्राप्त हुए।

श्रमण निर्ग्रंथ के भेद-प्रभेद[80]

भगवतीसूत्र में श्रमण निर्ग्रंथ के पाँच प्रमुख भेद किये गये हैं; 1. पुलाक, 2. बकुश, 3. कुशील, 4. निर्ग्रंथ, 5. स्नातक। तत्त्वार्थसूत्र में भी श्रमण निर्ग्रंथ के ये पाँच भेद बताये गये हैं– **पुलाकबकुशशील- निर्ग्रंथस्नातका निर्ग्रंथाः** - (9.48)।

पुलाक– पुलाक का अर्थ है, सार रहित धान्य कण। जो साधु छोटे-छोटे दोषों के कारण संयम को किंचित्रूप से असार कर देता है, वह पुलाक कहलाता है। पुलाक के 5 प्रमुख भेद बताये हैं। 1. ज्ञानपुलाक, 2. दर्शनपुलाक, 3. चारित्रपुलाक, 4. लिंगपुलाक, 5. यथासूक्ष्मपुलाक।

बकुश– बकुश का अर्थ है, चितकबरा। जिसका संयम चितकबरा हो गया, वह बकुश कहलाता है। बकुश के पाँच भेद इस प्रकार हैं; 1. आभोगबकुश, 2. अनाभोगबकुश, 3. संवृतबकुश, 4. असंवृतबकुश, 5. यथासूक्ष्मबकुश

कुशील– जिसका चारित्र कुत्सित हो गया हो, वह श्रमण कुशील कहलाता है। इसके दो भेद हैं– 1. प्रतिसेवनाकुशील, 2. कषायकुशील

निर्ग्रंथ– निर्ग्रंथ के पाँच प्रकार इस प्रकार हैं– 1. प्रथम-समय-निर्ग्रंथ, 2. अप्रथम-समय-निर्ग्रंथ, 3. चरम-समय-निर्ग्रंथ, 4. अचरम-समय-निर्ग्रंथ, 5. यथासूक्ष्म-निर्ग्रंथ

स्नातक– पूर्णतया शुद्ध अखण्ड एवं सुगन्धित चावल के समान शुद्ध अखण्ड चारित्र वाला निर्ग्रंथ स्नातक कहलाता है। स्नातक के पाँच भेद इस प्रकार किये हैं; 1. अच्छवि, 2. असबल, 3. अकर्मांश, 4. संशुद्ध ज्ञान-दर्शनधर, 5. अपरिस्रावी

ग्रंथ में श्रमण निर्ग्रंथ के पाँच प्रमुख भेद तथा उनके अवान्तर प्रभेद के पश्चात् इनके स्वरूप पर वेद, राग, कल्पचारित्र, प्रतिसेवना, ज्ञान आदि दृष्टियों से विचार किया गया है।

संयत के भेद-प्रभेद[81]

जो सामायिक आदि पाँच चारित्रों का पालन करने वाला होता है, वह संयत कहलाता है। भगवतीसूत्र में संयत के 5 प्रकार बताये गये हैं;

1. सामायिकसंयत, 2. छेदोपस्थापनिक संयत, 3. परिहारविशुद्धिकसंयत, 4. सूक्ष्मसम्परायसंयत, 5. यथाख्यातसंयत।

इनके स्वरूप को भगवतीसूत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

1. सामायिकसंयत– सामायिक-चारित्र को अंगीकार करने के पश्चात् चातुर्याम धर्म (चार महाव्रत से युक्त धर्म) का जो मन, वचन और काया से त्रिविध पालन करता है, वह सामायिक संयत कहलाता है।

2. छेदोपस्थापनीयसंयत– प्राचीन (पूर्व) पर्यायों का छेदन कर जो श्रमण अपनी आत्मा को पंचयाम (पाँच महाव्रत युक्त) धर्म में स्थापित करता है, वह छेदोपस्थापनीय-संयत कहलाता है।

3. परिहारविशुद्धिकसंयत– जो संयत पंचमहाव्रतरूप अनुत्तर धर्म का मन, वचन व काया से त्रिविध पालन करता हुआ, आत्म-विशुद्धि करने वाले तपश्चरण को धारण करता है, वह परिहारविशुद्धिकसंयत कहलाता है।

4. सूक्ष्मसम्परायसंयत– जो सूक्ष्म लोभ का वेदन करता हुआ (चारित्र मोहनीय कर्म) का उपशमक होता है या क्षय करने वाला होता है, वह सूक्ष्मसंपराय संयत होता है। वह यथाख्यातसंयत से कुछ हीन होता है।

5. यथाख्यातसंयत– मोहनीय कर्म के उपशांत या क्षीण हो जाने पर जो छद्मस्थ या जिन होता है, वह यथाख्यातसंयत कहलाता है। पच्चीसवें शतक के सातवें उद्देशक में इसके स्वरूप पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है।

संदर्भ

1. व्या. सू., 8.10.3-18
2. वही, 7.2.1
3. वही, 8.8.8, 9
4. व्या. सू., 8.10.2
5. वही, 8.10.4, 5-6
6. भगवतीवृत्ति, पत्रांक, 419-420
7. वही, 2.1.37, 50
8. उत्तराध्ययन, 21.12
9. व्या. सू., 1.4.12, 7.8.1
10. उत्तराध्ययन, 24.1, 3
11. व्या. सू., 2.1.37
12. स्थानांगसूत्र, मुनि मधुकर, 8.17, पृ. 633
13. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, पृ. 514
14. 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः - तत्त्वार्थसूत्र, 9.4
15. व्या. सू., 2.1.37
16. मूलाराधना, (भाग-2) 6.1196
17. व्या. सू., 25.7.190

18. व्या. सू., 25.7.191-193
19. वही, 10.2.7-8
20. व्या. सू., (भाग-4), प्रस्तावना, पृ. 42
21. स्थानांग, मुनि मधुकर, 10.72, पृ. 709
22. व्या. सू., 25.7.195
23. उत्तराध्ययन, अध्ययन 26
24. व्या. सू., 25.7.195
25. तत्त्वार्थसूत्र, 9.22
26. दशवैकालिकवृत्ति, 1.3
27. स्थानांग, मुनि मधुकर, 10.16, पृ. 695
28. समवायांग, समवाय, 10
29. णाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
    एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं।। - (28.2)
30. व्या. सू., 2.1, 1.9, 9.33
31. व्या. सू., 2.5.24
32. व्या. सू., (भाग-4), प्रस्तावना, पृ. 42
33. आवश्यकमलयगिरिवृत्ति (खण्ड-2), अध्ययन 1
34. व्या. सू., 16.4.7
35. वही, 25.7.196-255
36. वही, 16.4.2-7
37. वही, 1.9.18
38. वही, 8.6.1
39. 'राजगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडति'- व्या. सू., 2.5.23
40. दशवैकालिक, मुनि, मधुकर, 5.84, पृ. 151
41. व्या. सू., 7.1.20
42. 'समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिन्दिं लाभालाभ संतुट्ठे पिण्डवायं चरे मुणी'- उत्तराध्ययन, 35.16
43. व्या. सू., 9.11.43
44. वही, 7.1.17-21
45. वही, 8.6.4-6
46. वही, 1.9.26-27
47. वही, 5.6.15-18
48. व्या. सू., 9.33.92
49. 'बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेति.....,' वही, 7.1.20

50. वही, 3.1, 3.2
51. 'धम्मस्स विणओ मूलं' - दशवैकालिक, 9.2.2
52. स्थानांगसूत्र, मुनि मधुकर, 5.1.44-45, पृ. 462
53. वही, 8.111, पृ. 654
54. वही, 5.3.223, पृ. 526
55. सज्झाए वा निउत्तेणं सव्वदुक्खविमोक्खणे- उत्तराध्ययन, 26.10
56. स्थानांग, मुनि मधुकर, 5.3.220 पृ. 525
57. तत्त्वार्थसूत्र, 9.27
58. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 593
59. 'कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ'- उत्तराध्ययन, 30.36
60. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9.26.10
61. आवश्यकनिर्युक्ति, 1552
62. व्या. सू., 8.8.24
63. 'मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः' - तत्त्वार्थसूत्र, 9.8
64. उत्तराध्ययन, 31.5
65. उत्तराध्ययन, अध्ययन 2
66. समवायांग, मुनि, मधुकर 22.150, पृ. 85
67. व्या. सू., 8.8.25-29
68. वही, 2.1.40-42
69. दशाश्रुतस्कन्ध, सातवींदशा
70. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 480
71. व्या. सू., 2.1.43-44
72. 'जीवेम शरद शतं'- यजुर्वेद, 26.244
73. 'सव्वेसिं सत्ताणं अस्सातं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि'- आचारांग, मुनि मधुकर, 1.1.6.49 पृ. 28
74. सूत्रकृतांग, 'वेयालिय', अध्ययन 2 गा. 2
75. समवायांग, मुनि कन्हैयालाल कमल, 17.9
76. व्या. सू., 13.7.23
77. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक 625
78. व्या. सू., 2.1.25-30
79. वही, 2.1.48-51
80. वही, 25.6
81. वही, 25.7

श्रावकाचार

जैनागम ग्रंथों में श्रमण की आचार एवं चर्या के साथ-साथ श्रावक (गृहस्थ) की दैनिक चर्या एवं साधना के लिए भी कुछ नियमों का विधान हुआ है। जैन शास्त्रों में गृहस्थ के सामाजिक एवं आध्यात्मिक शोधन हेतु पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं पाँच शिक्षाव्रतों का उल्लेख मिलता है। इन नियमों के विधान द्वारा जैन आचारसंहिता में जहाँ एक ओर गृहस्थ के आचरण को परिष्कृत करने का प्रयास किया गया है, वहीं दूसरी ओर परिग्रह, हिंसा जैसी समाज विरोधी वृत्तियों को भी नियंत्रित करने की कोशिश हुई है। वस्तुतः जैन श्रावकाचार संहिता व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ स्वस्थ समाज के निर्माण में भी सहायक है।

श्रावक शब्द का अर्थ एवं स्वरूप

श्रावक के लिए जैनागम ग्रंथों में सागार, श्रमणोपासक, उपासक, आगारिक, अगार आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। उपासकदशांग श्रावकधर्म का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इस ग्रंथ में गृहस्थधर्म के लिए गिहिधम्म, सावयधम्म, अगारधम्म, उवासगधम्म तथा श्रावक के लिए श्रमणोपासक, उपासक, गिहि, अगार, सावय आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[1] भगवतीसूत्र[2] में श्रावक के लिए श्रमणोपासक, उपासक, सावय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। उमास्वाति ने श्रावकप्रज्ञप्ति[3] में श्रावक शब्द पर विचार करते हुए कहा है कि जो सम्यग्दृष्टि साधुओं के पास उत्कृष्ट समाचारी श्रवण करता है, वह श्रावक है। वस्तुतः जो दान, तप व शील भाव की आराधना करते हुए शुभयोगों से आठ प्रकार के कर्म की निर्जरा करता है, श्रमणों के समीप समाचारी का श्रवण कर उसी प्रकार का आचरण करने का प्रयत्न करता है, वह श्रावक है।

श्रावक शब्द के उक्त अर्थ से श्रावक की आचार-चर्या के संबंध में जानकारी प्राप्त हो जाती है। विभिन्न जैनागमों में श्रावक की आचार-चर्या आदि के विषय में विवचेन प्राप्त होता है। स्थानांगसूत्र[4] में श्रावक के तीन मनोरथों का चिन्तन हुआ है। समवायांगसूत्र[5] में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मिलते हैं। उपासकदशांगसूत्र में

श्रावकाचार पर विस्तार से वर्णन है। इसमें आनंद श्रावक भगवान् महावीर से पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत व बाद में ग्यारह प्रतिमाओं को ग्रहण करता है। दशाश्रुतस्कन्ध[6] में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है। आगमोत्तरकालीन साहित्य तत्त्वार्थसूत्र[7] में बारह श्रावक व्रतों का निरूपण किया गया है। पश्चात् में जैनाचार्यों द्वारा श्रावक के व्रताचार पर स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गये हैं।[8]

भगवतीसूत्र में श्रावकाचार

भगवतीसूत्र में उपासकदशांग की तरह श्रावक की आचार-चर्या का विस्तार से प्रतिपादन नहीं है। किन्तु, तुंगिकानगरी के श्रमणोपासकों की दैनिक चर्या का संक्षिप्त विवरण श्रावकाचार की क्रमबद्ध प्रक्रिया को समझने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रावकों के प्रकरण व कथानकों के माध्यम से श्रावक के व्रताचार पर प्रकाश पड़ता है। शंख श्रावक के प्रकरण में पौषधव्रत की विधि व फल का वर्णन है।[9] सोमिल ब्राह्मण के प्रसंग में श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख है।[10] इसी प्रकार ग्रंथ में ऋषिभद्र श्रमणोपासक[11] मद्दुक श्रावक[12] कार्तिक श्रेष्ठी श्रावक[13] आदि के प्रकरण वर्णित हैं। श्रावक के अतिरिक्त ग्रंथ में उत्पला श्राविका[14] जयन्ती श्राविका[15] आदि के प्रकरण भी वर्णित हैं। जयन्ती श्राविका जीव-अजीव आदि तत्त्वों की ज्ञाता थी तथा वह भगवान् महावीर के श्रमणों को शय्या उपलब्ध कराने के लिए प्रसिद्ध थी। भगवतीसूत्र में उसके लिए 'पुव्वसेज्जायरी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

तुंगिकानगरी के श्रमणोपासक[16]

भगवतीसूत्र के दूसरे शतक में वर्णित तुंगिकानगरी के श्रमणोपासकों की जीवनचर्या श्रावकधर्म का जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। 'वे जीव और अजीव, पुण्य और पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के विषय में कुशल थे। वे (किसी भी कार्य में दूसरों से) सहायता की अपेक्षा नहीं रखते थे। निर्ग्रंथ प्रवचन में इतने दृढ़ थे कि देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवगणों के द्वारा निर्ग्रंथप्रवचन से विचलित नहीं किये जा सकते थे। वे निर्ग्रंथ प्रवचन के प्रति निःशंकित थे, निष्कांक्षित थे तथा विचिकित्सारहित (फलाशंकारहित) थे। उन्होंने शास्त्रों के अर्थों को भलीभांति उपलब्ध कर लिया था। उनकी हड्डियाँ और मज्जाएँ (नसें) निर्ग्रंथप्रवचन के प्रति प्रेमानुराग में रंगी हुई थीं। उनके घर के द्वार याचकों के लिए सदैव खुले रहते थे। वे शीलव्रत (शिक्षाव्रत), गुणव्रत, विरमणव्रत (अणुव्रत),

प्रत्याख्यान (त्याग-नियम), पौषधोपवास आदि का सम्यक् आचरण करते थे। श्रमणों को प्रासुक व एषणीय आहार, वस्त्रादि उपलब्ध कराते तथा अपनी शक्ति के अनुसार तपकर्म से आत्मा को भावित करते थे।'

इसी प्रसंग में श्रावक के पाँच अभिगमों का भी उल्लेख हुआ है। तुंगिकानगरी के श्रमणोपासक श्रमणों के निकट पहुँचने से पूर्व निम्न पाँच अभिगमों को धारण करते हैं।

1. फूल, ताम्बूल आदि सचित्त द्रव्यों का त्याग
2. वस्त्र आदि अचित्त द्रव्यों को साथ में रखना
3. एकशाटिक उत्तरासंग करना
4. स्थविर-भगवन्तों को देखते ही दोनों हाथ जोड़ना
5. मन को एकाग्र करना

श्रावक के बारह व्रत

जैन परम्परा में जहाँ श्रमण के आचार के लिए पंचमहाव्रत, समिति, गुप्ति, भिक्षुप्रतिमा आदि निरूपण हुआ है वहीं श्रावकों के आचार को द्वादशव्रतों के माध्यम से निरूपित किया गया है। द्वादशव्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत समाहित होते हैं। श्रावकाचार के प्रमुख ग्रंथ उपासकदशांग में गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों को संयुक्त रूप से शिक्षाव्रत ही कहा गया है। वहाँ पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत मिलाकर बारह प्रकार के गृहस्थधर्म का उल्लेख हुआ है- **पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि** - (1.12) विपाकसूत्र[17] में सुबाहु कुमार द्वारा श्रावक के बारहव्रतों को ग्रहण करने का प्रसंग वर्णित है।

भगवतीसूत्र में सोमिल ब्राह्मण द्वारा बारह श्रावक व्रतों को ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। तुंगिकानगरी के श्रमणोपासकों की जीवनचर्या के वर्णन में भी शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषध आदि का उल्लेख है। मधुकरमुनि ने व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में शीलव्रत से तात्पर्य शिक्षाव्रतों से तथा विरमणव्रतों से अणुव्रतों का तात्पर्य ग्रहण किया है।[18] प्रत्याख्यान व पौषध के संबंध में भी ग्रंथ में यत्र-तत्र विचार किया गया है। प्रत्याख्यान के भेदों के विवेचन में देशमूलगुणप्रत्याख्यान से तात्पर्य पाँच अणुव्रतों के प्रत्याख्यान से तथा सातदेशउत्तरगुणप्रत्याख्यान से तात्पर्य तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतों के प्रत्याख्यान से है।[19]

अणुव्रत

अणु + व्रत, अर्थात् छोटेव्रत। अणुव्रत महाव्रत का लघु संस्करण है। श्रमण हिंसा, झूठ, चोरी आदि का पूर्ण त्याग करता है अतः वे महाव्रत कहलाते हैं। श्रावक जब उनका पालन सीमित रूप से करता है तो वे अणुव्रत कहलाते हैं। भगवतीसूत्र[20] में अणुव्रतों की संख्या पाँच मानी गई है। यथा–

1. स्थूलप्राणातिपात से विरमण (अहिंसाअणुव्रत)
2. स्थूलमृषावाद से विरमण (सत्याणुव्रत)
3. स्थूलअदत्तादान से विरमण (अस्तेयाणुव्रत)
4. स्थूल मैथुन से विरमण (ब्रह्मचर्याणुव्रत)
5. स्थूल परिग्रह से विरमण (अपरिग्रह-अणुव्रत)

अहिंसा अणुव्रत– जीवनपर्यन्त मन, वचन एवं काया से स्थूल प्राणातिपात न स्वयं करना न करवाना अहिंसा अणुव्रत है।[21] विवेकपूर्वक पूर्ण सावधानी रखने पर भी यदि किसी प्राणी की हिंसा हो जाय तो श्रावक के अहिंसा व्रत का भंग नहीं होता है। भगवतीसूत्र[22] में कहा गया है कि यदि किसी श्रावक ने वनस्पतिकाय या त्रसकाय जीव की हिंसा का प्रत्याख्यान लिया है और पृथ्वी खोदते समय उससे किसी त्रस या वनस्पतिकाय की हत्या हो जाय तो उसका व्रत भंग नहीं होता है क्योंकि वह त्रस या वनस्पतिकाय जीव की हत्या के लिए प्रवृत नहीं था।

सत्य अणुव्रत– उपासकदशांग[23] में मृषावाद को असत्य कहा है। इस व्रत को धारण करने वाला श्रावक स्थूलमृषावाद का त्याग करता है। आचार्य समन्तभद्र[24] ने स्थूलमृषाविरमण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि श्रावक स्थूल असत्य स्वयं न बोले, न दूसरों से बुलवावे, साथ ही ऐसा भाषण न करे जिससे दूसरों पर कष्टों का पहाड़ ही ढ़ह जाय। स्थूल असत्य के पाँच मुख्य प्रकार बताये गये हैं[25]– 1. कन्या के संबंध में मिथ्या जानकारी देना, 2. गाय आदि के संबंध में असत्य बोलना, 3. भूमि के संबंध में झूठी जानकारी देना, 4. न्याय-धरोहर के संबंध में असत्य बोलना, 5. झूठी साक्षी देना।

अस्तेय अणुव्रत– अस्तेय का साधारण अर्थ है चोरी न करना। उपासकदशांग[26] में अदत्तादान को चोरी कहा गया है। इसके लिए वहां 'अदिण्णादाणं' शब्द आया है, जिसका सामान्य अर्थ है बिना दी गई वस्तु को ग्रहण करना। स्थूलअदत्तादान का दो करण व तीन योग से त्याग करना अस्तेय अणुव्रत कहलाता है। रत्नकरण्डक-श्रावकाचार[27] के अनुसार जो दूसरे की रखी

हुई, गिरी हुई, भूली हुई वस्तु को और बिना दिये हुए धन को न तो स्वयं लेता है न उठाकर दूसरों को देता है, उसे अचौर्याणुव्रतधारी कहते हैं।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत– ब्रह्मचर्य अणुव्रत का सामान्य अर्थ अब्रह्म का सेवन न करना है। उपासकदशांग[28] में अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से मैथुन सेवन करना अब्रह्म का स्वरूप माना गया है। आचार्य कुंदकुंद[29] ने पर-महिला से मैथुन सेवन करना अब्रह्म माना है। आवश्यकसूत्र[30] में एक मात्र अपनी पत्नी में संतोष कर इसके अतिरिक्त सब प्रकार के मैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य अणुव्रत माना है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रत में श्रावक कामवासना से पूर्ण-निवृत्त तो नहीं होता है परन्तु संयमित हो जाता है।

अपरिग्रह अणुव्रत– 'जहा लाहो तहा लोहो' उत्तराध्ययन[31] की यह उक्ति परिग्रह का मूल है उपासकदशांगसूत्र[32] में अपरिमित इच्छा शक्ति को ही परिग्रह का कारण माना है। सर्वार्थसिद्धि[33] में 'यह वस्तु मेरी है', व्यक्ति के इस प्रकार के ममत्व को परिग्रह कहा है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार[34] में धन्य-धान्यादि का परिग्रह परिमाण करके उससे अधिक में निःस्पृह रहने को परिमित परिग्रहव्रत कहा है।

गुणव्रत

अणुव्रतों को परिपुष्ट व उन्नत बनाने के लिए श्रावक की आचार संहिता में गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का भी विधान किया गया है। ये व्रत व्यक्ति को नियमित, संयमित कर त्याग व दान की ओर प्रेरित करते हैं। अणुव्रतों के पालन में जो कठिनाईयाँ आती हैं उन्हें गुणव्रत दूर करते हैं। अणुव्रतों के गुणों की रक्षा व विकास करने वाले होने के कारण ही इन्हें गुणव्रत कहा गया है। गुणव्रतों की संख्या तीन मानी गई है; 1. दिग्व्रत, 2. उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत, 3. अनर्थदण्डविरमणव्रत।

दिग्व्रत– रत्नकरण्डकश्रावकाचार[35] में इसके स्वरूप को बताते हुए कहा है कि दसों दिशाओं की मर्यादा करके सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए 'मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा' इस प्रकार का मरणपर्यन्त तक के लिए संकल्प दिग्व्रत है। आवश्यकसूत्र[36] में बारह व्रतों के अतिचार के पाठ में ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा का यथापरिमाण तथा पाँच आस्रव सेवन के त्याग को दिग्व्रत कहा है।

उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत– उपभोग व परिभोग वाले पदार्थों की मर्यादा करना ही उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत कहलाता है। इस व्रत को धारण करने में श्रावक यह मर्यादा करता है कि अमुक-अमुक पदार्थों के अतिरिक्त शेष पदार्थों

का उपभोग-परिभोग नहीं करूँगा। इसके लिए शास्त्रों में विभिन्न पदार्थों की सूची दी है। उपासकदशांग[37] में 21 पदार्थों की मर्यादा निश्चित की गई है। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र[38] में 26 पदार्थों की मर्यादा निश्चित की गई है।

अनर्थदण्डविरमणव्रत– उपासकदशांग[39] में चार प्रकार के अनर्थदण्ड बताये गये हैं; अपध्यान, प्रमाद, हिंसाकारी शस्त्र प्रदान तथा पापकर्म का उपदेश। इन चारों प्रकार के अनर्थदण्डों के त्याग की मर्यादा निश्चित करना अनर्थदण्डविरमण व्रत माना है। इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक आर्त्तध्यान, बिना प्रयोजन हिंसा के कार्य, हिंसात्मक शस्त्रों, पापकर्म उपदेश एवं कुमार्ग की ओर प्रेरित करने वाले साधनों को त्यागकर जीवन को हिंसा से बचाकर सदाचारयुक्त बनाता है।

शिक्षाव्रत

शिक्षा से तात्पर्य अभ्यास से है। श्रावक को जिन व्रतों का पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं। शिक्षाव्रत के लिए भगवतीसूत्र[40] में शीलव्रत शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य अमृतचन्द्र[41] ने शीलव्रत की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं, वैसे ही शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं। जैनग्रंथों में इसके लिए शिक्षाव्रत का प्रयोग हुआ है। अणुव्रत व गुणव्रत जीवन में एक बार ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु शिक्षाव्रत कुछ समय के लिए बार-बार ग्रहण किये जाते हैं। शिक्षाव्रत चार माने गये हैं; 1. सामायिक, 2. देशावकाशिक, 3. पौषधोपवास, 4. अतिथिसंविभाग।

सामायिक व्रत– मन, वचन व काया द्वारा आत्मा में रमण करने की प्रक्रिया सामायिक है। भगवतीसूत्र[42] में तो अभेदोपचार से आत्मा को ही सामायिक कहा है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार[43] आदि ग्रंथों में एक निश्चित समय तक हिंसादि पाँचों पापों का तीन करण व तीन योग से त्याग करने को सामायिक कहा है। सामायिक की महत्ता को बताते हुए कहा गया है कि सामायिक के अभाव में चाहे कितने ही तपश्चरण किये जाये, कष्ट सहन किये जाये, जप किये जाये, श्रमणवेश धारण कर बाह्य चारित्र का पालन किया जाय, किन्तु समभावरूपी सामायिक के अभाव में किसी को मुक्ति नहीं मिलती है।

देशावकाशिकव्रत– कुछ समय के लिए दिशाओं की मर्यादा को निश्चित करना, देशावकाशिकव्रत है। देशावकाशिकव्रत प्रहर, मुहूर्त्त व दिनभर के लिए भी ग्रहण किया जा सकता है। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र[44] में कहा है कि दिशापरिमाणव्रत का प्रतिदिन संकोच किया जाता है और उस संकुचित सीमा के बाहर के आस्रव

सेवन का त्याग एवं सीमा में मर्यादित वस्तु से ज्यादा वस्तु का सेवन नहीं करना देशावकाशिकव्रत है। वस्तुतः देशावकाशिक व्रत में न केवल दिग्व्रत की मर्यादा संक्षिप्त की जाती है अपितु अणुव्रतों का भी संक्षिप्तिकरण हो जाता है।

पौषध

पौषध का अर्थ है अपने निकट रहना। अर्थात् परस्वरूप से हटकर स्वस्वरूप में स्थित होना पौषध व्रत है। पौषध का शाब्दिक अर्थ है, पोषना अर्थात् तृप्त होना। प्रतिदिन भोजन द्वारा हम शरीर को तृप्त करते हैं। इस व्रत के पालन द्वारा श्रावक दिनभर उपासनागृह में धर्मसाधना में रत होकर, आत्मा के निकट पहुँचकर उसे तृप्त करते हैं। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र[45] में एक दिन-रात के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग, अब्रह्मचर्यसेवन, मणि, सुवर्ण, पुष्पमाला, सुगन्धितचूर्ण, तलवार, हल, मूसल आदि सावद्ययोगों के त्याग को पौषधोपवास माना है। आवश्यकवृत्ति[46] में पौषध के चार भेद बताये गये हैं;

1. आहारपौषध, 2. शरीरपौषध, 3. ब्रह्मचर्यपौषध, 4. अव्यापारपौषध।

आहारपौषध– चतुर्विध आहार का त्याग करके धर्मध्यान में अधिक समय व्यतीत करना।

शरीरपौषध– स्नान, विलेपन, उबटन, पुष्पगंध, आभूषण आदि का त्याग करके शरीर को धर्माचरण में लगाना।

ब्रह्मचर्यपौषध– सभी प्रकार के मैथुन का त्याग कर ब्रह्मरूप होकर आत्मा में रमण करना ब्रह्मचर्य पौषध है।

अव्यापारपौषध– आजीविका के व्यवसाय तथा शस्त्र आदि का त्याग कर सभी सावद्य प्रवृत्तियों को छोड़ना अव्यापारपौषध है।

भगवतीसूत्र में पौषध के दो प्रकारों का उल्लेख है–

1. आहारसेवनयुक्तसामूहिकपौषध, 2. चतुर्विध आहारत्यागपौषध

आहारसेवनयुक्तसामूहिक पौषध[47]– शंख श्रमणोपासक व अन्य श्रमणोपासकों द्वारा साथ मिलकर चतुर्विध आहार तैयार करवाकर उसका आस्वादन करते हुए व एक दूसरे को देते हुए पाक्षिक पौषध का अहोरात्र पालन करने की योजना बनाई गई। बाद में शंख श्रावक को छोड़कर अन्य श्रमणोपासकों द्वारा इसी प्रकार का सामूहिक पौषध किया गया। इसे वर्तमान में देशपौषध, देशावकाशिकव्रत रूप पौषध, दयाव्रत या छकाया भी कहते हैं।[48]

चतुर्विधआहारत्यागपौषध– चतुर्विध आहार त्याग कर शंख श्रावक द्वारा एकान्तिक पौषध किया गया। इस पौषध का स्वरूप ग्रंथ में इस प्रकार विवेचित है– 'शंख श्रावक ब्रह्मचर्यपूर्वक, मणि, सुवर्ण, माला, वर्णक, विलेपन, शस्त्र, मूसल आदि का त्याग कर अपनी पौषधशाला में आकर अकेले ही धर्मजागरण का विचार करता है। फिर पत्नी उत्पला को पूछकर पौषधशाला में आकर पौषधशाला का प्रमार्जन (सफाई) करता है, उच्चारण-प्रस्त्रवण (मलमूत्र विसर्जन) की भूमि की प्रतिलेखना करने के पश्चात् डाभ का संस्तारक (बिछौना) बिछाकर उस पर बैठकर तथारूप पाक्षिकपौषध का पालन करते हुए अहोरात्र बिताता है। दूसरे दिन सूर्योदय होने पर पौषधशाला से निकलकर पैदल चलकर भगवान् महावीर को वन्दन कर उनकी पर्युपासना करता है। इस पौषध के फलस्वरूप उसने सुदर्शन नामक जागरिका जागृत की।[50]

शंख श्रावक द्वारा किये गये पौषध में आवश्यकवृत्ति में दिये गये पौषध के चारों प्रकारों का समावेश हो जाता है। शंखश्रावक द्वारा चतुर्विध आहार, विलेपन, अस्त्र-शस्त्र आदि का त्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक यह पौषध किया गया।

पौषध की तिथियाँ

भगवतीसूत्र[51] में चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा इन पर्वतिथियों में श्रमणोपासकों द्वारा प्रतिपूर्ण पौषध के सम्यक् पालन का उल्लेख हुआ है। उपासकदशांगसूत्र[52] में अभयदेवसूरि ने द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी को पर्वतिथियाँ माना है। योगशास्त्र[53] और तत्त्वार्थभाष्य[54] में अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या पर्वतिथियाँ मानी गई हैं। इन तिथियों के दिनों में पौषधव्रत का पालन विशेष रूप से किया जाता है।

अतिचार

उपासकदशांग[55] में पौषध के पाँच अतिचारों का वर्णन है।

1. अप्रतिलेखित– दुष्प्रतिलेखित शय्या संस्तार
2. अप्रमार्जित– दुष्प्रमार्जित-शय्यासंस्तार
3. अप्रतिलेखित– दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवणभूमि
4. अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवण भूमि
5. पौषध– सम्यकननुपालन

भगवतीसूत्र में शंख श्रावक द्वारा इन पाँचों अतिचार का त्याग करते हुए विधिपूर्वक पौषध किया गया। पौषधशाला में आकर विधिपूर्वक पौषधशाला का

प्रमार्जन किया, उच्चारणप्रस्त्रवण की भूमि का प्रतिलेखन किया। फिर डाभ का संस्तारक बिछाकर ब्रह्मचर्यपूर्वक सम्यक प्रकार से पौषध का पालन किया।

अतिथिसंविभाग व्रत– यह चौथा शिक्षाव्रत है। इस व्रत में सेवा, दान करुणा और परमार्थ की भावनाएँ ही मुख्य रूप से रहती हैं। इस व्रत का अनुपालन करने वाला श्रावक स्व-कल्याण के साथ-साथ पर-कल्याण का भी प्रयास करता है। उपासकदशांग टीका[56] में उचित रूप से मुनि आदि चारित्र सम्पन्न योग्यपात्रों को अन्न, वस्त्र आदि का यथाशक्ति वितरण को अतिथिसंविभाग व्रत कहा है। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र[57] में इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि निर्ग्रंथ साधुओं को अचित्त दोष रहित अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार तथा औषधि का योग मिलने पर दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है। तत्त्वार्थसूत्र[58] में अतिथिसंविभागव्रत के माध्यम से दान प्रदान करते समय चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक बताया है– विधि, द्रव्य, दाता व पात्र। आवश्यकवृत्ति में कहा गया है कि श्रावक ने अपने लिए जो आहारादि का निर्माण किया है या अन्य साधन प्राप्त किये हैं, उनमें से एषणा समिति से युक्त निस्पृह श्रमण-श्रमणियों को कल्पनीय एवं ग्राह्य आहार आदि देने के लिए विभाग करना यथासंविभाग है।

भगवतीसूत्र[59] में कहा गया है कि तुंगिकानगरी के श्रमणोपासकों के दरवाजे याचकों के लिए सदैव खुले रहते थे। वे श्रमण निर्ग्रंथों को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज आदि उपलब्ध कराते थे।

शुद्धरूप से इस व्रत को पालन करने वाला मोक्षमार्गी बनता है। इस व्रत की महत्ता तथा इसके श्रेष्ठ फल को बताते हुए भगवतीसूत्र के सातवें शतक में कहा है– तथारूप (उत्तम) श्रमण और माहन को प्रासुक व एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार द्वारा प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक उस श्रमण या माहन को समाधि उपलब्ध कराता है तथा स्वयं भी समाधि को प्राप्त होता है। वह श्रमणोपासक जीवित (जीवन निर्वाह के योग्य) का त्याग करता है, दुस्त्यज वस्तु का त्याग करता है, दुष्कर कार्य करता है, दुर्लभ वस्तु का लाभ लेता है, बोधि (सम्यग्दर्शन) का बोध प्राप्त करता है और अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है।[60]

दान देते समय विधि, द्रव्य, दाता व पात्र चारों ही शुद्ध होने चाहिये तभी इस व्रत का सम्पूर्ण पालन संभव है। भगवतीसूत्र में कहा गया है तथारूप श्रमण या माहन को प्रासुक, व एषणीय आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाला श्रमणोपासक

एकान्त रूप से निर्जरा करता है, उसके पाप-कर्म नहीं लगते हैं। तथारूप श्रमण को अप्रासुक व अनेषणीय आहार देने पर श्रमणोपासक के बहुत निर्जरा होती है तथा अल्पतर पाप-कर्म होता है। किन्तु असयंत, अविरत, पापकर्मों का जिसने निरोध नहीं किया उसे प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अनेषणीय अशन-पानादि देने वाले श्रमणोपासक के एकान्त पापकर्म होता है, किसी प्रकार की निर्जरा नहीं होती है।[61]

संलेखना

कुछ जैन ग्रंथों में संलेखना को भी श्रावक व्रतों में स्थान दिया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचार[62] में इसे चौथा शिक्षाव्रत माना है। वहाँ कहा गया है कि वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर पान के सिवाय तीन प्रकार के आहार का त्याग करना संलेखना है। तत्त्वार्थसूत्र[63] में मरणकाल के उपस्थित होने पर प्रीतिपूर्वक नियम को संलेखना कहा है। अमितगति श्रावकाचार[64] में कहा है कि अपने दुर्निवर अति भयंकर मरण का आगमन जानकर तत्त्वज्ञानी धीर-वीर श्रावक अपने बांधवों को पूछकर संलेखना करे। भगवतीसूत्र[65] में ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक द्वारा मासिक संलेखना कर साठभक्त के अनशन द्वारा छेदन कर समाधि प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है।

प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान का अर्थ है प्रवृत्तियों को सीमित या मर्यादित करना। आचार्य अभयदेवसूरि ने स्थानांग टीका[66] में लिखा है कि अप्रमत्तभाव को जगाने के लिए जो मर्यादापूर्वक संकल्प किया जाता है, वह प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यानव्रत का श्रमणाचार व श्रावकाचार दोनों में ही समावेश होता है। जैन परंपरा में यह माना गया है कि श्रमण हो या श्रावक वह जब तक असद् आचरण से मुक्त होने की प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) नहीं करता है वह उस असद् प्रवृत्ति से मुक्त नहीं होता है क्योंकि यद्यपि वह उस असद् आचरण को करता नहीं पर परिस्थितिवश वह उस असद् आचरण को अपना सकता है।

जीवन में प्रत्याख्यान का बड़ा महत्त्व है। प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा त्याग करने से व्यक्ति में अनासक्ति की भावना उत्पन्न होती है व तृष्णा कम होती जाती है। प्रत्याख्यान के महत्त्व को बताते हुए उत्तराध्ययन में कहा गया है कि - **पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ** - (29.14) अर्थात् प्रत्याख्यान से कर्मों का आस्रव द्वार बंद हो जाता है। भगवतीसूत्र[67] में कहा गया है कि प्रत्याख्यान का

फल संयम है और संयम का फल अनास्रवत्व है। प्रत्याख्यान से जीवन में कर्मबंध नहीं होता है। इसी कारण भगवतीसूत्र[68] में पापकर्म का प्रतिघात व प्रत्याख्यान करने वाले को धर्म में स्थित तथा पापकर्म का प्रतिघात व प्रत्याख्यान नहीं करने वाले को अधर्म में स्थित कहा गया है। प्रत्याख्यान के कुछ निम्न प्रकारों का ग्रंथ में उल्लेख हुआ है। योग प्रत्याख्यान (मन, वचन व काय संबंधी प्रवृत्तियों को रोकना), शरीर प्रत्याख्यान (शरीर से ममत्व हटाना), कषाय प्रत्याख्यान (क्रोधादि चार कषायों को जीतना), संभोग प्रत्याख्यान (भोजन को मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का त्याग), उपधि प्रत्याख्यान (वस्त्रादि उपकरणों का त्याग), भक्त प्रत्याख्यान (संलेखना संथारा करना)। प्रत्याख्यान के इन सभी प्रकारों का अन्तिम फल मोक्ष बताया गया है।[69]

श्रावक के प्रत्याख्यान व्रत का विवेचन करते हुए भगवतीसूत्र[70] में कहा गया है कि यदि किसी श्रावक ने पहले ही त्रसकाय व वनस्पतिकाय जीव की हिंसा का प्रत्याख्यान लिया है और पृथ्वी खोदते समय उससे असावधानीवश किसी त्रस या वनस्पतिकाय जीव की हत्या हो जाय तो दोष नहीं लगता है क्योंकि वह श्रावक उस हिंसा के लिए प्रवृत्त नहीं था। सामायिक आदि में बैठे हुए किसी श्रावक के भाण्ड, वस्त्र आदि का अपहरण हो जाय और सामायिक के बाद जब वह उन्हें ढूँढता है तो वह अपने ही सामान को ढूँढ रहा है। यद्यपि सामायिक की अवस्था में तो उसने उनका त्याग कर दिया, किन्तु उसका उनके प्रति ममत्व भाव का त्याग नहीं होने के कारण सामायिक आदि के पश्चात वह वस्त्रादि उसी के कहलाते हैं।[71] श्रावक जीवन के लिए प्रत्याख्यान का कितना महत्त्व है, इसकी विवेचना करते हुए भगवतीसूत्र[72] में रथमूसलसंग्राम में भाग लेने वाले वरुण नागनत्तुआ सैनिक का उदाहरण दिया गया है जो युद्ध में अपना अन्तिम समय निकट जानकर सर्वपापों का जीवन-पर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान लेने के कारण महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है।

प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद

भगवतीसूत्र में प्रत्याख्यान के दो भेद किये गये हैं- 1. मूलगुणप्रत्याख्यान, 2. उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

मूलगुणप्रत्याख्यान- मूलगुणप्रत्याख्यान जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण किये जाते हैं। मूलगुणप्रत्याख्यान के दो भेद हैं- 1. सर्वमूलगुण - प्रत्याख्यान, 2. देशमूलगुण - प्रत्याख्यान। सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान में श्रमणों के पाँच महाव्रत आते हैं, इस दृष्टि से इसके पाँच प्रभेद किये गये हैं-

1. सर्वप्राणातिपात से विरमण, 2. सर्वमृषावाद से विरमण
3. सर्वअदत्तादान से विरमण, 4. सर्वमैथुन से विरमण
5. सर्वपरिग्रह से विरमण

देशमूलगुण प्रत्याख्यान में श्रावकों के पाँच अणुव्रत आते हैं। इस दृष्टि से इसके भी पाँच भेद किये गये हैं–

1. स्थूलप्राणातिपात से विरमण, 2. स्थूलमृषावाद से विरमण
3. स्थूलअदत्तादान से विरमण, 4. स्थूलमैथुन से विरमण,
5. स्थूलपरिग्रह से विरमण।

उत्तरगुणप्रत्याख्यान– उत्तरगुणप्रत्याख्यान कुछ दिनों या कुछ समय के लिए किये जाते हैं। इसके भी दो भेद हैं–

1. सर्वउत्तरगुणप्रत्याख्यान, 2. देशउत्तरगुणप्रत्याख्यान

सर्वउत्तरगुणप्रत्याख्यान के दस भेद इस प्रकार हैं–

1. अनागत, 2. अतिक्रान्त, 3. कोटिसहित, 4. नियंत्रित, 5. साकार, 6. अनाकार, 7. परिणामकृत, 8. निरवशेष, 9. संकेत, 10. अद्धाप्रत्याख्यान

देशउत्तरगुणप्रत्याख्यान में श्रावक के तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतों का समावेश होता है। इसके सात भेद हैं–

1. दिग्व्रत, 2. उपभोग-परिभोगपरिमाण, 3. अनर्थदण्डविरमण, 4. सामायिक, 5. देशावकाशिक, 6. पौषधोपवास, 7. अतिथिसंविभाग तथा अपश्चिम मरणान्तिक - संलेखना - जोषणा - आराधना।

दुष्प्रत्याख्यानी व सुप्रत्याख्यानी[74]

प्रत्याख्यान के अन्तर्गत क्रिया के साथ-साथ ज्ञान को भी महत्त्व दिया गया है। ज्ञान के अभाव में क्रिया शुद्ध नहीं होती है। इसी बात को समझाते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है– किसी व्यक्ति द्वारा यह कहने मात्र से कि 'मैंने सर्व प्राण, भूत, जीव आदि की हिंसा का परित्याग किया है। उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं होता है। जब तक उसे यह ज्ञान नहीं होता कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं तब तक उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। जिस पुरुष को जीव-अजीव त्रस-स्थावर का ज्ञान होता है अगर वह सर्वप्राण, भूत, जीव आदि की हिंसा का प्रत्याख्यान करे तो उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। ज्ञान के अभाव में प्रत्याख्यान का यथावत् पालन नहीं होता है अतः वह प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान रहता है, सुप्रत्याख्यान नहीं होता है।'

जागरिका[75]

जागरिका का अर्थ है धर्म चिन्तन हेतु जागरण करना। यह आध्यात्मिक क्रिया श्रमणाचार एवं श्रावकाचार दोनों के अन्तर्गत आती है। भगवतीसूत्र में जागरिका के तीन भेद बताये गये हैं–

1. बुद्ध–जागरिका, 2. अबुद्ध–जागरिका, 3. सुदर्शन–जागरिका

बुद्ध–जागरिका– जो केवल ज्ञान–दर्शन के धारक, जिन, अरिहंत केवली, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, वे बुद्ध हैं तथा वे बुद्ध जागरिका करते हैं।

अबुद्ध–जागरिका– जो पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि से युक्त ब्रह्मचारी हैं, वे अबुद्ध–जागरिका करते हैं।

सुदर्शन–जागरिका– जीव–अजीव तत्त्वों के ज्ञाता, सम्यग् दृष्टि श्रमणोपासक पौषध आदि में जो जागरिका करते हैं, वह प्रमाद, निद्रा आदि से रहित सुदर्शन जागरिका है। भगवतीसूत्र[76] में उल्लेख है कि शंख श्रावक ने चतुर्विध आहारत्याग पौषध के फलस्वरूप सुदर्शन जागरिका जाग्रत की।

संदर्भ

1. कोठारी सुभाष – उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, पृ. 72
2. व्या. सू., 2.5.11, 5.4.26
3. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा. 2
4. स्थानांगसूत्र, मुनि मधुकर, 3.4.497, पृ. 188
5. समवायांग, मुनि मधुकर, 11.5
6. दशाश्रुतस्कंध, 6.1–2
7. तत्त्वार्थसूत्र, 7.1.5–17
8. (क) शास्त्री, देवेन्द्र मुनि–जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप
   (ख) महासती उज्जवल कंवर–श्रावकधर्म
9. वही, 12.1
10. 'दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ'– वही, 18.10.28
11. वही, 11.12
12. वही, 18.7.26–37
13. व्या. सू., 18.2.3
14. वही, 12.1
15. वही, 12.2
16. वही, 2.5.11
17. विपाकसूत्र, मुनि मधुकर, श्रुतस्कन्ध–2, अध्ययन 1 सू. 6, पृ. 118
18. व्या. सू. 2.5.11

19. वही, 7.2
20. स्थानांग, मुनि मधुकर, 5.1.2, पृ. 448
21. उवासगदसाओ, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.13
22. व्या. सू., 7.1.7-8
23. 'तयाणंतरं च णं थुलगं मुसावायं पच्चक्खाइ-उवासगदसाओ, मुनि मधुकर, 1.14
24. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, सम्पा. पं. जुगलकिशोर, 3.9, पृ. 43
25. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, दूसरा अणुव्रत
26. उवासगदसाओ, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.15
27. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, सम्पा. पण्डित जुगलकिशोर, 3.11, पृ. 44
28. उवासगदसाओ, मुनि मधुकर, 1.16
29. चारित्रपाहुड, गा. 24
30. आवश्यकसूत्र, पृ. 324
31. उत्तराध्ययन, 8.17
32. 'तयाणंतरं च णं इच्छाविह परिणामं करेमाणे'- उवासगदशाओ, मुनि मधुकर, 1.17
33. 'ममेदंबुद्धिलक्षण: परिग्रह:'- सर्वार्थसिद्धि, 6.15.638, पृ. 256
34. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, सम्पा. पण्डित जुगलकिशोर, 3.15, पृ. 46
35. वही, 3.22
36. 'छठा दिशिव्रत उड्ढदिशि का यथा परिणाम, अहोदिशि का यथा परिणाम..... आवश्यकसूत्र, 6, मुनि मधुकर, पृ. 114
37. उवासगदसाओ, मुनि मधुकर, 1.22-42
38. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत-7
39. उवासगदसाओ, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.43
40. व्या. सू., 2.5.11
41. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 136 पृ. 336
42. व्या. सू., 1.9.21
43. (क) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 4.7, पृ. 73 (ख) तत्त्वार्थभाष्य, 7.16
44. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत, 10
45. वही, अणुव्रत, 11
46. 'पोसहोववासे चउव्विहे पण्णत्ते.....-आवश्यकवृत्ति, 50
47. व्या. सू., 12.1.10, 19
48. भगवतीसूत्र (विवेचन), पं. घेवरचन्दजी, (भाग-4), पृ. 1975
49. व्या. सू., 12.1.12
50. 'संखे णं समणोवासए पियधम्मे चेव, दढधम्मे चेव, सुदक्खुजागरियं जागरिते', वही, 12.1.24
51. व्या. सू., 2.5.11

52. उपासकदशाांगसूत्र टीका, अभयदेव, पृ. 45
53. योगशास्त्र, 3.85
54. तत्त्वार्थभाष्य, 7.16
55. उवासगदसाओ, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.55
56. उपासकदशांगसूत्र टीका, मुनि घासीलालजी, पृ. 261
57. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत, 12
58. तत्त्वार्थसूत्र, 7.34
59. व्या. सू., 2.5.11
60. वही, 7.1.9-10
61. वही, 8.6.1-3
62. वसुनन्दिश्रावकाचार, 271, 272, पृ. 76
63. 'मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता'- तत्त्वार्थसूत्र, 7.22
64. अमितगतिश्रावकाचार, 6.98, पृ. 149
65. व्या. सू., 11.12.13
66. स्थानांगटीका, पत्रांक 41
67. व्या. सू., 2.5.26
68. वही, 17.2.3
69. वही, 17.3.22
70. वही, 7.1.7-8
71. वही, 8.5.3
72. व्या. सू., 7.9.20
73. वही, 7.2.2-8
74. वही, 7.2.1
75. वही, 12.1.25
76. वही, 12.1.24

कर्म सिद्धान्त

जैन दर्शन का मुख्य केन्द्र बिन्दु कर्म सिद्धान्त है। यह नव तत्त्वों को अपने अन्दर समेटे हुए है। जीव, पुद्गल, आस्रव, बंध, पाप, पुण्य, संवर, निर्जरा, मोक्ष– ये नव तत्त्व कर्मसिद्धान्त में ही समाहित हो जाते हैं। यद्यपि जैनेतर दर्शनों ने भी कर्म सिद्धान्त पर विवेचन किया है, किन्तु जैन परंपरा ने कर्मसिद्धान्त का जैसा तर्कसंगत व वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है, वैसा अन्य किसी दर्शन में प्राप्त नहीं होता है। वस्तुतः कर्म सिद्धान्त जैन तीर्थंकरों की एक अपूर्व, अनुपम व सर्वोत्कृष्ट भेंट है, जिसके व्यावहारिक उपयोग से व्यक्ति स्वयं पुरुषार्थ द्वारा अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

कर्म का अर्थ व स्वरूप

कर्म शब्द का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। किन्तु, जैन परंपरा में कर्म शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कर्मग्रंथ[1] में जीव की क्रिया के हेतु को कर्म कहा गया है। कर्म सिद्धान्त में कर्म का तात्पर्य वे पुद्गल-परमाणु या कर्मवर्गणाएँ हैं, जो योग की क्रियाओं के परिणामस्वरूप आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्मा के साथ बंध जाती हैं। कालक्रम में अपना फल प्रदान करती हैं तथा आत्मा में विशिष्ट भाव उत्पन्न करती हैं। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को लक्ष्य में रखते हुए पुद्गल-परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म और राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है।[2] इस तरह कर्म के मुख्य रूप से दो भेद हुए; द्रव्य कर्म व भावकर्म। द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म और भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म कारण है। वृक्ष से बीज व बीज से वृक्ष की तरह द्रव्यकर्म से भावकर्म व भावकर्म से द्रव्यकर्म की परंपरा भी अनादि है। जैन परंपरा में जीव व कर्म का संबंध भी अनादि माना गया है। मन, वचन व काया की प्रवृत्ति से जीव कर्मबद्ध होता है और जब जीव कर्मबद्ध होता है तभी मन, वचन व काया की प्रवृत्ति होती है।[3]

जैनागमों में कर्म का विवेचन

आगमोत्तर युग में कर्मवाद पर अनेक स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गये। किन्तु, उनके मूल बीज जैनागमों में सुरक्षित हैं। आचारांग, स्थानांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, प्रज्ञापना आदि ग्रंथों में कर्मवाद की मूल भित्तियों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। आचारांगसूत्र[4] में कहा गया है कि मन, वचन व काया की प्रवृत्तियाँ कर्मबंधन का हेतु है। कामभोगों में आसक्तजन कर्मों का संचय करते रहते हैं और पुनः पुनः जन्म धारण करते हैं। अतः कर्मों को तोड़कर तुम कर्मरहित (मुक्त) हो जाओ। सूत्रकृतांग[5] में कर्म व फल के पारस्परिक संबंध को व्यक्त करते हुए कहा है कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार भावी जन्म मिलता है। स्थानांगसूत्र[6] में पाँच आस्रवद्वार, शुभ एवं अशुभ कर्मबंध के नौ कारण, चार प्रकार के कर्मबंध आदि का विवेचन है। समवायांग[7] में भी कर्म सिद्धान्त के कुछ पहलु– पाँच आस्रव द्वार, पाँच निरोधद्वार, चौदह गुणस्थान आदि का वर्णन हुआ है। विपाकसूत्र में दुष्कृत्य के कटु परिणामों व सुकृत्य के अच्छे परिणामों को कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत कर कर्मसिद्धान्त का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया गया है। प्रज्ञापना उपांग के पाँच अध्यायों में कर्मवाद को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इनमें आठ मूलप्रकृतियाँ, उत्तरप्रकृतियाँ, कर्मवेदन, कर्मबंध की प्रकिया, कारण, स्थिति आदि पर विचार किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र[8] के कर्मप्रकृति नामक अध्याय में कर्मवाद पर विवेचन मिलता है। कर्म के आधारभूत कारण लेश्यादि के स्वरूप पर भी इसमें विस्तृत विवेचन हुआ है।

भगवतीसूत्र में कर्मसिद्धान्त

भगवतीसूत्र में अन्य जैनागमों की तरह कर्मसिद्धान्त पर व्यवस्थित विवेचन नहीं मिलता है। यह ग्रंथ प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है। जब भी जिज्ञासुओं ने भगवान् महावीर से कर्म संबंधी प्रश्न पूछे, श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उनका उत्तर दिया गया। इसी रूप में ग्रंथ में कर्म संबंधी विवेचन उपलब्ध है। लेकिन इस समस्त सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात् यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्म सिद्धान्त के मूल बीज इस ग्रंथ में मौजूद थे, जिन्हें परवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा से विकसित व पल्लवित किया और एक विशद कर्म संबंधी साहित्य की रचना की।

अन्य जैनागमों की तरह भगवतीसूत्र में भी 'कर्म' की कोई व्यवस्थित परिभाषा विवेचित नहीं है। कर्म संबंधी प्रश्नों के आधार पर ही कर्म के मूल स्वरूप

को यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है। भगवतीसूत्र में कर्म को योग व कषाय से होने वाला बंध माना है। कर्म का कर्ता व भोक्ता जीव को मानते हुए कहा है– जीव का दुःख (कर्म) आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं। जीव आत्मकृत वेदना वेदते हैं, परकृत या उभयकृत नहीं।[9] जीव के कर्मों को आत्मकृत बताते हुए पुनः कहा गया है कि सभी जीवों के कर्मोपचय प्रयोग से (स्वप्रयत्न) से होता है, विस्रसा (स्वाभाविक) रूप से नहीं होता है।[10] कांक्षामोहनीय कर्म की चर्चा में कहा गया है कि कांक्षामोहनीय कर्म स्वकृत है, जीव अपने आप से ही उसकी उदीरणा करता है, गर्हा करता है, संवर करता है व निर्जरा करता है।[11] इस प्रकार भगवतीसूत्र में आये उक्त सभी उल्लेख जीव को कर्मों का कर्ता स्वीकार करते हैं। जीव को कर्मों के कर्ता के साथ-साथ कर्मफल का भोक्ता भी माना है। जीव स्वकृत दुःख (कर्म) भोगते हैं। उदीर्ण को भोगते हैं, अनुदीर्ण को नहीं।[12] पापकर्मफल भोगे बिना नारक, तिर्यंच, मनुष्य व देव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।[13] कर्मों के कर्तृत्व व भोक्तृत्व को स्पष्ट करते हुए पुनः आगे कहा गया है कि कर्मों के उदय से, गुरुता से, भारीपन से, अत्यन्त गुरुता व भारीपन से, अशुभ कर्मों के उदय, विपाक व परिपाक के कारण जीव स्वयं विभिन्न योनियों में उत्पन्न होता है।[14]

उक्त विवेचन में जीव को कर्मों का कर्ता व भोक्ता मानने से यह तात्पर्य नहीं है कि जीव कर्म (पुद्गल) का निर्माता है। पुद्गल तो पहले से ही वर्तमान हैं, संसारी जीव अपने सन्निकट में स्थित पुद्गल परमाणुओं को अपनी प्रवृत्तियों से आकृष्ट कर अपने में मिलाकर नीरक्षीरवत् एक कर देता है। यही द्रव्य कर्मों का कर्तृत्व है और जीव जब पुद्गल परमाणुओं को कर्म में परिणत करता है तब वह कर्मफल का भोक्ता भी सिद्ध हो जाता है।

जीव व कर्मबंध

कर्म जीव बांधते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जीव अमूर्त है व कर्म मूर्त है, फिर अमूर्त जीव का मूर्त कर्म से संबंध कैसे होता है? भगवतीवृत्ति[15] में कहा गया है कि वास्तव में संसारी आत्मा रूपी है उसी को कर्म लगते हैं। इसलिए आत्मा और कर्म का संबंध अरूपी और रूपी का संबंध नहीं है, वरन् रूपी का रूपी के साथ संबंध है। इस दृष्टि से संसारी आत्मा कर्मों का कर्ता है, उसके किये बिना कर्म नहीं लगते। भगवतीसूत्र में अभेदोपचार से पुद्गल युक्त इन्द्रिय को धारण करने के कारण संसारी जीव को पुद्गल व पुद्गली दोनों कहा है– **जीवे**

पोग्गली वि पोग्गले वि - (8.10.59)। इसी प्रकार पुद्गल मूर्त व जड़ होते हैं, किन्तु आत्मा के साथ संयुक्त होने पर कथंचित् चेतनरूप कहे जाते हैं। इसे ग्रंथ में जीव व शरीर के संबंध द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है- शरीर आत्मा भी है तथा अन्य (पुद्गल) रूप भी है। रूपी भी है, अरूपी भी है। सचित्त भी है, अचित्त भी है।[16]

भगवतीसूत्र के अनुसार नूतन कर्मबंधन का कारण पहले का कर्मबंध है। दूसरे शब्दों में संसारी (कर्मबद्ध) आत्मा ही कर्मों से बंधता है, मुक्त नहीं। भगवतीसूत्र[17] के सातवें शतक में कहा है दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी जीव, दुःख से स्पृष्ट नहीं होता है। अर्थात् दुःख ही दुःख का ग्रहण, उदीरणा, वेदन व निर्जरा करता है। यहाँ दुःखी से तात्पर्य कर्मबद्ध जीव से है। अन्यथा तो सिद्ध (कर्मरहित) कर्मबंध कर लेते। छठे शतक के तीसरे उद्देशक में भी इसी बात पर बल देते हुए कहा गया है महाकर्म, महाक्रिया, महाआस्रव व महावेदना वाले सर्वतः तथा सतत् (कर्म) पुद्गलों का बंध, चय, उपचय तथा उनका अशुभ परिणमन करते हैं।[18] प्रज्ञापनासूत्र[19] में भी कहा गया है कि अकर्म से कर्म का बंधन नहीं होता। जो जीव पहले से ही कर्मों से बद्ध है वह नये कर्मों को बांधता है। भगवतीसूत्र में गौतम गणधर द्वारा यह पूछने पर कि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंधन कौन करता है? भगवान् उत्तर देते हैं- संयत, असंयत अथवा संयतासंयत सभी कर्म बांधते हैं[20]। ग्रंथ में आये ये संवाद स्पष्ट करते हैं कि सकर्मक आत्मा पर ही कर्म का प्रभाव होता है, वही कर्मों का बंध करता है। पुनः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आत्मा व कर्म का यह संबंध अनादि है, कर्मबद्ध आत्मा पुनः नूतन कर्मों का बंध करता है तो जीव कर्ममुक्त कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हुए ग्रंथ में कहा गया है कि संयम व तप के द्वारा नये कर्मों का आस्रव रोका जाता है तथा पुराने कर्मों की निर्जरा होती है- **संजमे किं फले? अणण्हयफले,... तवे वोदाण फले** - (2.5.6) अर्थात् संयम का फल अनास्रवता है तथा तप का फल व्यवदान (कर्मों का क्षय) है।

ईश्वर, आत्मा व कर्मफल

भगवतीसूत्र न्यायदर्शन[21] की तरह ईश्वर को कर्मफल का नियन्ता नहीं स्वीकार करता है। भगवतीसूत्र[22] में कहा गया है कि कर्म से ही जीव जगत में विविध परिणामों को प्राप्त होता है, कर्म के बिना विविध रूपों को प्राप्त नहीं होता है। जीवों ने जो कर्म किये हैं, उनका फल इस जन्म में या आगामी जन्म में अवश्य

भोगना पड़ेगा। कृतकर्म भोगे बिना मुक्ति संभव नहीं है। जैसा व्यक्ति कर्म करता है, उसी रूप में फल की प्राप्ति होती है। ग्रंथ के पाँचवे शतक में कहा गया है कि जो व्यक्ति दूसरों पर झूठ का, अविद्यमान का या मिथ्यादोष का आरोपण करता है, उसके उसी प्रकार के कर्म बंधते हैं। वह जिस योनि में जाता है, वहीं उन कर्मों को वेदता है और वेदन करने के पश्चात् निर्जरा करता है।[23] ग्रंथ में विवेचित जमालि, गोशालक, अभिचिकुमार के जीवन चरित से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ कर्मबंधन का फल व्यक्ति को अवश्य भोगना पड़ता है। उत्तराध्ययन में भी आत्मा को ही सुख-दु:ख का कर्ता माना गया है।[24]

ईश्वर व कर्मफल के संबंध को अस्वीकार करते हुए देवेन्द्रमुनि शास्त्री लिखते हैं- यदि ईश्वर को कर्मफल का नियंत्रक माना जाय तो यह मानना होगा कि ईश्वर कर्म के अनुसार फल देगा। उनमें तनिक भी परिवर्तन का उसे अधिकार नहीं होगा। ऐसे में तो ईश्वर भी कर्म के अधीन हो जायेगा और दूसरी तरफ यदि ईश्वर को सर्वेसर्वा मान लिया जाय तो कर्म की सत्ता ईश्वर के अधीन हो जायेगी। अत: स्वयं कर्म को ही अपना फल देने वाला माना गया है।[25]

पापकर्म व पुण्यकर्म का फल

पापकर्म का फल अशुभ व पुण्यकर्म का फल शुभ होता है। भगवतीसूत्र[26] में पापकर्म व पुण्यकर्म के फल को दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति अठारह प्रकार के दाल-शाक व्यंजनों से युक्त विषमिश्रित भोजन को सुन्दर थाली में खाता है तो प्रारंभ में तो उसे अच्छा लगता है, किन्तु जैसे-जैसे वह भोजन पचता है तब वह दुर्गंध आदि रूप में खराब परिणाम प्राप्त करता है। उसी प्रकार प्राणातिपात आदि 18 पापस्थानों का सेवन प्रारंभ में तो अच्छा लगता है, किन्तु जब उनके द्वारा बांधे गये पापकर्म उदय में आते हैं तब वे अशुभफलविपाक से युक्त होते हैं। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति 18 प्रकार के दाल, शाक आदि व्यंजनों से युक्त औषद्य-मिश्रित भोजन करता है तब प्रारंभ में चाहे वह भोजन उसे अच्छा नहीं लगता, किन्तु बाद में जब वह भोजन पचता है, उसे सुख का अनुभव होता है। इसी प्रकार प्राणातिपातादि 18 पापस्थानों के त्याग, परिग्रह, विरमण, क्रोध त्याग आदि प्रारंभ में अच्छे नहीं लगते हैं, किन्तु बाद में इनके परिणमन स्वरूप कल्याणकर्म विपाक रूप में उदय में आते हैं और जीव सुख अनुभव करता है। दशाश्रुतस्कन्ध[27] में भी कहा गया है कि शुभ कर्म का फल शुभ व अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है।

कर्मबंध

आत्मा के साथ कर्मपरमाणुओं का संबंध होना कर्मबंध है। बंध की परिभाषा देते हुए आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका में कहा है– **कर्म-पुद्गलादानं बन्ध** – (4.6)। दूसरे शब्दों में आत्मा अपनी सद्-असद् प्रवृत्तियों के द्वारा कर्म बनने की योग्यता रखने वाले पुद्गलों को आकर्षित कर उन्हें अपने साथ बाँध लेती है। इसी प्रक्रिया का नाम कर्मबंध है।

कर्मबंध के कारण

यह नियम शाश्वत है कि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है अतः कर्मबंध भी अकारण नहीं होते हैं, उनके कुछ हेतु अवश्य होते हैं अन्यथा तो सिद्धों के भी कर्मबंधन होने लगेंगे। वास्तव में तो कर्मबंधन के अनुकूल आत्मा की परिणति ही बंधन का हेतु है। भगवतीसूत्र में कर्मबंधन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि शरीर को धारण करने वाला संसारी जीव ही प्रमाद व योग के कारण कर्मबंध करता है। निम्न संवाद दृष्टव्य है–

गौतम– भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म बाँधता है?

भगवान् – गौतम! बाँधता है।

गौतम – भगवन्! वह किन कारणों से बाँधता है?

भगवान् – गौतम! उसके दो हेतु हैं – प्रमाद और योग।

गौतम – भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान् – योग से।

गौतम – योग किससे उत्पन्न होता है?

भगवान् – वीर्य से।

गौतम – वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान् –शरीर है।

गौतम – शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान् – जीव से – (व्या. सू. 1.3.9)

उपर्युक्त उदाहरण में कर्मबंध के दो प्रमुख कारण बताये गये हैं; प्रमाद व योग। समवायांग, स्थानांग व तत्त्वार्थसूत्रादि जैन ग्रंथों में कर्मबंध के पाँच कारण माने गये हैं– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग।[28] इसे स्पष्ट करते हुए भगवतीवृत्ति[29] में कहा गया है कि मिथ्यात्व, अविरति व कषाय का अन्तर्भाव प्रमाद में ही हो जाता है। इस दृष्टि से प्रमाद व योग कर्मबंध के मुख्य कारण हैं। संक्षेप में समवायांग[30] में भी कर्मबंध के दो ही कारण माने हैं; कषाय व योग।

भगवतीसूत्र[31] में बंध के दो भेद किये गये हैं

1. ऐर्यापथिक बंध, 2. साम्परायिकबंध

ऐर्यापथिक बंध– केवल योगों के निमित्त से होने वाले सातावेदनीयरूपकर्मबंध को ऐर्यापथिक बंध कहते हैं। जैन परम्परा में योग का अर्थ है मन, वचन व काय की प्रवृत्ति। योग एक प्रकार का स्पन्दन है, जो आत्मा व पुद्गल वर्गणाओं के संयोग से होता है। भगवतीसूत्र[32] में योग के तीन प्रमुख भेद किये गये हैं– 1. मनयोग, 2. वचनयोग, 3. काययोग

इनके अवान्तर पन्द्रह भेदों का भी ग्रंथ में उल्लेख हुआ है[33]–

1. सत्य-मनोयोग, 2.मृषा-मनोयोग, 3. सत्यमृषा-मनोयोग, 4. असत्यमृषा-मनोयोग, 5. सत्यवचन-योग, 6. मृषा वचनयोग, 7. सत्यमृषा-वचनयोग, 8. असत्यमृषा-मनोयोग, 9. औदारिकशरीर-काययोग, 10. औदारिकमिश्रशरीर-काययोग, 11. वैक्रियशरीर-काययोग, 12. वैक्रियमिश्र-शरीरकाययोग, 13. आहारकशरीर-काययोग, 14. आहारकमिश्रशरीर-काययोग, 15. कार्मणशरीर-काययोग

योग को कर्मबंध का कारण मानते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है कि मनयोग, वचनयोग व काययोग तीनों से कर्म का उपचय होता है। एकेन्द्रिय स्थावर जीवों में सिर्फ काययोग से, विकलेन्द्रिय जीवों में वचनयोग व काययोग से तथा पंचेन्द्रिय जीवों में तीनों योग से कर्म उपचय होता है।[34]

साम्परायिक बंध– कषायों के निमित्त से होने वाले चतुर्गतिक संसार भ्रमणरूप कर्मबंध को साम्परायिक कर्मबंध कहते हैं। कषाय युक्त होने वाला बंध अधिक शक्तिशाली होता है। जबकि ऐर्यापथिक बंध निर्बल व अल्पायु वाला होता है तथा कषाय शांत होने की अवस्था से पहले नहीं बंधता है। इस दृष्टि से ग्रंथ में उसे सादि कहा गया है तथा अयोगी अवस्था में इसका बंधन नहीं होता है, इस दृष्टि से इसे सांत कहा गया है।[35]

वास्तव में देखा जाय तो कर्मबंध का प्रमुख कारण कषाय ही है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि कषाय साधनों से युक्त सामायिकधारी श्रमणोपासक को साम्परायिक क्रिया लगती है। साम्परायिक बंध व ऐर्यापथिक बंध की चर्चा में भी ग्रंथ में कहा गया है कि जिस जीव के क्रोध, मान, माया व लोभ व्युच्छिन्न हो गये, उनको ऐर्यापथिक क्रिया लगती है, किन्तु जिनके ये चारों कषाय व्युच्छिन्न नहीं हुए हैं, उनको साम्परायिक क्रिया लगती है। उपयोगरहित (प्रमादयुक्त) गमन आदि करने वाले अनगार को सूत्र

(आगम) विरुद्ध प्रवृत्ति करने के कारण साम्परायिक क्रिया लगती है।[36] क्रोधादि कषायों को संसार भ्रमण का कारण मानते हुए भगवतीसूत्र में कहा गया है कि क्रोधादि कषायों से आर्त्त बना जीव आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिल बन्धनों से बंधी हुई कर्म-प्रकृतियों को गाढ़ बंधन वाली करता है तथा इस अनन्त संसार में बार-बार भ्रमण करता है।[37] क्रोध रहितता, मान रहितता, माया रहितता व लोभ रहितता को श्रमणों के लिए प्रशस्त बताया है।[38]

ग्रंथ में कर्मबंध के इन मूल कारणों के अतिरिक्त यत्र-तत्र अन्य कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। हँसने, उत्सुकता, निद्रा, प्रचला से कर्मबंध होता है।[39] प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों के सेवन से कर्कशवेदनीय कर्म का बंध होता है। इनके विरमण से अकर्कश वेदनीय कर्मबंध होता है। प्राणियों पर अनुकम्पा करने, उन्हें दुःख, शोक, चिन्ता, वेदन, रुदन, परिताप आदि न देने से जीव साता वेदनीय कर्मबंध करता है। इसके विपरीत दूसरों को दुःख आदि देने से जीव असातावेदनीय कर्मबंध करता है।[40] कर्मबंध के उक्त सभी कारणों का समावेश प्रमाद में ही हो जाता है।

क्रिया

क्रिया का साधारण अर्थ है, प्रवृत्ति। जैन परम्परा में कर्मबंध की कारणभूत चेष्टा को क्रिया कहते हैं। ग्रंथ में क्रियाओं के पाँच प्रकार बताये गये हैं।[41]

1. कायिकी, 2. अधिकरणिकी, 3. प्राद्वेषिकी, 4. परितापनिकी, 5. प्राणातिपातिकी

कायिकी– काया में या काया से होने वाली क्रिया।

अधिकरणिकी– तलवार आदि शस्त्र अधिकरण कहलाते हैं, उनसे होने वाली क्रिया।

प्राद्वेषिकी– द्वेष निमित्त होने वाली क्रिया।

परितापनिकी– परिताप या पीड़ा पहुँचाने से होने वाली क्रिया।

प्राणातिपातिकी– प्राणियों के प्राणनाश से होने वाली क्रिया।

क्रियाओं के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि ये क्रियायें आत्मकृत होती हैं तथा मन, वचन व काया से स्पृष्ट होती हैं। ये क्रियायें स्वयं करने से लगती हैं; दूसरों के करने से नहीं। ये अनुक्रमपूर्वककृत होती हैं।[42]

कर्मबन्ध की प्रक्रिया

कर्मबंध की चार अवस्थाएँ हैं;

1. प्रकृतिबंध, 2. प्रदेशबंध, 3. अनुभागबंध, 4. स्थितिबंध

प्रदेशबंध– लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ कर्म पुद्गल वर्तमान नहीं हैं। प्राणी कषाय व योग के माध्यम से कर्मबंध करता है। एकेन्द्रिय जीव व्यवघात न होने पर छः दिशाओं से कर्म ग्रहण करते हैं। व्यवघात होने पर कभी तीन, कभी चार व कभी पाँच दिशाओं से कर्म ग्रहण करते हैं। शेष जीव नियम से सर्व दिशाओं से कर्म ग्रहण करते हैं। किन्तु, क्षेत्र के संबंध में मर्यादा है। आत्मा देहव्यापी है अतः जितने क्षेत्र या प्रदेश में आत्मा विद्यमान रहती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणु उसके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।[43] गृहीत कर्म पुद्गलों का आत्मा के प्रदेशों के साथ बद्ध होना प्रदेशबंध है। प्रदेशबंध में आत्मा व कर्मपुद्गल नीरक्षीरवत् एक हो जाते हैं– **जीवा य पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा अन्नमन्नपुट्ठा अन्नमन्नमोगाढा....चिट्ठन्ति** – (व्या. सू., 1.6.26)।

प्रकृतिबंध– योगों की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये गये कर्म परमाणु द्वारा ज्ञान को आवृत करना, दर्शन को आच्छन्न करना आदि अनेक रूपों में परिणत होना प्रकृतिबंध है। प्रदेशबंध कर्म परमाणुओं के परिमाण को इंगित करता है जबकि प्रकृतिबंध कर्म परमाणुओं की प्रकृति या स्वभाव को स्पष्ट करता है। प्रदेशबंध व प्रकृतिबंध दोनों योगों की प्रवृत्ति से होते हैं।[44] ये निर्बल, अस्थाई व संसार को बढ़ाने वाले नहीं होते हैं।

स्थितिबंध– प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ एक निश्चित समय तक ही रहता है। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग हो जाता है। अर्थात् कर्म पुद्गल राशि कितने काल तक आत्मा के प्रदेशों में रहेगी यह उसका स्थितिबंध है। इसमें योगों के साथ कषाय की भी प्रवृत्ति होती है।

अनुभागबंध– जीव द्वारा ग्रहण की हुई शुभ-अशुभ कर्मों की प्रकृतियों का तीव्र, मन्द आदि विपाक अनुभागबंध है। भगवतीवृत्ति[45] में कहा गया है कि उदय आने पर कर्म का अनुभव तीव्र है या मन्द यह कर्मबंध के समय ही नियत हो जाता है। इसे अनुभागबंध कहते हैं। उदय आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृतियों के अनुसार ही फल देता है। किन्तु, उत्तरप्रकृतियों पर यह नियम लागू नहीं होता है। मंदरस वाला कर्म तीव्ररस वाले कर्म में बदल जाता है। तीव्ररस वाला कर्म मंदरस वाले कर्म में बदल जाता है। इसे ग्रंथ में इस प्रकार स्पष्ट किया है– कितने ही प्राणी एकान्त दुःख रूप वेदना वेदते हैं, कदाचित् सातारूप वेदना भी वेदते हैं, एकान्त सातारूप वेदना वेदते हैं, कदाचित् असातारूप वेदना भी वेदते हैं तथा

कितने ही विमात्रा से वेदना वेदते हैं।[46] कर्म व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग हैं। इनका निर्माण एक साथ ही होता है। प्रदेशबंध के साथ ही स्वभाव, काल-मर्यादा व फलशक्ति का भी निर्माण हो जाता है।

पुरुषार्थ एवं कर्म परिवर्तन

जैनदर्शन कर्म परिवर्तन के सिद्धान्त को मानता है। अशुभ व शुभ दोनों प्रकार की भावधारा के साथ कर्म की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। भगवतीसूत्र में कर्मवाद व पुरुषार्थ दोनों को ही महत्त्व दिया गया है। कर्म पुरुषार्थ के द्वारा (आत्मकृत) किये जाते हैं। पुरुषार्थ के द्वारा किये हुए कर्म को बदला भी जा सकता है। ग्रंथ में पुरुषार्थ व कर्म परिवर्तन के संबंध को बताने वाले कुछ नियम प्रयुक्त हुए हैं।[47]

1. उदीरणा, 2. अपवर्तना, 3. उद्वर्तना, 4. संक्रमण, 5. निकाचन

भगवईभाष्य[48] में इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है-

उदीरणा- जो कर्म पुद्गल अनुदित हैं, उनका परिणाम विशेष द्वारा उदयप्राप्त कर्मदलिकों में प्रवेश कर देना।

अपवर्तना- वीर्य विशेष के द्वारा कर्म की स्थिति व अनुभाग को कम करना, अपवर्तना है।

उद्वर्तना- वीर्य विशेष द्वारा कर्म की स्थिति व अनुभाग को बढ़ा देना, उद्वर्तना है।

संक्रमण- वीर्य विशेष के द्वारा सजातीय कर्म-प्रकृतियों का एक दूसरे में संक्रांत होना। इसमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश व अनुभाग ये चारों एक रूप से दूसरे रूप में संक्रात हो जाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति सातावेदनीय कर्म का अनुभव कर रहा है, उस समय उसके अशुभ कर्म परिणति बलवान हो गई। परिणामस्वरूप सातावेदनीय असातावेदनीय में संक्रांत हो गया। किन्तु, यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि सब कुछ पुरुषार्थ से ही हो जाता है तो कर्म की महत्ता क्या होगी? अतः भगवान् महावीर ने इस विरोध का भी परिहार किया। इसके लिए भी भगवतीसूत्र में निकाचन के नियम का उल्लेख हुआ है।

निकाचन- वीर्यविशेष द्वारा कर्म को उस अवस्था में व्यवस्थापित करना, जो उद्वर्तना आदि किसी कारण द्वारा बदला न जा सके; जो अवश्य भोगा जाय। अर्थात् जिस रूप में कर्म बांधा जाय उसे उसी रूप में भोगना निकाचन अवस्था है।

पुरुषार्थ की सीमा को स्पष्ट करते हुए यह बताने का प्रयास किया गया है कि कुछ कर्म अपरिवर्तनीय है जैसे निकाचित कर्म। साथ ही संक्रमण के भी कुछ अपवाद हैं– आयुष्यकर्म की चार उत्तर प्रकृतियों तथा दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है। इस प्रकार ग्रंथ में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि कर्म व पुरुषार्थ सापेक्ष हैं, दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। कर्म सर्वशक्तिमान नहीं हैं, पुरुषार्थ द्वारा उसमें परिवर्तन संभव है तथा पुरुषार्थ भी सब कुछ नहीं कर सकता क्योंकि कुछ ऐसे (निकाचित) कर्म हैं, जिनमें पुरुषार्थ द्वारा परिवर्तन संभव नहीं है। कहीं कर्म बलवान है तो कहीं पुरुषार्थ।

कर्म परिवर्तन[49]

कर्मप्रकृति में होने वाले परिवर्तन को ग्रंथ में असंवृत व संवृत अनगार के प्रसंग द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है– 'असंवृत अनगार आयुकर्म को छोड़कर शेष शिथिलबंधन से बद्ध सात कर्मप्रकृतियों को गाढ़बंधन से बद्ध करता है; अल्पकालीन स्थिति वाली कर्म-प्रकृतियों को दीर्घकालिक स्थिति वाली करता है; मन्द अनुभाग वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाग वाली करता है; अल्पप्रदेश वाली प्रकृतियों को बहुत प्रदेश वाली करता है और आयुकर्म को कदाचित् बाँधता है, एवं कदाचित् नहीं बांधता; असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपार्जन करता है; तथा अनादि अनवदग्र, अनन्त दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिसंसाररूपी अरण्य में बार-बार परिभ्रमण करता है। संवृत अनगार आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष गाढ़बंधन से बद्ध सात कर्म-प्रकृतियों को शिथिलबंधनबद्ध कर देता है; दीर्घकालिक स्थिति वाली कर्मप्रकृतियों को थोड़े काल की स्थिति वाली कर देता है, तीव्ररस (अनुभाव) वाली प्रकृतियों को मन्द रस वाली कर देता है; बहु प्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्पप्रदेश वाली कर देता है, और आयुष्य कर्म को नहीं बाँधता। वह असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता, अनादि-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिकरूप संसार-अरण्य का उल्लंघन कर जाता है।'

पुनर्जन्म

जैनधर्म पुनर्जन्म में विश्वास करता है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में प्राप्त नहीं होता उसके भोग के लिए पुनर्जन्म को स्वीकार करना आवश्यक है। भगवतीसूत्र में कहा है जीव अपने अध्यवसाय योग (अध्यवसायरूप मन आदि के व्यापार) से निष्पन्न करणोपाय (कर्मबंध के हेतु) द्वारा परभव की आयु बाँधते हैं।[50] आचारांग[51] में भी कहा गया है कि जीव अपने ही प्रमाद के कारण अनेक जन्म

ग्रहण करता है। ग्रंथ में आये कुछ उल्लेख पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं। प्रथम शतक में भव की अपेक्षा से ज्ञान, दर्शन व चारित्र की प्ररूपणा करते हुए कहा है कि ज्ञान व दर्शन दोनों इहभविक व परभविक हैं जबकि चारित्र, तप व संयम इहभविक ही हैं।[52] अन्यत्र कर्मिता व संगिता (आसक्ति) को पुनर्जन्म का कारण माना है।[53]

वेदना

जो वेदी जाय या अनुभव की जाय वेदना है। उदय प्राप्त कर्मों को भोगना वेदना है। भगवतीवृत्ति में कहा गया है कि वेदना कर्म की होती है अत: वेदना को (उदय प्राप्त) कर्म कहा गया है। भगवतीसूत्र में वेदना के तीन प्रकार बताये गये हैं– 1. शीत, 2. उष्ण, 3. शीतोष्णा **(तिविहा वेदणा पण्णत्ता, तं जहा - सीता उसिणा सीतोसिणा** - (10.2.5)

वेदना की ग्रंथ में विस्तार से चर्चा की गई है। एवंभूत एवं अन-एवंभूत वेदना की चर्चा में कहा है कि जो जीव किये हुए पापकर्मों के अनुसार वेदना वेदते हैं, वे एवंभूत वेदना वेदते हैं तथा जो जीव किये हुए कर्मों से अन्यथा वेदना वेदते हैं, वे अनएवंभूत वेदना वेदते हैं।[54]

निर्जरा

निर्जरा का शाब्दिक अर्थ है, जर्जरित करना या झाड़ना। आत्मा से कर्म पुद्गलों को पृथक् करना या पृथक् हो जाना निर्जरा है। आत्मा की विशुद्ध अवस्था, जिसके कारण कर्मपुद्गल आत्मा से पृथक् हो जाते हैं भावनिर्जरा है तथा कर्मपुद्गलों का आत्मा से पृथक हो जाना द्रव्यनिर्जरा है। निर्जरा को मोक्ष प्राप्ति का हेतु बताते हुए कहा गया है कि पापकर्म संसार परिभ्रमण का कारण होने से दु:ख रूप हैं और पापकर्मों की निर्जरा मोक्ष का हेतु होने से सुखरूप है।[55] श्रमण व श्रावक दोनों ही की कर्म-निर्जरा को विवेचित करते हुए कहा है– वे तप व साधना द्वारा कर्म की निर्जरा करते हैं।[56] श्रमणोपासक, तथारूप श्रमण व ब्राह्मण को दोषरहित अन्नपानी आदि से सत्कार करने पर श्रावक एकान्तरूप से निर्जरा करता है।[57]

निर्जरा के दो भेद हैं– सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा। कर्म का अपनी समय मर्यादा के अनुसार फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाना सकाम निर्जरा है। तप आदि साधना द्वारा कर्मों की कालस्थिति परिपक्व होने से पहले ही प्रदेशोदय के द्वारा उन्हें भोगकर बलात् पृथक् करना अकाम निर्जरा है। इसमें फलोदय नहीं

होता है। अकाम निर्जरा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि दीर्घकाल तक घोर नरक में पड़ा नारक जीव कोटा-कोटी वर्षों तक भी उन कर्मों का क्षय नहीं कर सकता है, जिनका क्षय श्रमण अपने तप द्वारा अल्पकाल में ही कर देता है। जैसे तपे हुए लोहे की कढ़ाई में डाली गयी पानी की बूँद तथा अग्नि में डाला गया सूखा घास शीघ्र नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार (तप साधना द्वारा) श्रमण के यथाबादर कर्म भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।[58]

वेदना व निर्जरा का संबंध

वेदना व निर्जरा पृथक्-पृथक् हैं। भगवतीसूत्र के छठे शतक में चतुर्भंगी के निरूपण द्वारा वेदना व निर्जरा के पृथक्त्व को इस प्रकार समझाया है- वेदना कर्म है, निर्जरा नोकर्म है। कर्म को वेदते हैं और नोकर्म को निर्जीर्ण करते हैं। जिस समय कर्म का वेदन करते हैं, उस समय निर्जरा नहीं करते हैं तथा जिस समय निर्जरा करते हैं उस समय वेदन नहीं करते हैं वेदना का समय दूसरा होता है तथा निर्जरा का समय दूसरा होता है।[59] प्रतिमा धारक अनगार महावेदना व महानिर्जरा वाला होता है। छठी-सातवीं नरक पृथ्वियों वाले जीव महावेदना व अल्पनिर्जरा वाले होते हैं। शैलेषी अवस्था को प्राप्त अनगार अल्पवेदना तथा महानिर्जरा वाला, अनुत्तरौपपातिक देव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं।[60]

अन्तक्रिया

जिस क्रिया के पश्चात् अन्य कोई क्रिया करना शेष न रहे, उसे अन्तक्रिया कहते हैं। भगवतीसूत्र[61] में कहा गया है कि जब तक जीव में किसी भी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल क्रिया (स्पन्दन, क्षुब्ध, उदीरत आदि) है तब तक जीव की अन्तक्रिया संभव नहीं है। क्योंकि इन सूक्ष्म व स्थूल क्रियाओं के कारण जीव आरंभ, सारंभ करता है, बहुत से प्राणियों को दु:ख, परिताप, कष्ट आदि पहुँचाने में प्रवृत्त होता है। अत: इन क्रियाओं से कर्मबंध होते रहते हैं। इसके विपरीत जब जीव में सूक्ष्म या स्थूल कोई क्रिया नहीं होगी तब आरंभ-सारंभ भी नहीं होगा। जीव अन्य प्राणियों को परिताप, दु:ख, कष्ट आदि पहुँचाने में भी प्रवृत्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति में अन्तक्रिया होगी। सूखा घास अग्नि में डालने से तुरंत जल जाता है, तपे हुए लोहे के कड़ाह पर डाली हुई पानी की बूँद तुरंत नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार क्रिया रहित व्यक्ति के कर्म भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जब वह आत्मसंवृत अनगार उपयोगपूर्वक कोई भी क्रिया करता है तब कर्म के आस्रव द्वारों को बंद कर देता है, ऐसे में उसे सिर्फ ऐर्यापथिक क्रिया लगती है, जो अत्यन्त अल्प समय

में नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अक्रिय व्यक्ति अन्तक्रिया रूप मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अक्रिया का अन्तिम फल सिद्धि है।[62]

मुक्ति

जीव का चरम लक्ष्य मुक्ति प्राप्ति है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने सम्पूर्ण कर्म के वियोग को मोक्ष कहा है - **सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः** - (1.1.8 पृ. 6) दूसरे शब्दों में बंधन मुक्ति ही मोक्ष है। बंधन मुक्ति तभी संभव है जब नये कर्मों का आस्रव न हो तथा पुराने कर्मों की निर्जरा हो। भगवतीसूत्र में संवर व तप को मुक्ति का साधन माना है। संवर से कर्मों का अनास्रवत्व होता है और तप से कर्मों का क्षय। मोक्ष प्राप्ति में साधक कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि संवेग, निर्वेद, गुरुसाधर्मिक-शुश्रूषा, आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना, श्रुत-सहायता, व्युपशमना, भाव में अप्रतिबद्धता, विनिवर्त्तना, विविक्त-शयनासन-सेवनता, श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रिय संवर, योग-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, कषाय-प्रत्याख्यान, सम्भोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान, क्षमा, विरागता, भावसत्य, योगसत्य, करणसत्य, मनःसमन्वाहरण, वचन-समन्वाहरण, काय-समन्वाहरण, क्रोध-विवेक से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक, ज्ञान-सम्पन्नता, चारित्र-सम्पन्नता, वेदना-अध्यासनता और मारणान्तिक-अध्यासनता इन 49 पदों के आचरण का अन्तिम फल मोक्ष है।[63] कर्महीन सिद्ध जीवों में गति की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि अकर्मक जीव की निःसंगता, नीरागता, गतिपरिणाम, बन्धन-छेद, निरिन्धनता (कर्मरूपी ईंधन से मुक्त) व पूर्व प्रयोग से विमुक्त होने के कारण सिद्धों में ऊर्ध्वगति होती है[64]। सिद्धों में ऊर्ध्वगति को तुम्बे, मटर आदि सूखी फली के बीज, ईंधन के धुएं तथा धनुष से छूटे बाण आदि विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। सिद्ध के स्वरूप का विस्तृत विवेचन जीव के भेद-प्रभेद के अन्तर्गत किया जा चुका है।

कर्म प्रकृति

कर्म प्रकृतियाँ आठ मानी गई हैं।[65]

1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. नाम, 6. आयु, 7. गोत्र, 8. अंतराय

भगवतीसूत्र में आठ कर्मप्रकृतियों के नामों का उल्लेख करके प्रज्ञापनासूत्र के तेईसवें 'कर्मप्रकृति' अध्ययन के प्रथम उद्देशक का निर्देश किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र में इनका विस्तृत विवेचन है।

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की बंधस्थिति, अबाधाकाल व कर्म निषेककाल[66]

बंधस्थिति– कर्मबंध होने तक वह जितने काल रहता है, उसे बंधस्थिति कहते हैं।

अबाधाकाल– कर्मबंध से लेकर जब तक उस कर्म का उदय नहीं होता है तब तक के काल को अबाधाकाल कहते हैं।

कर्मनिषेककाल– कर्म के अबाधाकाल के पूरा होने पर कर्म के वेदन करने के प्रथम समय से लेकर बंधे हुए कर्म के आत्मा के साथ रहने तक के काल को कर्मनिषेक काल कहते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म की बंधस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। अबाधाकाल जितनी स्थिति को कम करने से शेष कर्मस्थिति कर्मनिषेककाल है। **दर्शनावरणीय** व **अन्तराय कर्म** की बंधस्थिति आदि ज्ञानावरणीय के समान है। **वेदनीय कर्म** की जघन्य (बन्ध) स्थिति दो समय की है, उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणीय कर्म के समान तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। **मोहनीय कर्म** की बंधस्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त्त की और उत्कृष्ट 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। सात हजार वर्ष अबाधाकाल है। अबाधाकाल की स्थिति को कम करने से शेष कर्मस्थिति कर्मनिषेककाल है। **आयुष्यकर्म** की बन्धस्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक तेतीस सागरोपम की है। इसका कर्मनिषेक काल (तेतीस सागरोपम का तथा शेष) अबाधाकाल है। **नामकर्म** और **गोत्र कर्म** की बन्धस्थिति जघन्य आठ मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट 20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इसका दो हजार वर्ष का अबाधाकाल है। उस अबाधाकाल की स्थिति को कम करने से शेष कर्मस्थिति कर्मनिषेककाल होता है।

लेश्या

जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक समूह हैं। उनमें से एक समूह का नाम लेश्या है। विभिन्न जैन ग्रंथों में लेश्या की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। आचार्य वीरसेन ने आत्मा और कर्म का संबंध कराने वाली प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[67] गोम्मटसार में कहा गया है कि जिसके सहयोग से आत्मा कर्मों में लिप्त होती है वह लेश्या है।[68]

लेश्या की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि लेश्या वह है जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है या जिसके द्वारा आत्मा बंधन में आती है। भगवतीसूत्र में लेश्या के दो भेद किये गये हैं[69]– 1. द्रव्यलेश्या, 2. भावलेश्या

द्रव्यलेश्या गंध, वर्ण, रस व स्पर्श से युक्त होती है। जबकि भावलेश्या इनसे रहित होती है। इस संबंध में पं. सुखलाल जी ने प्रकाश डालते हुए कहा है कि भावलेश्या आत्मा का मनोभाव विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है।[70] यह मनोभाव क्रियाओं के रूप में जब बाह्य अभिव्यक्त होता है तब कर्म में रूपान्तरित हो जाता है।

लेश्या के प्रकार– लेश्या छः प्रकार की बताई गई है।[71]

1. कृष्णलेश्या, 2. नीललेश्या, 3. कापोतलेश्या, 4. तेजोलेश्या, 5. पद्मलेश्या, 6. शुक्ललेश्या

इनके स्वभाव के वर्णन हेतु प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद के द्वितीय उद्देशक का यहाँ निर्देश किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय उद्देशक में नरक आदि चार गतियों के जीवों में कितनी-कितनी लेश्याएँ होती हैं, इसका विस्तार से वर्णन हुआ है। अपेक्षा दृष्टि से लेश्या के अल्प-बहुत्व पर भी इसमें चिन्तन किया गया है।

कांक्षामोहनीय कर्म

जैनागमों में भी कर्म संबंधी अनेक समस्याओं पर विचार किया गया है, किन्तु कांक्षामोहनीय कर्म की चर्चा विशेषतः भगवतीसूत्र में ही दृष्टिगोचर होती है। इस चर्चा में कर्म संबंधी अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। यद्यपि कर्म सिद्धान्त की उपर्युक्त चर्चा में इनमें से कुछ पर विचार किया गया है तथापि यहाँ कांक्षामोहनीय कर्म से क्या तात्पर्य है, उनके कारण, विविध रूप आदि की संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है।

कांक्षामोहनीय कर्म का अर्थ एवं स्वरूप

जो कर्म जीव को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं; चारित्र मोहनीय व दर्शन मोहनीय। यहाँ मोहनीय शब्द के आगे कांक्षा शब्द लगाया गया है। कांक्षामोहनीय का अर्थ दर्शन मोहनीय से है। वृत्तिकार के अनुसार कांक्षा का मूल अर्थ है– अन्य दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा करना। संशयमोहनीय, विचिकित्सामोहनीय, परपाखण्डप्रशंसा-मोहनीय आदि कांक्षामोहनीय के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं।[72] वृत्तिकार की तरह जयाचार्य ने भी कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का अर्थ मिथ्यात्व-मोहनीय

वेदन किया है। उनके अनुसार जब कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है मिथ्यात्व आ जाता है।[73]

इस संबंध में आचार्य महाप्रज्ञ जी का मन्तव्य है कि 'कांक्षामोहनीय का संबंध ज्ञानावरणीय कर्म से है, मोहनीय कर्म के प्रभेद रूप दर्शनमोहनीय से नहीं।' इसका मुख्य हेतु यह है कि कांक्षामोहनीय जिन कारणों से उत्पन्न होता है, उनमें कहीं भी तत्त्व-श्रद्धा विषयकांक्षा की चर्चा नहीं है। अपितु विभिन्न विचारों के प्रति होने वाली आकांक्षा ही अनुभव में आती है और यह एक प्रकार से मोह ही है। आचार्य भिक्षु के अनुसार ज्ञानमोह से तात्पर्य है ज्ञान में मूढ़ता उत्पन्न होना, अतः यह ज्ञानावरणीय कर्म का परिणाम है, मोहनीय कर्म का नहीं।[74]

भगवतीसूत्र[75] में कांक्षामोहनीय कर्म के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा गया है कांक्षामोहनीय कर्म जीव द्वारा स्वकृत है। वह सर्व से सर्वकृत है अर्थात् समस्त आत्मप्रदेशों से समस्त कांक्षामोहनीय कर्म किया हुआ है। कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा, गर्हा एवं संवर जीव स्वयं अपने आप करता है।[76] कांक्षामोहनीय कर्म के कारणों की चर्चा में योग व प्रमाद को प्रमुख कारण माना गया है। निम्न संवाद दृष्टव्य है- **कहं णं भंते! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति?**

गोयमा! पमादपच्चया जोगनिमित्तं च। (व्या. सू. 1.3.9)

कांक्षामोहनीय कर्म के पाँच हेतु बताये गये हैं-

1. **शंका**- तत्त्व के विषय में सन्देह, जैसे- पानी में जीव है या अजीव? इत्यादि।

2. **कांक्षा**- कुतत्त्व की आकांक्षा।

3. **विचिकित्सा**- धार्मिक आराधना के फल के विषय में सन्देह, उदाहरणार्थ- तपस्या करने से कर्ममुक्ति होगी या नहीं?

4. **भेद**- तत्त्व या सत्य के प्रति मति का द्वैत, अनिर्णायक स्थिति का होना।

5. **कलुष**- तत्त्व के प्रति निर्मल बुद्धि का अभाव

उक्त पाँचों हेतुओं से समापन्न होकर जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है।

कांक्षामोहनीय कर्म के विविध रूप[77]

कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन अनेक रूपों में व्यक्त होता है। ग्रंथ में श्रमणनिर्ग्रंथ के कांक्षामोहनीय कर्म के निमित्तभूत तेरह विषयों का उल्लेख किया गया है।

1. ज्ञानान्तर, 2. दर्शनान्तर, 3. चारित्रान्तर, 4. लिंगान्तर, 5. प्रवचनान्तर, 6. प्रावचनिकान्तर, 7. कल्पान्तर, 8. मार्गान्तर, 9. मतान्तर, 10. भंगान्तर, 11. नयान्तर, 12. नियमान्तर, 13. प्रमाणान्तर

भगवतीसूत्र में मोहनीय कर्म के परिणाम को बताते हुए कहा गया है कि मोहनीय कर्म के परिणामस्वरूप जीव आत्मा से अपक्रमण करता है अर्थात् ऊँचे गुण स्थान से नीचे गुण स्थान पर आ जाता है। क्योंकि अब उसे जिनेन्द्रों द्वारा कहा हुआ तथ्य रुचता नहीं हैं।[78] कांक्षामोहनीय कर्म के स्वरूप, कारण, वेदन आदि की विवेचना के साथ-साथ भगवतीसूत्र में इससे बचने का भी सूत्र दिया गया है- **तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेइयं** - (1.3.6) अर्थात् जो जिनेन्द्रों ने कहा है वही सत्य है। इस सूत्र को हृदयंगम करके व्यक्ति कांक्षामोहनीय कर्म के दुष्परिणामों से बच सकता है। वही सच्चा आराधक भी होता है।

संदर्भ

1. कीरइ जिएण हेउहिं, जेण तो भण्णउइ कम्मं - कर्मग्रंथ, 1.1
2. कर्मप्रकृति, नेमिचन्द्राचार्य, 6
3. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि, जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 429
4. आचारांग, मुनि मधुकर, 1.3.2.112-117, पृ. 94
5. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तहेव आगच्छति संपराए- सूत्रकृतांग, (नरकविभक्ति), 5.2.23
6. स्थांनांग, सम्पा., मुनि मधुकर, 4.299, 5.109-110 आदि
7. समवायांग, समवाय, 5, 14
8. उत्तराध्ययन, अध्ययन, 33, 34
9. व्या. सू., 17.4.3-19
10. वही, 6.3.5
11. वही, 1.3.10
12. वही, 1.2.2-3
13. नेरइयस्स वा तिरिक्खजोणियस्स.....
    जे कडे पाव कम्मे नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो- वही, 1.4.6
14. वही, 9.32.53-57
15. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक, 63
16. व्या. सू., 13.7.15-13
17. दुक्खी दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे- वही, 7.1.14
18. व्या. सू., 6.3.2
19. प्रज्ञापनासूत्र, 23.1.292

20. व्या. सू., 6.3.14
21. 'ईश्वरः कारणम्-पुरुषकर्माऽऽफल्यदर्शनात्'- न्यायदर्शन, 4.19
22. व्या. सू., 12.5.37
23. वही, 5.6.20
24. उत्तराध्ययन, 20.37
25. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 457
26. व्या. सू., 7.10.16,18
27. 'सुच्चिणाकम्मा सुच्चिणाफला भवन्ति.....'- दशाश्रुतस्कन्ध, 6
28. (क) समवायांग, समवाय, 5
    (ख) स्थानांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 5.109, पृ. 488
    (ग) तत्त्वार्थसूत्र, 8.1
29. भगवतीवृत्ति, अभयदेव पत्रांक, 56-57
30. समवायांग, समवाय, 2
31. दुविहे बंधे पन्नत्ते.....- व्या. सू., 8.8.10
32. वही, 16.1.20, 6.3.5
33. वही, 25.1.8
34. वही, 6.3.5
35. वही, 6.3.7
36. व्या. सू., 7.1.6, 16, 10.2.3
37. वही, 12.1.26-28, 1.1.11
38. वही, 1.9.18-19
39. वही, 5.4.7, 12
40. वही, 7.6.16, 24, 28
41. व्या. सू., 3.3.2
42. वही, 1.6.7
43. व्या. सू., 1.1.6, 6.10.12
44. कर्मग्रंथ (भाग-5), गा. 96
45. भगवतीवृत्ति, अभयदेव पत्रांक, 65
46. व्या. सू., 6.10.11
47. वही, 1.1.6
48. भगवई (खण्ड-1) - सम्पा. आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 26-27
49. व्या. सू., 1.1.11
50. वही, 25.8.4
51. 'मायी पमायी पुणरेति गब्भं' - आचारांग, सम्पा. मुनि मधुकर, 1.3.1.108, पृ. 89
52. व्या. सू., 1.1.10

53. वही, 2.5.17
54. वही, 5.5.2
55. पावे कम्मे जे य कडे, जे य कज्जति, जे य कज्जिस्सति
सव्वे से दुक्खे जे णिज्जिण्णे से णं सुहे - वही, 7.8.3
56. वही, 2.5.16, 26, 16.4.2-7
57. वही, 8.6.1
58. वही, 16.4.2-7
59. वही, 7.3.18-20
60. वही, 6.1.13
61. वही, 3.3.12-14
62. सिद्धि पज्जवसाणफला पण्णत्ता..... - वही, 2.5.26
63. व्या. सू., 17.3.22
64. वही, 7.1.12
65. वही, 1.4.1, 6.3.10
66. वही, 6.3.11
67. षट्खण्डागम, धवलावृत्ति, 7.2.1, सूत्र 3, पृ. 7
68. गोम्मटसार, जीवकांड, गा. 489
69. व्या. सू., 12.5.28
70. दर्शन और चिन्तन (भाग-2), पृ. 297
71. व्या. सू., 25.1.3, 1.2.13
72. भगवतीवृत्ति, अभयदेव, पत्रांक, 52
73. भगवतीजोड, ढाल, 292, गा. 2
74. भगवई (खण्ड-1), पृ. 74, 89
75. व्या. सू., 1.3.1-5
76. वही, 1.3.9-10
77. वही, 1.3.15
78. वही, 1.4.3, 5



सन्दर्भ ग्रन्थ

खण्ड 'क' - व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (मूल ग्रंथ)

1.	अंगसुत्ताणि भाग - 2	सम्पा., मुनि नथमल, जैन विश्वभारती लाडनूँ, 1999
2.	भगवई विआहपण्णत्ती, भाग 1-2	सम्पा., आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती लाडनूँ, 1994, 2000
3.	भगवती, भाग - 1-7 (हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन सहित)	सम्पा., घेवरचन्द जी बांठिया, जैन संस्कृति, संरक्षक संघ, सैलाना
4.	व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, भाग - 1, 2, 3, 4	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर 1991-94
5.	व्याख्याप्रज्ञप्ति (अभयदेवकृत वृत्ति सहित)	आगमोदय समिति, बम्बई, सन् 1918-21
6.	व्याख्याप्रज्ञप्ति	सम्पा., अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी.नि.स. 2446
7.	व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र	सम्पा., मुनि घासीलाल जी, शास्त्रोद्धार समिति,
8.	व्याख्याप्रज्ञप्ति (शतक 1 से 20) (हिन्दी विषयानुवाद)	मदनकुमार मेहता, श्रुत प्रकाशन मन्दिर, कलकत्ता, वि.स. 2011
9.	वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भाग- 1	सम्पा., बेचरदास जीवराज दोशी, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, सन् 1974

खण्ड 'ख' - सहायक ग्रन्थ सूची (प्राचीन)

1.	अकलङ्कग्रन्थत्रयम् (लघीयस्त्रयम न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रहश्च)	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता सन् 1939
2.	अणुओगदाराइं (आर्यरक्षित)	सम्पा., आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ सन् 1996
3.	अनुयोगद्वारसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1987
4.	अमितगतिश्रावकाचार (अमितगति)	अनेकान्त विद्वत् परिषद, सन् 1989-90
5.	अष्टपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वी. नि.सं. 2497

6.	आचारांग निर्युक्ति	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, वि.सं. 1935
7.	आचारांगसूत्र (भाग 1, 2)	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर सन् 1989, 1990
8.	आप्तमीमांसा (समन्तभद्र)	अनंतकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
9.	आप्तमीमांसा (तत्त्वदीपिका)	सम्पा., जैन उदयचन्द, श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान, वाराणसी, वी.नि.सं. 2501
10.	आवश्यकनिर्युक्ति (मलयगिरिवृत्ति)	आगमोदय समिति, बम्बई, सूरत वि.सं. 2085-95
11.	आवश्यकसूत्र (भाग 1, 2)	देवचन्दलालभाई जैन पुस्तकोद्ध, भण्डार, बम्बई, सन् 1965
12.	आवश्यकसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1994
13.	उत्तराध्ययनसूत्र (भाग 1)	जैन श्वे. तेरापंथ महासभा, कलकत्ता, सन् 1967
14.	उत्तराध्ययनसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर सन् 1991
15.	उपासकदशांगसूत्र	सम्पा., आत्माराम म. सा., आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सन् 1964
16.	उवासगदसाओ	सम्पा. मुनि, मधुकर आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1980
17.	ऋग्वेद	भारत मुद्रणालय, औन्धनगर, सन् 1940
18.	औपपातिकसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1992
19.	कप्पसुत्त	मुनि कन्हैयालाल कमल, आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव, वि.स. 2034
20.	कल्पसूत्र	सम्पा. महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती, अकादमी, जयपुर, सन् 1977
21.	कषायपाहुड (भाग 1) (जयधवला सहित)	भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, सन् 1977

22.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामि कुमार)	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, सन् 1990
23.	गणधरवाद	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, सन् 1982
24.	गणितानुयोग	सम्पा., मुनि कन्हैयालाल कमल, आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद, वी.नि.सं. 2495
25.	गीता (भगवद्गीता)	सम्पा., शास्त्री कृष्णपंत, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि.सं. 1998
26.	गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, सन् 1985
27.	चत्वारः कर्मग्रन्थाः (देवेन्द्रसूरि)	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् 1934
28.	चारित्रपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.सं. 2027
29.	जीवाजीवाभिगमसूत्र (खण्ड 1, 2)	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1989-91
30.	ज्ञाताधर्मकथांग	सम्पा. मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1989
31.	ठाणं	सम्पा., मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, वि.सं. 2033
32.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् (विद्यानन्दि)	गांधीनाथारंग जैन ग्रंथमाला, बम्बई सन् 1918
33.	तत्त्वार्थराजवार्तिक (भाग 1, 2) (अकलंक)	सम्पा. जैन महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 1993
34.	तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति)	सम्पा., संघवी सुखलाल जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, सन् 1952
35.	तत्त्वार्थसूत्र	सम्पा., शास्त्री कैलाशचन्द्र, भा.दि. जैनसंघ चौरासी, मथुरा, वि.सं. 2007
36.	तत्त्वार्थसूत्र	सम्पा. मुनि, केवल, श्री जैन दिवाकर, साहित्यपीठ, इन्दौर, सन् 1987
37.	त्रिलोकप्रज्ञप्ति (यतिवृषभ)	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् 1943, 1951
38.	त्रीणि छेदसूत्राणि (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र)	सम्पा., मुनि मधुकर आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1992

39.	दशवैकालिकनिर्युक्ति	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार, बम्बई, सन् 1918
40.	दशवैकालिकसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1993
41.	द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र)	गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, सन् 1966
42.	नन्दीसूत्र	सम्पा., मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् 1958
43.	नन्दीसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1991
44.	नियमसार (कुन्दकुन्द)	पं. टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर, सन् 2000
45.	निरयावलिकासूत्र	सम्पा., मुनि कन्हैयालाल कमल आदि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1994
46.	निशीथ (भाष्य व विशेषचूर्णि सहित)	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् 1957-60
47.	न्यायावतार (सिद्धसेन)	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, सन् 1976
48.	पंचाध्यायी (पूर्वार्ध)	टीकाकार, शास्त्री मक्खन लाल, ग्रन्थ प्रकाश, इन्दौर, वी.नि.सं. 2444
49.	पंचास्तिकाय (कुंदकुंद)	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद राजचन्द्र आश्रम, अगास, सन् 1986
50.	पुरुषार्थसिद्धयुपाय (अमृतचन्द्राचार्य)	श्री दिगम्बर जैन समाज, कुचामन सिटी (राज.) वि.सं. 2033
51.	प्रभावकचरित	सम्पा., मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता, वि.सं. 1997
52.	प्रमाणमीमांसा (अकलंक)	सम्पा., संघवी सुखलाल, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता, सन् 1939
53.	प्रवचनसार (कुंदकुंद)	सम्पा., उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, 1964

54.	प्रशमरति (उमास्वाति)	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, वि.सं. 2044
55.	प्रज्ञापनासूत्र (खण्ड 1, 2, 3)	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1993
56.	प्रज्ञापनासूत्र (मलयगिरिकृत टीकासहित)	आगमोदय समिति, बम्बई, सन् 1918-19
57.	बृहत्कल्प (निर्युक्ति, भाष्य, टीका)	सम्पा., मुनि चतुर्विजय, पुण्यविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् 1990-98
58.	बृहद्द्रव्यसंग्रह	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, सन् 1989
59.	महाभारत - खिलभाग हरिवंश (हिन्दी टीका सहित)	गीता प्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2053
60.	मूलाचार (भाग 1-2)	भा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि.सं. 1977-80
61.	मूलाराधना (भगवती आराधना)	दि. जैन ग्रन्थमाला, कारंजा, सन् 1935
62.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	आचार्य कल्प, पं. टोडरमल ग्रन्थमाला, बापूनगर, जयपुर
63.	रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र)	स., पं. जुगलकिशोर, भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् 1925
64.	रत्नकरण्डकश्रावकाचार	श्री श्रुतसागर व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, पाटण, वि.सं. 2001
65.	राजप्रश्नीयसूत्रम्	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1981
66.	वसुनन्दिश्रावकाचार (आ. वसुनन्दि)	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि.सं. 2009
67.	विपाकसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1992
68.	विशेषावश्यकभाष्य	जैन सोसायटी, अहमदाबाद, सन् 1937
69.	विशेषावश्यकभाष्य	जैन देरासर चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई वि.सं. 2039
70.	व्यवहारसूत्र (निर्युक्ति तथा भाष्य सहित)	केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद, वि.सं. 1982-85

71.	व्यवहारभाष्य	सम्पा., मुनि माणक, केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर, वि.सं. 1994
72.	षट्खण्डागम (पुस्तक 1 धवला टीकासहित)	सम्पा., हीरालाल जैन, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय अमरावती, बरार, सन् 1939
73.	षट्खण्डागम (पुस्तक 4 धवला टीका सहित)	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् 1996
74.	षड्दर्शन समुच्चय	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 1981
75.	सन्मति प्रकरण (आ. सिद्धसेन)	संघवी सुखलाल एवं दोशी, बेचरदास, जीवराज ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, वि.सं. 2019
76.	सप्तभंगीतरंगिणी	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् 1916
77.	समयसार (कुंदकुंद)	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् 1932
78.	समवायांग (अभयदेव वृत्ति सहित)	आगमोदय समिति, सूरत, सन् 1991
79.	समवायांगसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1991
80.	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (उमास्वाति)	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, वी.नि.सं. 2432
81.	सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद)	सम्पा. शास्त्री फूलचन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 1991
82.	सावयपन्नती (हरिभद्र)	सम्पा. शास्त्री बालचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 1944
83.	सूत्रकृतांगसूत्र (भाग 1, 2)	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1982
84.	स्थानांगसूत्र	सम्पा., मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, सन् 1992
85.	स्याद्वादमंजरी (मल्लिषेण)	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, सन् 1992
86.	हरिवंशपुराण (जिनसेन)	सम्पा., जैन पन्नालाल, भारतीय ज्ञानपीठ, *काशी, सन् 1962*

खण्ड 'ग'- सहायक ग्रन्थ सूची (आधुनिक)

1. आचार्य तुलसी, जैन सिद्धान्त दीपिका, अणुव्रत समिति, जयपुर
2. कोठारी, सुभाष, उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, सन् 1988
3. खींचा, पारसमणि, जैन आगमों का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विवेचन, जन मंगल संस्थान, आर-61, ओटीएस, उदयपुर
4. चटर्जी एवं दत्ता, भारतीय दर्शन - पुस्तक भण्डार, पटना।
5. जैन, नरेन्द्र, करुणा का झरना, (वर्तमान युग में जैन दर्शन), प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
6. जैन, जगदीशचन्द्र, आगम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1965
7. जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1965
8. जैन, प्रेमसुमन, जैन धर्म और जीवन मूल्य, संघी प्रकाशन जयपुर, 1990
9. जैन, प्रेमसुमन, कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, वि.सं. 1975
10. जैन, महेन्द्र कुमार, जैन दर्शन, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् 1974
11. जैन, रमेशचन्द्र, अनेकान्त एवं स्याद्वादविमर्श, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, सन् 1996
12. जैन, लालचन्द, जैन दर्शन में आत्म विचार, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् 1984
13. जैन, सागरमल, जैन विद्या के विविध आयाम, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
14. जैन, सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन, प्राकृत भारती अकादमी
15. जैन, सुदर्शन लाल, उत्तराध्ययनसूत्र एक परिशीलन, सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, गुरुबाजार, अमृतसर, वि.स. 2037

16. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद भोपाल, सन् 1962

17. डागा, डॉ. तारा, प्राकृत साहित्य की रूप-रेखा, प्राकृत भारती अकादमी, 2006

18. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1986

19. दोशी, बेचरदास, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-1, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् 1966

20. पाण्डेय, हरिशंकर, प्राकृत एवं जैनागम साहित्य, श्री लक्ष्मी पब्लिकेशन आरा, सन् 2000

21. प्रेमी नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, सन् 1956

22. मसीह, याकुब, सामान्य धर्म दर्शन एवं दार्शनिक विश्लेषण, मोतीलाल बनारसीदास, 1997

23. मालवणिया पं. दलसुख, आगम युग का जैन दर्शन, प्राकृत भारती अकादमी, 1990

24. मालवणिया पं. दलसुख, जैनदर्शन का आदिकाल, एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, अहमदाबाद, वि.स. 2037

25. मुनि डॉ. नगराज, जैनागम दिग्दर्शन, प्राकृत भारती अकादमी, 1980

26. मुनि नथमल, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु, 1973

27. मुनि महेन्द्रकुमार (द्वितीय), विश्व प्रहेलिका, पं. जेठालाल एस. जवेरी, बम्बई, सन्, 1969

28. मुनि मिश्रीमल, कर्मग्रन्थ, मरुधर केसरी, साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर

29. मुनि त्रिलोक, जैनागम नवनीत (भाग 7), आगम नवनीत प्रकाशन समिति, सिरोही, सन् 1993

30. मेहता, मोहनलाल, जैन-दर्शन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् 1959

31. मेहता, मोहनलाल, जैन-धर्म दर्शन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1973

32.	मेहता, मोहनलाल,	जैन आचार, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1966
33.	लोढ़ा, कन्हैयालाल,	सकारात्मक अहिंसा, शास्त्रीय और चारित्रिक आधार, प्राकृत भारती अकादमी, 2004
34.	वर्णी, जिनेन्द्र,	जैन दर्शन में पदार्थ विज्ञान, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 1977
35.	शास्त्री, कैलाशचन्द्र,	जैन साहित्य का इतिहास (भाग 1), गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन, वाराणसी, वी. नि. स. 2502
36.	शास्त्री, कैलाशचन्द्र,	जैन धर्म, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, सन् 1955
37.	शास्त्री, देवेन्द्र मुनि,	जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, 1975
38.	शास्त्री, देवेन्द्र मुनि,	जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, सन् 1977
39.	शास्त्री, देवेन्द्र मुनि,	जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर सन् 1982
40.	शास्त्री, नेमिचन्द्र,	प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, सन् 1966
41.	संघवी, सुखलाल,	दर्शन और चिन्तन, सुखलाल जी सम्मान समिति, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् 1957
42.	साध्वी, चरणप्रभा,	पुराणों में जैन धर्म, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, सन् 2000
43.	साध्वी, संघमित्रा,	जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, सन् 1994
44.	साध्वी, डॉ. राजश्री,	आचारांग - शीलांक वृत्ति एक अध्ययन प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर 2001
45.	सूरि, हरिभद्र,	षड्दर्शन समुच्च, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, फरवरी 18, 1944

खण्ड 'घ' - कोश ग्रन्थ

1.	अभिधान राजेन्द्र कोश (सात खण्ड)	श्री राजेन्द्र सूरि जी रतलाम
2.	अर्द्धमागधीकोश (भाग 1-5)	(सं.) मुनि रत्नचन्द्र जी म.सा.

		रेसीडन्ट जनरल सेक्रेटरीज, बम्बई, सन् 1930
3.	आगमशब्दकोश	युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती लाडनूँ, सन् 1980
4.	एकार्थक कोश	(सं.) युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् 1984
5.	जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश (भाग 1-3)	जैनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1986
6.	नालन्दा विशाल शब्द सागर	(सं.) नवलजी, आदर्श बुक डिपो, दिल्ली
7.	निरुक्त कोश	(सं.) युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् 1984
8.	पाइअ-सद्द-महण्णवो	पं. हरगोविन्द दास, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, सन् 1963
9.	बृहत् हिन्दी कोश	(सं.) कालिका प्रसाद आदि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, वि. स. 2013
10.	संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी	मोनियर विल्सन, मुंशीराम मनोहर लाल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सन् 1981

खण्ड 'ङ' - शोध पत्र-पत्रिकाएँ

1.	अनेकान्त	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
2.	जिनवाणी	स. डॉ. धर्मचन्द्र जैन, सम्यग्ज्ञान, प्रचारक मण्डल, जयपुर
3.	जैन प्रकाश	स. जे. माणकचंद कोठारी, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन, कान्फ्रेंस, दिल्ली
4.	जैन भारती	श्री कन्हैयालाल छाजेड़, कलकत्ता
5.	जैन विद्या	स. डॉ० कमलचंद सोगानी आदि, जैन विद्या संस्थान, महावीर जी
6.	*तुलसी-प्रज्ञा*	स. शान्ता जैन, विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

7.	प्राकृत विद्या	स. डॉ. राजाराम जैन, श्री कुंदकुंद भारती ट्रस्ट, दिल्ली
8.	प्रेक्षा ध्यान	लाडनूं
9.	श्रमण	स. डॉ. शिवप्रसाद, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
10.	श्रमणोपासक	स. चम्पालाल डागा, श्री अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर
11.	सम्बोधि	एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद
12.	Jain Journal	Jain Bhawan, Publication, Calcutta

English

1.	Dr. Radhakrishnan	Indian Philosophy (Vol.1)-1929
2.	Hawking Stephen	A Brief History of Time, Bantam- 1988
3.	Sikdar. J.C.	Studies in Bhagvati Sutra, Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahinsa, Bihar, 1964
4.	Sogani K.C.	Ethical Doctrines in Jainism, Jain Sanskriti Samrakshka Sangha, Sholapur, 1967
5.	Tatia Nathmal	Studies in Jaina Philosophy, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951

शब्दानुक्रमणिका

अंग प्रविष्ट	12	अलोकाकाश	144
अंग बाह्य	12, 13	अवकाशान्तर	73
अंगार दोष	243	अवक्तव्य का स्थान	186
अक्रियावादी	213	अवगाहना	143
अक्षीणपरिभोजी	207	अवधिज्ञान	163
अक्षेत्रवान	80	अवमौदर्य	240
अचेतन	80	अवसर्पिणी	3
अजीव द्रव्य	81, 82, 116	अष्टचरम	208
अज्ञानवादी	213	असंसारसमापन्नक	101
अणुव्रत	265	असर्वगत	81
अतिमुक्त कुमार	47	अस्तिकाय	67
अधर्मास्तिकाय	137, 138	आकाश	142, 143
अधोलोक	69	आकाशास्तिकाय	142
अनशन	240	आगम	5-16
अनुभागबंध	285	आगमवाचनाएँ	9, 10, 11
अनुमान	168-170	आचारांग	19
अनुयोग	13	आजीविक	202
अनेकान्तवाद	173,175,176	आत्मा	85, 86
अन्तक्रिया	289	आभिनिबोधिकज्ञान	164
अन्तरकाल	128	आभियोगिक	212
अन्यतीर्थिक	212, 213	आराधना	229
अप्कायिक	102	आलोचना	233-235
अपर्याप्तक	111, 112	इत्वरिकअनशन	240
अपवर्तना	286	इन्द्रियां	99
अभिनिष्क्रमण	224	ईशानेन्द्र	47
अमूर्त	80	उत्तरगुणप्रत्याख्यान	273
अरिष्टनेमि	4	उत्तराध्ययन	23, 24
अर्धमागधी	12	उत्पाद	76, 77, 91

उत्सर्पिणी 3
उदायन 46, 47
उदीरणा 286
उद्वर्तना 286
उपमान 170, 171
उपयोग 86, 88
उपयोग-आत्मा 96
उरपरिसर्प 108
ऊर्ध्वलोक 70
ऋषभदेव 4
ऐर्यापथिक बंध 283
ओघादेश 195
औदयिक 95
औपशमिक 95
कर्म 277, 278
कर्मनिषेककाल 291
कर्मप्रकृति 290
कर्मबंध 279, 280, 282
कषाय-आत्मा 96
कांक्षामोहनीय कर्म 43, 292-294
कान्दर्पिक 212
कायक्लेश 245
काल द्रव्य 147-153
कालास्यवेशी 48
क्रिया 43, 284
क्रियावादी 213
क्रियावान 80
कुलकर 4, 50
कुशील 258
केवलज्ञान 164
क्षायिक 96
क्षायोपशमिक 96
क्षेत्रलोक 68, 69
क्षेत्रवान 80
गंध 119
गुण 77
गुणरत्नसंवत्सर 226, 254
गुणव्रत 266
गुप्ति 232, 233
गोशालक 46, 202, 209
चतुरिन्द्रिय 106
चतुष्पद 108
चारणलब्धि 60
चारित्र-आत्मा 97
चारित्र आराधना 230, 231
चेतन 80, 86
चेदा 87
जमालि 45, 201, 202
जयन्ती 48
जलचर 108
जागरिका 274
जीव 86, 87, 94
ज्ञाताधर्मकथा 22
ज्ञान 159
ज्ञानआत्मा 96
ज्ञान आराधना 229
ज्ञान-विभाजन 160-163
तप 22, 238, 239
तामली तापस 49
तियग्लोक 69
तीन अज्ञान 165
तीर्थंकर 3, 50
तेजकायिक 102

त्रस	102, 105	परमाणु	120,123,124
त्रीन्द्रिय	106	परमाणु बंध	129
थलचर	108	परिणामिक	96
दर्शन-आत्मा	97	परिमाण	93
दर्शन आराधना	230	परिवर्त्त परिहार	205, 207
दिक् (दिशा)	145, 146	परिव्राजक	209, 210
दिशाप्रोक्षण तापसचर्या	211	परिषह	250-252
देव	109, 110	परोक्षज्ञान	164, 165
देवानन्दा	48	पर्याप्तक	111
द्रव्य	76, 97	पर्याय	77
द्रव्य-आत्मा	96	पर्यायार्थिक नय	193
द्रव्यार्थिक नय	193, 194	पादपोपगमन मरण	256
द्वीन्द्रिय	106	पानक-अपानक	208
धर्मास्तिकाय	133	पार्श्वनाथ	4
धूम दोष	243	पार्श्वापत्यीय	200, 201
ध्यान	249	पुद्गल	116,117,118
ध्रौव्य	76, 77	पुद्गल परिवर्त्त	122, 123
नभचर	108	पुद्गली	99
नय	189, 190	पुनर्जन्म	287
निकाचन	286	पुलाक	258
निगोद	103	पूर्व	7
निमित्तवाद	208, 209	पृथ्वीकायिक	102
निराकारोपयोग	88, 159	पौषध	268
निर्ग्रंथ	258	प्रकृतिबंध	285
निर्जरा	288, 289	प्रज्ञापनासूत्र	23
निर्विकल्पक	165	प्रतिसंलीनता	246
नैरयिक	107	प्रतिसेवना	233
नैश्चयिक नय	195, 196	प्रत्यक्षज्ञान	163
पंच महाव्रत	231	प्रत्यक्ष प्रमाण	168
पंचविध व्यवहार	229	प्रत्याख्यान	271
पंचेन्द्रिय	106	प्रदेशबंध	285
पंडितमरण	256	प्रदेशार्थिक नय	194

प्रमाण	166	रस	119
प्राण	94	रसपरित्याग	245
प्रायश्चित	237, 238	लेश्या	291, 292
बकुश	258	लोक	66-68
बालमरण	255, 256	लोक-परिमाण	71, 72
भक्तप्रत्याख्यान मरण	256	लोकसंस्थान	70
भगवती	28	लोकस्थिति	70
भद्रबाहु	9	लोकाकाश	144
भाववान	80	वनस्पतिकायिक	103
भावार्थिक नय	193	वर्ण	119
भिक्षाचर्या	241, 242	वानप्रस्थ	210, 211
भिक्षु प्रतिमा	253, 254	वायुकायिक	103
भुजपरिसर्प	108	विज्ञ	94
भूत	4	विधानादेश	195
मंखलि	202, 207	विनय	247
मंगलाचरण	57	विनयवादी	214
मन	100	विभज्यवाद	176
मनःपर्यवज्ञान	164	वीर्य-आत्मा	97
मनुष्य	109	वेद	94
मरण	255, 256	वेदना	288
मल्लि	23	वैयावृत्य	248
महाबल	47	व्यय	76, 77, 91
महावीर	5, 22	व्यवदान	280
मुक्ति	290	व्यवसाय	167
मुद्गल परिव्राजक	48	व्यवहारिक नय	195
मूर्त	80	व्याख्याप्रज्ञप्ति	27, 28
मूलगुणप्रत्याख्यान	272	व्युत्सर्ग	249, 250
मेघकुमार	22	शतक	30, 31
यावत्कथिक अनशन	240	शमन	219
योग	283	शिक्षाव्रत	267
योग-आत्मा	96	शिवराजर्षि	46
रज्जु	72	श्रमण	218

श्रावक	262, 264	सात भंग	184
श्रुत	7	सान्निपातिक	96
श्रुत केवली	7	साम्परायिक बंध	283
श्रुत स्थविर	7	सिद्ध	101
संक्रमण	286	सुदर्शन	47
संयत	258, 259	सूत्रकृतांग	20
संयोजना दोष	243	सोमिल	48, 263
संलेखना	255, 271	स्कन्दक	49, 225
संसारसमापन्नक	101	स्कन्ध	120
संस्थान	119, 120	स्कन्धदेश	120
सत्	76, 77, 91	स्कन्धप्रदेश	120
सत्व	94	स्थानांग	21
सप्तभंगी	184	स्थावर	102, 104
समन	218	स्थूलभद्र	9, 10
समवायांग	21, 22	स्पर्श	119
समाचारी	235, 236	स्याद्वाद	182,183
समाधिमरण	257	स्वदेह परिमाण	90, 91
समिति	232	स्वाध्याय	21, 248, 249
सर्वगत	81	स्थितिबंध	285
सविकल्पक	165	हेतु	167
साकारोपयोग	88, 159		



पुस्तक परिचय

भगवतीसूत्र जैन आगम साहित्य के इतिहास का ऐसा चमकता नक्षत्र है जिसकी आभा द्रव्य-विज्ञान से आरम्भ होकर आचार आदि को आलोकित करती हुई विज्ञान की ओर अग्रसर हो जाती है। इस ग्रन्थ का मूल नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम वाला यह पंचम अंग ग्रन्थ जनसाधारण में अपनी पूज्यता व महत्ता के कारण ही भगवती के नाम से प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है जिसमें गौतम गणधर तथा अन्य जिज्ञासु शिष्यों द्वारा पूछे गये सहस्रों प्रश्नों के उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने स्वयं प्रदान कर उनकी जिज्ञासाओं को शांत करने का प्रयत्न किया है।

भगवतीसूत्र ज्ञान का ऐसा विश्वकोश है, जो अपने में समस्त विषयों को समाहित किये हुए है। आचार्यों ने इसे शास्त्रराज एवं ज्ञान का महासागर कहकर संबोधित किया है। प्रस्तुत कृति 'भगवतीसूत्र का दार्शनिक परिशीलन' इस विशालकाय ग्रन्थ के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने का एक छोटा सा प्रयास है।



प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
सोसायटी फॉर साइन्टिफिक एण्ड एथिकल लिविंग
13ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर

ISBN No. 978-93-81571-15-6